



संघ लोक सेवा आयोग (UPSC)

हिन्दी साहित्य

(अभ्यास प्रश्न व उनके मॉडल उत्तर)

प्रश्नपत्र-2



641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009

दूरभाष : 011-47532596, 87501 87501

टोल फ्री : 1800-121-6260

Web : www.drishtiIAS.com

E-mail : online@groupdrishti.com

पाठ्यक्रम, नोट्स तथा वेब संबंधी updates निरंतर पाने के लिये निम्नलिखित पेज को "like" करें



www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

www.twitter.com/drishtiiias



प्रिय अभ्यर्थियो,

सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी के इच्छुक अभ्यर्थियों द्वारा परीक्षोपयोगी अध्ययन-सामग्री की भारी मांग को देखते हुए हमने एक दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम (Distance Learning Programme) तैयार किया है। हमारे इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य ऐसे अभ्यर्थियों को घर बैठे उनकी आवश्यकता की संपूर्ण अध्ययन-सामग्री उपलब्ध कराना है, जो व्यक्तिगत, आर्थिक या किन्हीं अन्य कारणों से दिल्ली आकर कोचिंग नहीं ले सकते।

सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी करने वाले अभ्यर्थियों के बीच संस्थान के तौर पर 'दृष्टि' सर्वाधिक लोकप्रिय संस्थान है और इसका कारण 'दृष्टि' का परीक्षोन्मुखी एवं परिणाम-केंद्रित दृष्टिकोण व सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी के क्षेत्र में कार्यरत देश के सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों एवं विषय-वस्तु लेखकों की टीम और सक्षम प्रबंधन व्यवस्था है।

लेकिन ऐसे अभ्यर्थी जो दिल्ली आकर 'दृष्टि' के नियमित कक्षा कार्यक्रम का हिस्सा नहीं बन सकते, वे हमारे शिक्षण एवं हमारी अध्ययन-सामग्री से वंचित रह जाते हैं। इसलिये ऐसे अभ्यर्थियों की भारी मांग एवं सुझावों के बाद 'दृष्टि' प्रबंधन ने इन अभ्यर्थियों की सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी में मदद करने के लिये परीक्षोन्मुखी कार्यक्रम तैयार किया है।

इस कार्यक्रम के अंतर्गत इच्छुक अभ्यर्थियों को निम्नलिखित खंडों पर अध्ययन-सामग्री उपलब्ध कराई जाएगी—

● वैकल्पिक विषय:

- ◆ हिंदी साहित्य
- ◆ दर्शनशास्त्र
- ◆ इतिहास
- ◆ भूगोल

● सामान्य अध्ययन

- ◆ सामान्य अध्ययन (प्रारंभिक-सह-मुख्य परीक्षा)
- ◆ सीसैट (प्रारंभिक परीक्षा, द्वितीय प्रश्नपत्र)
- ◆ सामान्य अध्ययन प्रश्नपत्र के प्रारंभिक परीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण अध्यायवार (Topic-wise) वैकल्पिक प्रश्न एवं उनके उत्तर
- ◆ सामान्य अध्ययन प्रश्नपत्र के मुख्य परीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रश्नों के आदर्श उत्तर (Model Answers)
- ◆ समसामयिक मुद्दों (Current Affairs) के लिये दृष्टि संस्थान की मासिक पत्रिका 'दृष्टि करंट अफेयर्स टुडे'
- ◆ मध्य प्रदेश पी.सी.एस.
- ◆ राजस्थान पी.सी.एस. (आर.ए.एस./आर.टी.एस.)
- ◆ बिहार पी.सी.एस.
- ◆ उत्तराखंड पी.सी.एस.

खण्ड-क

1. कबीर	5-12
2. जायसी	12-16
3. सूरदास	16-23
4. तुलसीदास	23-28
5. बिहारी	28-33
6. भारत-भारती	33-34
7. राम की शक्तिपूजा	34-41
8. कामायनी	41-44
9. कुरुक्षेत्र	44-46
10. असाध्य वीणा	46-51
11. ब्रह्मराक्षस	51-54
12. हरिजन गाथा, बादल को घिरते देखा है, अकाल और उसके बाद	54-58
व्याख्या- भाग	58-92

खण्ड-ख

13. गोदान	92-100
14. दिव्या	100-105
15. मैला आँचल	106-111
16. महाभोज	111-113

17. प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ	113-116
18. एक दुनिया समानांतर	116-120
19. भारत दुर्दशा	120-123
20. स्कन्दगुप्त	123-129
21. आषाढ़ का एक दिन	129-134
22. चिंतामणि	134-139
23. निबंध निलय	139-146
व्याख्या- भाग	146-172

कबीर

प्रश्न: 'कबीर एक महान संत और समाज-सुधारक ही नहीं, अद्वितीय कवि भी हैं।' इस कथन के परिप्रेक्ष्य में उन विशेषताओं का निर्देश कीजिए जो कबीर के काव्य की अद्वितीयता के कारण हैं। (300 शब्द)

उत्तर: कबीर एक साथ एक महान संत, समाज सुधारक और अद्वितीय कवि हैं। शुक्ल जी ने उन्हें मूलतः उपदेशक माना है जो ठोक-पीटकर कवि हो गए हैं तो द्विवेदी जी ने उनके भक्त रूप पर बल दिया है और उनके व्यक्तित्व के अन्य सभी पक्षों को 'घलुआ' मात्र माना है। अभी हाल ही में डॉ. धर्मवीर ने कबीर को समाज सुधारक के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। कबीर का मूल व्यक्तित्व कुछ भी हो उनके काव्य की श्रेष्ठता में कोई संदेह नहीं और कई मायनों में तो यह अद्वितीय है। कबीर के काव्य में साफगोई, क्रांतिकारी तेवर, भावनात्मक रहस्यवाद की तड़प, भाषा की सरलता और विविध काव्य विषयों की एक-साथ उपस्थिति इसे अद्वितीय बनाती है।

कबीर की साधनात्मक रहस्यवाद की कविताएँ उच्च कोटि की नहीं कही जा सकतीं परंतु भावनात्मक रहस्यवाद की कविताओं में मिलन की जो तड़प दिखती है वह अद्वितीय है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है:

तलफै बिन बालम मोर जिया।

दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ कै भौर किया॥

सूफियाना भाव की ऐसी कविताएँ भावना की चरम तन्मयता को छूती हैं। कबीर यदि भक्त के रूप में लीन होकर मिलन व विरह के भावों को अपनी वाणी में संजोते हैं तो दूसरी ओर उनका एक समाज सुधारक और उपदेशक का रूप भी है जो समाज की समस्याओं की खबर आक्रामक होकर लेता है। कबीर की कविता में यह आक्रामकता उनकी गहन प्रतिबद्धता से उपजी है। वे स्वयं कहते हैं:

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।

अब घर जारों तासु का जो चले हमारे साथ॥

घरफूंक साहस से उत्पन्न यह आक्रामकता कबीर की वाणी को वह धार देती है जो समाज में कुरीतियों और शास्त्रवाद के मकड़जाल को काट सके और सांप्रदायिकता पर चोट कर सके।

खास बात ये है कि कबीर की सारी आक्रामकता बेहद सरल और सहज भाषा में (उलटबांसियों तथा साधनात्मक रहस्यवाद से जुड़ी कविताओं को छोड़कर) अभिव्यक्त हुई है। उनका शब्द चयन भी बेहद सटीक है।

ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय।

औरन को शीतल करे आपहुं शीतल होय॥

कबीर सचेत कवि नहीं थे उन्होंने कहा भी है 'जिन तुम जान्यो गीति हैं, वह निज ब्रह्म विचार'। इसलिए काव्य-शास्त्रीय पैमाने पर उन्हें कई बार कमतर आका गया है। किंतु यदि यह माना जाए कि कविता के अनुसार प्रतिमान होने चाहिए न कि प्रतिमानों के अनुसार कविता तो हम पाते हैं कि कबीर की कविताएँ किसी महाकवि की अद्वितीय कविताएँ ही हैं। सामाजिक कविताओं में उनकी व्यंग्य क्षमता उन्हें हिन्दी साहित्य में सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है तो ईश्वर मिलन से संबंधित कविताओं की मधुरता और भावुकता बिहारी जैसे शृंगारिक कवियों की कविताओं पर भी भारी पड़ती है। शिल्प की दृष्टि से देखें तो वे वाणी के डिक्टेटर हैं ही।

प्रश्न: कबीर के काव्य में निहित रहस्यवाद के प्रेममूलक, साधनामूलक एवं अभिव्यक्तिमूलक रूप पर प्रकाश डालिए। (300 शब्द)

उत्तर: रहस्यवाद कबीर के काव्य की महत्वपूर्ण विशेषता है। उनके काव्य में रहस्यवाद के तीन रूप दिखाई देते हैं-

1. प्रेममूलक रहस्यवाद

2. साधनामूलक रहस्यवाद

3. अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद

कबीर को प्रेममूलक रहस्यवाद में भारतीय भक्ति का भी पुट है और सूफी प्रेमतत्व का भी। निर्गुण ब्रह्म के प्रति रति-भावना ने ही कबीर की वाणी को रहस्यवादी रूप दिया है जिसमें गंभीरतम आसक्ति प्रकट हुई है-

"हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।

राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥"

कबीर की रहस्यवादी भावाभिव्यंजन में दाम्पत्य भाव का जो स्वरूप मिलता है उसमें संयोग और वियोग दोनों पक्ष बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। संयोग के उल्लास का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

"दुलहनी गावहु मंगलचार,

हम घरि आये हो राजा राम भरतार।"

कबीर की रहस्य-साधना का दूसरा स्वरूप योगपरक है। यहाँ वे प्रिय को विविध हठयोगी साधनाओं से प्राप्त करने का उपक्रम करते हैं। इस साधना पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव दिखाई देता है। किन्तु सिद्धों और नाथों ने योग के कायिक पक्ष को ही विशेष महत्व दिया लेकिन कबीर ने योग के मानसिक पक्ष को प्रधानता देकर उसको आध्यात्मिक पक्ष से संपृक्त किया। कबीर के रहस्यवाद के इस रूप में चंद, सूर, नाद, बिंदु जैसे पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। इस साधनात्मक योगमूलक रहस्यवाद का भी प्रेममूलक रहस्यवाद के समान ही मिलनावस्था तक पूर्ण विकास होता है। मिलन का वर्णन भी कबीर ने साधनात्मक प्रतीकों द्वारा ही किया है-

"मानसरोवर सुभग जल, हंसा केलि कराहिं।

मुक्ताहल मुगता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं।

इस रहस्यवाद में कबीर ने षट्चक्र, नौ द्वार, पंच चोर, ईड़ा-पिंगला, सुषुम्णा, सहस्रार आदि के वर्णन किए हैं।

कबीर में तीसरे प्रकार का जो रहस्यवाद प्राप्त होता है वह अभिव्यक्तिमूलक है। यह भी सिद्धों, योगियों की संधा भाषा के अनुकरण पर उलटवासियों में लिखा गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

समंदर लागी आगि, नदियां जलि कोयला भई।

देखि कबीरा आगि, मंछी रूषां चढ़ि गई।

अपनी अभिव्यक्ति में सामान्यतया कबीर ने निश्चित प्रतीकों का प्रयोग किया है। चौंसठ दीया, चौदह चन्दा, सोलह पवन आदि शब्दों में नियत अर्थ निहित हैं और संख्या शीघ्र ही हमें अर्थ तक पहुँचाती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर की रहस्योक्तियाँ रहस्यवाद की किसी एक कोटि में नहीं रखी जा सकतीं क्योंकि उन्होंने सत्य को हर पहलू से देखने और पकड़ने का उपक्रम किया है। इसी चेष्टा ने उनकी वाणी में रहस्यवाद की अनेक कोटियाँ प्रस्तुत कर दी हैं।

प्रश्न: कबीर की भक्ति-भावना का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: कबीर की साधना पद्धति संश्लिष्ट है जो योग, ज्ञान और भक्ति सभी मार्गों से गुज़रती है। तब भी, यह निश्चित है कि कबीर का मूल व्यक्तित्व भक्त का व्यक्तित्व है, योगी या ज्ञानी का नहीं। ईश्वर के प्रति उनकी सबसे गहरी तन्मयता उन्हीं क्षणों में दिखती है जब वे भक्ति की अतल गहराइयों में डूबे होते हैं और ईश्वर के साथ भावनात्मक ऐक्य की अनुभूति कर रहे होते हैं। कबीर की भक्ति की विशिष्टता यह है कि यह परंपरागत भक्ति पद्धति का अंधानुकरण नहीं है, निजी अनुभूतियों के आधार पर किए गए बहुत से साहसिक प्रयोगों का परिणाम है जो तत्कालीन सभी साधना पद्धतियों और दार्शनिक विचारधाराओं के समन्वय से निर्मित हुई है।

कबीर की भक्ति का दार्शनिक आधार मूलतः अद्वैतवाद का है। ब्रह्म के निर्गुणत्व की धारणा, जगत के मिथ्यात्व और ब्रह्म-जीव-एकत्व जैसे विचार उन्हें शंकर से मिले हैं।

कबीर की भक्ति पर नाथपंथियों की अस्खडता और अमायिकता का भी गहरा प्रभाव नज़र आता है। कबीर के समय भक्ति का रास्ता अत्यंत सरल था। कबीर को यह बात नहीं पची, इसलिए उन्होंने इस रास्ते पर चलने वालों से गहरी प्रतिबद्धता की मांग की-

“कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।

सीस उतारै हाथ करि, सो पैसे घर माहिं॥”

कबीर की भक्ति में चरम तन्मयता का भाव उन बिन्दुओं पर नज़र आता है जब वे सूफ़ियों के तसव्वुफ़ दर्शन पर आधारित भावनात्मक रहस्यवाद की स्थिति में होते हैं। ईश्वर के विरह की सूफ़ियाना तड़प और ईश्वर के मिलन की स्थिति में ‘हाल’ की मस्ती- ये सब अनुभूतियाँ सूफ़ियों के प्रभाव से कबीर की कविता में दिखती हैं। उदाहरण के लिए-

“तलफै बिनु बालम मोर जिया।

दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ कै भोर किया॥”

कबीर की भक्ति वैष्णव परंपरा से भी प्रभावित है। वह वैष्णव परंपरा से सगुण और अवतारी ईश्वर का विचार चाहे स्वीकार न करे, गुरु भक्ति, विनम्रता, शरणागति, जीव मात्र के प्रति करुणा का भाव और प्रपत्ति जैसे तत्व ज़रूर आत्मसात् करती है।

सामान्यतः किसी कवि की भक्ति की पहचान इस बात से की जाती है कि वह भक्ति के विभिन्न साधनों, जिन्हें सम्मिलित रूप से ‘नवधा भक्ति’ कहा जाता है, में से किनका प्रयोग करता है। कबीर ने नवधा भक्ति के लगभग सभी स्तरों को छुआ है किन्तु उनकी सबसे सुंदर कविताएँ वे हैं जहाँ वे दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन के बिन्दु पर होते हैं। उदाहरण के लिए-

“मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर,

तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोरा।”

(वैष्णव दर्शन के प्रपत्तिवाद का प्रभाव)

स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति बहुआयामी है। वे किसी भी प्रदत्त मार्ग को पूर्णतः नहीं स्वीकारते, उसे अपनी अनुभूतियों से तौल कर अंशतः ही स्वीकार करते हैं। इसी क्रांतिकारी व्यक्तित्व का परिणाम है कि उनकी भक्ति में न सिर्फ तत्कालीन भक्ति परंपरा के विविध पक्ष शामिल हुए हैं बल्कि योग और ज्ञान जैसे विरोधी प्रतीत होने वाले मार्ग भी संश्लिष्ट हो गए हैं।

प्रश्न: कबीर के दर्शन पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए उसकी प्रासंगिकता पर विचार कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: कबीर मूलतः भक्त हैं, दार्शनिक नहीं। वे साक्षर भी नहीं थे कि विभिन्न दर्शन ग्रंथ पढ़ सकें। किंतु, वे बहुश्रुत थे और उन्होंने विभिन्न दर्शन-सरणियों को पर्याप्त मात्रा में सुना था। उनके पास कोई निश्चित और पूर्व निर्धारित दार्शनिक सिद्धांत नहीं था। उन्होंने विभिन्न स्रोतों से विभिन्न विचारों को ग्रहण किया। उन पर भारतीय औपनिषदिक चिंतन, शंकर के अद्वैतवाद, नाथपंथियों की योग-साधना, सूफ़ियों के भावनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों की जीवन दृष्टि का प्रभाव पड़ा। ब्रह्म, आत्मा, शरीर, जगत आदि विभिन्न सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में उनके दर्शन का विवेचन किया जा सकता है।

ब्रह्म

ब्रह्म के संदर्भ में कबीर की दृष्टि मूलतः अद्वैतवादी है जिसके अनुसार ब्रह्म एक है और वही सत् है। कुछ आलोचकों ने कबीर के ब्रह्म विचार पर शंकर के अद्वैतवाद तथा इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव माना है। सच यह है कि कबीर के एकेश्वरवाद पर शंकर का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। इसका प्रमाण यह है कि इस्लामी एकेश्वरवाद में जगत को सत् माना गया है जबकि शंकर के अद्वैतवाद की तरह कबीर ने जगत् को मिथ्या माना है-

“रहना नहीं देस बिराना है।

यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुलि जाना है॥”

कबीर का ब्रह्म निर्गुण है। यह अवतारवादी सिद्धांतों पर आधारित सगुण ईश्वर नहीं है। उन्होंने सगुणता का सायास खंडन भी किया है।

“दसरत सुत तिहुँ लोक बखाना।

राम नाम का मरम है आना॥”

आत्मा

कबीर ने अद्वैतवाद के सिद्धांत को स्वीकार करते हुए माना कि ब्रह्म और आत्मा एक हैं। आत्मा नित्य तथा पारमार्थिक सत्ता है। जीव पर माया का आवरण होने के कारण उसे आत्मा और ब्रह्म में अंतर प्रतीत होता है। ज्ञान होने पर वह माया के आवरण से मुक्त हो जाता है। इसलिए वे स्पष्ट कहते हैं-

“जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी।

फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, इहै तथ कहै गियानी॥”

शरीर

शरीर के संबंध में कबीर का मत गीता दर्शन से मेल खाता है। वे मानते हैं कि शरीर पंचतत्त्वों से निर्मित है जिसमें तीन गुणों-सत्व, रजस् तथा तमस् का समावेश है। इसकी भूमिका वही है जो ‘आत्मा का वस्त्र’ कहकर व्यक्त की जाती है। वे मानते हैं कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। वे कहते हैं-

“जो ऊग्या सो आथवै, फूल्या सो कुमिलाई।

जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाई॥”

जगत

जगत संबंधी दृष्टि में कबीर अद्वैतवेदांत के ज़्यादा निकट हैं क्योंकि उन्होंने बार-बार जगत की निस्सारता पर बल दिया है। वे शंकर की तरह जगत को ब्रह्म का विवर्त या आभास मानते हैं। उनका प्रसिद्ध कथन है-

“झूठे झूठ रह्यो उरझाई, साँचा अलख जग लखा न जाई॥”

माया

कबीर ने माया की व्याख्या अद्वैतवादी दृष्टिकोण से की है और उसे साधक को दिग्भ्रमित करने वाली दुष्ट शक्ति के रूप में परिभाषित किया है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि कबीर ने किसी स्वतंत्र दार्शनिक चिंतन का सूत्रपात नहीं किया, लेकिन वे अपनी दार्शनिक चेतना को अलग-अलग स्रोतों से ग्रहण करते हुए उस पर अपनी अनुभूति की मुहर लगाते हैं। कबीर का दर्शन पाठक को तटस्थ ज्ञान की शुष्कता में नहीं छोड़ता, बल्कि वह जीवन के नितांत आत्मीय और जीवंत प्रसंगों के संसार में ले जाता है। ब्रह्म, जीवन-मृत्यु, जगत और माया कबीर के दर्शन में मात्र शब्द नहीं हैं, अपितु अनुभव के जीवंत प्रसंग हैं जिनके माध्यम से कबीर सत्य की उपलब्धि करते हैं और साथ ही साथ असत्य की छाया से पाठक को आगाह करते हैं। दर्शन कबीर के यहाँ उद्देश्य नहीं है वरन् भक्ति का साधन है। इस रूप में वह पर्याप्त भी है और प्रासंगिक भी।

प्रश्न: ‘कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई है।’ इस कथन के परिप्रेक्ष्य में कबीर के काव्य की विवेचना कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: कबीर की साधना पद्धति सरिलिप्त है जिसकी शुरुआत योगमार्ग से हुई, जिसने कहीं-कहीं ज्ञानमार्ग को छुआ और अंततः भक्तिमार्ग में पर्यवसित हुई। साधना पद्धति में निहित इसी गतिशीलता को इंगित करते हुए आचार्य द्विवेदी ने अपनी पुस्तक ‘कबीर’ में लिखा है कि “कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई है।”

कबीर का समय धर्म साधना के क्षेत्र में योग और भक्ति के चरम संघर्ष का समय है। भक्ति में भावना पर बल था जबकि योग में साधना पर; भक्ति में दैन्य और विनय की ज़रूरत पड़ती थी जबकि योग में प्रचंड आत्मविश्वास की; भक्तों

में आवेग और सहृदयता का अतिरेक दिखता था तो योगियों में अक्खड़ता और अमायिकता कूट-कूट कर भरी थी; भक्त लोग योगमार्ग को कठोर और निरर्थक समझते थे जबकि योगी प्रेम या भक्ति को दुर्बलता का प्रतीक समझकर उसका उपहास करते थे।

कबीर की परवरिश योग परंपरा के माहौल में हुई, इसलिए स्वाभाविक था कि वे अपने आरंभिक जीवन में योग से प्रभावित हों। चूँकि कबीर बुनियादी तौर पर अनुभूतिशील व्यक्ति थे इसलिए योगमार्ग की यांत्रिक पद्धतियाँ उन्हें बहुत दूर तक संतुष्ट नहीं कर सकती थीं।

योग परंपरा से निराश होने पर उन्होंने योगियों की साधना प्रक्रिया पर सवाल खड़ा किया-

“गगना पवना दोनों बिनसैं, कहँ गया जोग तुम्हारा।”

इसी बिंदु पर कबीर ने भक्ति का दामन थामा-

“पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झख मारि।”

कबीर ने योग और भक्ति की परंपराओं में गहरा संश्लेषण किया है। जो परंपराएँ पूर्णतः एक दूसरे के विपरीत नज़र आती थीं, उनके तत्वों को कबीर ने इतनी गहराई से मिलाया कि दोनों एक ही हो गई।

योगी परम तत्व को भीतर मानते थे, भक्त मानते थे जबकि भक्त मानते थे कि ईश्वर हमसे पृथक् है और ईश्वर व भक्त में द्वैत होना ज़रूरी है। कबीर ने दोनों तत्वों को मिलाते हुए दावा किया कि परमतत्व भीतर भी है और बाहर भी-

“बाहर भीतर सकल निरंतर, गुरु परतापै दीठा लौं॥”

कबीर योग के भीतर भी प्रेम को शामिल करना चाहते थे इसलिए उन्होंने दावा किया कि यदि ईश्वर भीतर भी है तो वह प्रेम का विषय बन सकता है-

“जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-बदर फिरते।

हमारा यार है हममें, हमन को इंतज़ारी क्या॥”

कबीर ने भक्ति में निहित प्रेम और अनुभूति के तत्व को तो स्वीकार किया किन्तु इस सरलता या कमजोरी को नहीं। उन्होंने भक्तिमार्ग के भीतर योगियों वाली अक्खड़ता और आक्रामकता को समाविष्ट कर दिया और प्रचंड आत्मविश्वास से कहा-

“कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं,

सीस उतारै हाथ करि, साँ घर पैसे माहिं।”

स्पष्ट है कि योग और भक्ति जैसे विरुद्ध प्रतीत होने वाले मार्ग उनकी संश्लिष्ट साधना पद्धति में घुलकर यूँ एक हो गए हैं कि आलोचक इस रास्ते को ‘भक्ति-योग’ कहकर ही संतुष्ट हो पाते हैं।

प्रश्न: कबीर की भाषा की काव्यात्मकता पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी आलोचना में कबीर की भाषा के काव्यगत औचित्य पर विवाद की स्थिति है। आभिजात्य दृष्टिकोण से परीक्षा करने पर जहाँ कबीर की भाषा अकाव्योचित प्रतीत होती है वहीं लोकवादी दृष्टिकोण से देखने पर कबीर ‘भाषा के बादशाह’ नज़र आने लगते हैं। आचार्य शुक्ल कबीर की भाषा को ‘सधुक्कड़ी’ कहते हुए खरिज करते नज़र आते हैं तो आचार्य द्विवेदी कबीर की भाषा का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं कि “भाषा पर कबीर का ज़बरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे।”

कबीरदास की भाषा में सबसे बड़ी गुण है-संदर्भ विशेष में सटीक शब्द-प्रयोग की क्षमता। उदाहरणस्वरूप-

“मैं तो कृता राम का, मुतिया मेरा नाउँ, /

गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउँ।”

कबीर की भाषा की दूसरी सबसे बड़ी शक्ति है उनकी व्यंग्य क्षमता। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

“काँकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लइ बनाया। /

तौ चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाया।”

ऐसा नहीं कि कबीर सिर्फ आक्रामकता के कवि हैं। कबीर ईश्वर के विरह और मिलन के प्रसंगों में सूफियाना भावों से इस कदर भर उठते हैं कि उसकी भाषा शृंगार रस और माधुर्य गुण के बड़े-बड़े कवियों को पछाड़ देती है। इस संदर्भ में निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

“तलफै बिन बालम मोर जिया, / दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ के भोर किया।”

निःसंदेह निरक्षरता एवं मूलतः कवि न होकर भक्त होने के कारण कबीर की काव्य-भाषा में काव्य के शोभाकारक धर्मो-अलंकार, प्रतीक, बिम्ब, संगीतात्मकता आदि की उपस्थिति कम है, किन्तु, इसके बावजूद कबीर की भाषा इन गुणों से वंचित नहीं है। प्रतीकों और अलंकारों के असंख्य उदाहरण उनकी कविताओं में भरे हैं।

स्पष्ट है कि साहित्यिक व सुसंस्कृत भाषा के प्रति बेरुखी के बावजूद कबीर की भाषा असाहित्यिक या अकाव्योचित नहीं है। हठयोग से संबंधित प्रसंगों में उनकी भाषा ज़रूर अप्रतीतत्व तथा क्लिष्टत्व दोषों से युक्त है किन्तु वह उनकी कविता का अत्यंत सीमित अंश है। उनके समग्र काव्य को देखें तो यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि वे साहित्य में आभिजात्य भाषा के बरक्स लोक-भाषा की परंपरा के ध्वजवाहक हैं।

प्रश्न: कबीर के प्रतीक-विधान पर प्रकाश डालिये।

(300 शब्द)

उत्तर: प्रतीकात्मकता कविता की महत्वपूर्ण विशेषता है। भक्तिकालीन संतकाव्यधारा के प्रतिनिधि कवि कबीर ने भी अपने काव्य में प्रतीकों का प्रयोग किया है। विशेषकर, आध्यात्मिक प्रेम वर्णन में, सांसारिकता की क्षणभंगुरता के निरूपण में तथा माया-वर्णन में उन्होंने प्रतीकों का काफी प्रयोग किया है। ये प्रतीक कबीर की गहरी जीवनानुभूति, चिंतन-मनन तथा रचनात्मक अभिव्यक्ति-क्षमता के प्रमाण हैं।

प्रेम-वर्णन में कबीर ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है, वे व्यापक जीवन क्षेत्र से लिये गए हैं। साथ ही ये प्रतीक अत्यंत माधुर्यपूर्ण एवं अर्थगर्भी भी हैं। उदाहरणस्वरूप निम्नांकित पद द्रष्टव्य है, जिसमें कबीर ने दाम्पत्य प्रेम के प्रतीक के माध्यम से जीवात्मा की कातरता और पुकार को व्यंजित किया है-

“बालम आउ हमारे गेह रे। / तुम्ह बिन दुखिया देह रे।”

कबीर ने वेदना की विवृति के लिये क्रौंच, चक्रवाक, पपीहा आदि काव्य-परंपरा में अत्यंत प्रसिद्ध रहे प्रतीकों का प्रयोग किया है।

प्रतीक-विधान के धरातल पर कबीर की काव्यात्मकता का उत्कर्ष ऐसे स्थलों पर दिखाई देता है जहाँ उन्होंने भावों की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति के लिये एक साथ कई प्रतीकों का प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप-

“रैन गई मत दिनु भी जाइ। / भँवर उड़े बग बैठे आई॥

थरहर कपै बाला जीउ, नां जानौ क्या करिहै पीउ। / कांचे करवै रहे न पानी, हंस उड़ा काया कुम्हिलानी॥”

यहाँ ‘रैन’ युवावस्था का, ‘दिन’ अनुभव की प्रौढ़ावस्था का, ‘भँवर’ काले केशों का, ‘बग’ श्वेत केशों का और ‘हंस’ जीवात्मा का प्रतीक है। ‘थरहर कपै बाला जीउ’ मुग्धा नववधू का व्यंजक है।

कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम में विरह की अतिशयता की व्यंजना के लिये मुख्य रूप से तीन प्रतीक चुने हैं- सती, शूरत्व और रसायन। इनके अतिरिक्त उनके काव्य में काल या मृत्यु संबंधी प्रतीकों, दैनिक जीवन के प्रतीकों, पारिवारिक- सामाजिक संबंधों के प्रतीकों, संख्यावाची प्रतीकों आदि का प्रयोग हुआ है। अमानवीय संसार से लिये गए प्रतीकों में पशु-पक्षियों को लिया गया है। उदाहरणार्थ काग तृष्णा का, खग आत्मा का, कबूतर मोह का प्रतीक है।

समग्रतः हम कह सकते हैं कि कबीर का प्रतीक-विधान लोकजीवन से निर्मित हुआ है। यह जीवन से उनके गहरे जुड़ाव तथा उनकी काव्यात्मक क्षमता, दोनों का परिचायक है।

प्रश्न: वर्तमान समय में कबीर की प्रासंगिकता को रेखांकित कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: अपने युग के साथ भक्तिकालीन संत कवि कबीर का रचनात्मक संवाद आज की जीवन स्थितियों में भी प्रासंगिक बना हुआ है क्योंकि, इस संवाद में कबीर ने जिन मूल्यों एवं प्रश्नों को उठाया है वे वर्तमान सभ्यता एवं समाज के संकटों की भी पहचान करने में मदद देते हैं और आधुनिक मनुष्य को एक बेहतर विकल्प की तलाश के लिए प्रेरित करते हैं।

कबीर की स्पष्ट घोषणा है- 'मैं कहता हूँ आँखन देखी'। रचना की यह अनुभव केंद्रीयता हमारे समय की सबसे मूल्यवान धरोहर है। आज जीवन के प्रत्येक स्तर पर सूचना की प्रधानता हो गई है। अनुभव का संकुचन संस्कृति के संकुचन का संकट है। कबीर की कविता वर्तमान के सूचनातंत्र की निस्सारता को उजागर करती है।

कबीर की कविता आज की दुनिया में मूल्य-चिन्ता की अनुपस्थिति को भी रेखांकित करती है। आज के बाह्य चकाचौंध से भरी एवं स्वकेन्द्रित समाज में मूल्य-चिन्ता का गहरा अभाव है। विवेक एवं दुःख से ही मूल्य-चिन्ता उपजती है। कबीर में यह बोध उपस्थित है-

सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै।

दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै॥

कबीर की कविता अपने समय के मूल संकट की पहचान करती है। विराट के लोप के कारण संबंध एवं आचरण के धरातल पर अंधता एवं कोलाहल दिखायी देता है। अतः कबीर विराट के महत्व को रेखांकित करते हैं। विराट से विच्छिन्नता के परिणामस्वरूप ही क्षुद्रताओं का उदय होता है। आज भी बाजार व्यवस्था की क्षुद्रताओं के कारण राष्ट्र, मानवता, सामाजिकता जैसी बड़ी चीजों का बोध खत्म होता जा रहा है। कबीर की कविता इन क्षुद्रताओं को पहचानने की शक्ति देती है।

कबीर की कविता, अन्तर्वस्तु एवं भाषा के धरातल पर मध्यकाल के आभिजात्यता के दुर्ग को तोड़ती है। वह संबंधों एवं भाषा के स्तर पर सहजता पर बल देती है। मध्यकाल में धर्म का कर्मकांडीय स्वरूप, बाह्यवादी वर्ण-व्यवस्था एवं विलासिता आभिजात्यता के लक्षण थे। आज भी नए रूपों में ये समकालीन संकट बने हुए हैं। कबीर की कविता इनसे मुठभेड़ करती आज भी दिखायी देती है।

कबीर के काव्य की प्रासंगिकता भाषा के स्तर पर भी है। आज भाषा की अप्रमाणिकता मनुष्यता एवं सभ्यता के प्रति सबसे बड़ा संकट है। आज की समृद्धी सभ्यता बाजार एवं राजनीति की चरित्रहीन भाषा में फँसी हुई है। ऐसे में कबीर की भाषिक चेतना अपना प्रतिमान रखती है-वह है भाषा का इकहरापन।

इस तरह सर्वधर्म समभाव, समदृष्टि, अपरिग्रह, कर्मयोग तथा दया आदि मानवीय गुण कबीर के मूल मंत्र हैं जो परम्परागत समाज ही नहीं, प्रबुद्ध और प्रगतिवादी समाज के लिए भी इतने सार्थक हैं कि उनके कभी भी अप्रासंगिक होने का प्रश्न नहीं उठता।

प्रश्न: कबीर की प्रतीक-योजना के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।

(300 शब्द)

उत्तर: प्रतीकात्मकता कविता की महत्वपूर्ण विशेषता है। भक्तिकालीन संतकाव्यधारा के प्रतिनिधि कवि कबीर ने भी अपने काव्य में प्रतीकों का प्रयोग किया है। विशेषकर, आध्यात्मिक प्रेम वर्णन में, सांसारिकता की क्षणभंगुरता के निरूपण में तथा माया-वर्णन में उन्होंने प्रतीकों का काफी प्रयोग किया है। ये प्रतीक कबीर की गहरी जीवनानुभूति, चिंतन-मनन तथा रचनात्मक अभिव्यक्ति-क्षमता के प्रमाण हैं।

प्रेम-वर्णन में कबीर ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है, वे व्यापक जीवन क्षेत्र से लिये गए हैं। साथ ही ये प्रतीक अत्यंत माधुर्यपूर्ण एवं अर्थगर्भी भी हैं। उदाहरणस्वरूप निम्नांकित पद द्रष्टव्य है, जिसमें कबीर ने दाम्पत्य प्रेम के प्रतीक के माध्यम से जीवात्मा की कातरता और पुकार को व्यंजित किया है-

“बालम आउ हमारे गेह रे। / तुम्ह बिन दुखिया देह रे।”

कबीर ने वेदना की विवृति के लिये क्रौंच, चक्रवाक, पपीहा आदि काव्य-परंपरा में अत्यंत प्रसिद्ध रहे प्रतीकों का प्रयोग किया है।

प्रतीक-विधान के धरातल पर कबीर की काव्यात्मकता का उत्कर्ष ऐसे स्थलों पर दिखाई देता है जहाँ उन्होंने भावों की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति के लिये एक साथ कई प्रतीकों का प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप-

“रैन गई मत दिनु भी जाइ। / भँवर उड़े बग बैठे आई॥

थरहर कपै बाला जीउ, नौ जानौ क्या करिहै पीउ। / कांचे करवै रहे न पानी, हंस उड़ा काया कुम्हिलानी॥”

यहाँ 'रैन' युवावस्था का, 'दिनु' अनुभव की प्रौढ़ावस्था का, 'भँवर' काले केशों का, 'बग' श्वेत केशों का और 'हंस' जीवात्मा का प्रतीक है। 'थरहर कपै बाला जीउ' मुग्धा नववधू का व्यंजक है।

कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम में विरह की अतिशयता की व्यंजना के लिये मुख्य रूप से तीन प्रतीक चुने हैं- सती, शूरत्व और रसायन। इनके अतिरिक्त उनके काव्य में काल या मृत्यु संबंधी प्रतीकों, दैनिक जीवन के प्रतीकों, पारिवारिक- सामाजिक संबंधों के प्रतीकों, संख्यावाची प्रतीकों आदि का प्रयोग हुआ है। अमानवीय संसार से लिये गए प्रतीकों में पशु-पक्षियों को लिया गया है। उदाहरणार्थ काग तृष्णा का, खग आत्मा का, कबूतर मोह का प्रतीक है।

समग्रतः हम कह सकते हैं कि कबीर का प्रतीक-विधान लोकजीवन से निर्मित हुआ है। यह जीवन से उनके गहरे जुड़ाव तथा उनकी काव्यात्मक क्षमता, दोनों का परिचायक है।

जायसी

प्रश्न: 'जायसी द्वारा प्रस्तुत नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य की अद्वितीय रचना है'- इस विचार से आप कहाँ तक सहमत हैं? (300 शब्द)

उत्तर: शुक्लजी ने जायसी द्वारा प्रस्तुत नागमती के विरह-वर्णन को हिन्दी साहित्य की अद्वितीय रचना माना है। जायसी द्वारा प्रस्तुत नागमती का विरह वर्णन बेहद रमणीय, सुंदर व मार्मिक है। इस विरह-वर्णन में उन्होंने कुछ ऐसे तत्वों का समावेश किया है कि यह वर्णन हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ विरह वर्णन के रूप में स्वीकृत हो गया है।

नागमती के विरह वर्णन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें नागमती को रानी के रूप में नहीं बल्कि विरहदग्ध सामान्य नारी के रूप में वर्णित किया गया है। इसलिए नागमती के विरह में साधारणीकरण की अद्भुत क्षमता आ गई है।

नागमती के विरह वर्णन की दूसरी बड़ी विशेषता है- आत्मविस्तार। जो नागमती कभी बड़े-बड़े राजाओं पर भी ध्यान नहीं देती थी, वही पक्षियों से भी अपनी हृदय वेदना कहती है-

"पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौरा, हे काग।

सो धनि विरहे जरि मुई, तेहिक धुआँ हमहिं लाग॥"

नागमती के वियोग में गार्हस्थिक चेतना का अद्भुत समावेश है। साथ ही, यह अपनी प्रतिबद्धता में भी अनूठा है। अपने पति के दायित्वहीन व्यवहार के बावजूद वह अपने प्रेम में पूरी तरह दृढ़ है। वह कहती है-

"यह तन जारों छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।

मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव॥"

स्पष्ट है कि शृंगार के वियोग पक्ष का वर्णन जायसी पूर्ण रमणीयता और मार्मिकता के साथ करने में सफल हुए हैं। हालाँकि, यदि आधुनिक दृष्टिकोण से देखें तो आचार्य शुक्ल के निष्कर्षों से सहमत होना कठिन प्रतीत होता है। यह बात सही है कि नागमती का विरह गार्हस्थिक विरह है, न कि देह की भूख या वासना की आकुलता से उत्पन्न होने वाला विरह। फिर भी, इस विरह में मध्यकालीन नारी की दासता तथा विषम स्थितियों का सूक्ष्म चित्रण भी दिखाई देता है। कुल मिलाकर, यह मानने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि अपनी अद्भुत साधारणीकरण क्षमता, अपनी व्यापकता तथा प्रेम की प्रतिबद्धता आदि तत्वों के कारण नागमती का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में सचमुच एक अद्वितीय वस्तु है।

प्रश्न: एक त्रासदी काव्य के रूप में पद्मावत का परीक्षण कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: आलोचक विजयदेव नारायण साही ने अपनी पुस्तक 'जायसी' में दावा किया है कि "अपनी मूल प्रकृति में पद्मावत एक त्रासदी है।" ट्रेजेडी यूनान की प्राचीन नाट्य विधा है। इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह चरम दुख की त्रासद परिणति पर समाप्त होती है और पाठक को दुख की उस घनीभूत अवस्था में छोड़ती है जिसे 'विरचन' (Catharsis) कहा जाता है। इसकी अन्य विशेषताओं में नायक का भद्र होना (अर्थात् दृढ़, साहसी और नैतिक होना); खलनायक का अनैतिक होना, नायक का अति नैतिकता के कारण कोई ऐसी भूल अर्थात् 'हैमर्सिया' कर बैठना जो उसे दुखद अंत तक पहुँचाती हो इत्यादि प्रमुख हैं।

यदि 'पद्मावत' के कथानक को एक विशेष नज़रिये से देखें तो इसके भीतर से त्रासद तत्व उभरता हुआ नज़र आता है। रत्नसेन प्रेम के मार्ग का सच्चा पथिक है। कठिन संघर्षों के बाद ही उसे पद्मावती रूपी फल की प्राप्ति होती है और यहाँ कथानक भारतीय सुखांत परंपरा का अनुकरण करता हुआ प्रतीत होता है।

किन्तु, इसके बाद कथा में तीव्र परिवर्तन होता है। रत्नसेन प्रेम के मूल्य से कोई समझौता करने को तैयार नहीं। अलाउद्दीन से संधि प्रस्ताव के दौरान वह अति नैतिकता का परिचय देता है और इसी हैमर्शिया के कारण उसे बंदी बना लिया जाता है। बाद में युद्ध करते हुए देवपाल को मारकर खुद भी वीरगति को प्राप्त होता है। उसकी मृत्यु के साथ ही पद्मावती सती हो जाती है। रत्नसेन और पद्मावती की सौत होना और खलनायक अलाउद्दीन का जीवित रह जाना रचना के अंत में त्रासद तत्व की सृष्टि करता है।

किंतु 'पद्मावत' की त्रासदी यूनानियों की त्रासदी से पूर्णतः मेल नहीं खाती। यूनानियों की त्रासदी में खलनायक सफल होता है और नायक विफल। 'पद्मावत' में सच पूछा जाए तो सब विफल हुए हैं।

'पद्मावत' के त्रासद तत्व का सबसे सुंदर पक्ष उसमें निहित दार्शनिकता है जिसके अनुसार जीवन का सारतत्व यही है कि उसमें निरर्थक हिंसा व संघर्ष की जगह नहीं है? उनके अनुसार मनुष्य चाहे मर जाए किन्तु उसके कर्म नहीं मरते हैं, उसकी स्मृतियाँ नहीं मरती हैं- 'फूल मरे पै मरै न बासू।'

स्पष्ट है कि 'पद्मावत' अपनी बाहरी ढाँचे में तो नहीं पर, आंतरिक ढाँचे में एक त्रासद रचना है।

प्रश्न: क्या नागमती का विरह वर्णन मध्यकालीन नारी की दासता का चित्रण है? अपना मत प्रकट कीजिए।

(225 शब्द)

उत्तर: नागमती का विरह वर्णन विवादों को जन्म देता रहा है। शुक्लजी ने इसे हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु बताया है जिसका प्रमुख आधार यह है कि यह आशिक-माशूकों का निर्लज्ज प्रलाप नहीं है बल्कि हिन्दू गृहिणी की पवित्र विरह वाणी है जिसका सात्विक मर्यादापूर्ण रूप परम मनोहर है। किंतु, बाद के समीक्षकों; मुख्यतः नारीवादी और प्रगतिवादी समीक्षकों का तर्क है कि नागमती का विरह वर्णन वस्तुतः मध्यकालीन लिंग-भेद का प्रमाण है जिसे सांस्कृतिक मर्यादाओं के चशमे से देखने पर गौरवपूर्ण बताया जाता है।

वस्तुतः मध्यकाल में नारी की स्थिति चिंताजनक रही। सामंती माहौल में नारी या तो भोग की वस्तु है या त्याज्य वस्तु है। वस्तुतः पद्मावत में नागमती का विरह इसी मध्यकालीन नारी की सामाजिक दशा का प्रामाणिक चित्रण है। इसके कई आधार हैं-

- (क) विरह सिर्फ नागमती को है, रत्नसेन को नहीं। रत्नसेन के पास विकल्प है कि वह दूसरा विवाह कर सके पर मध्यकालीन नारी अपनी सुरक्षा और सम्मान के लिए पति पर ही निर्भर होने को विवश है।
- (ख) नागमती बहुत बड़ी रानी होकर भी अपने पति द्वारा वंचित है। यह इस बात का प्रमाण है कि आर्थिक स्थितियाँ बेहतर होने से नारी का शोषण खत्म नहीं होता।
- (ग) इसी भेदभाव को जब सामंतवादी सांस्कृतिक मूल्यों में पिरो दिया जाता है तो इसे पतिव्रता नारी, गृहस्थ धर्म का दायित्व और आदर्श नारीत्व जैसे शब्दों से व्यक्त किया जाता है। नागमती न सिर्फ रत्नसेन के रास्ते को नर्म बनाने के लिए खुद को राख बना देने के लिए तैयार है बल्कि वह पद्मावती के साथ समझौता करने को भी तैयार है। अपने प्रिय को किसी और के साथ बाँटने का समझौता पुरुष की नहीं, नारी की ही नियति है।

किंतु, सिर्फ यह कहकर नागमती के विरह का महत्व खारिज नहीं किया जा सकता। उसके विरह में 'दासता' एक पक्ष जरूर है किंतु उसकी प्रतिबद्धता और भावुकता महत्वहीन नहीं है।

प्रश्न: 'फूल मरे पै मरै न बासू' - इस कथन के संदर्भ में पद्मावत की काव्य-वस्तु का विवेचन कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: 'फूल मरे पै मरै न बासू' जायसी की जीवन दृष्टि और काव्य दृष्टि का निचोड़ है जो पद्मावत के अंतिम से पिछले कड़वक में व्यक्त हुआ है। वस्तुतः पद्मावत के अंतिम दो कड़वकों में जायसी ने अपने दृष्टिकोण की प्रस्तुति की

है। ये कड़वक न सिर्फ जायसी के काव्य प्रयोजन और जीवन-दर्शन को समझने में सहायक हैं बल्कि इस मान्यता का भी समर्थन करते हैं कि पद्मावत की सही समझ सिर्फ तसव्वुफ़ के ढाँचे के भीतर नहीं बन सकती। उनकी जीवन-दृष्टि इतनी व्यापक है कि वह तसव्वुफ़ की चौहदियों को तोड़कर अपने लिए विस्तृत स्थान बनाती है ताकि उसमें परलोक के साथ इहलोक भी पर्याप्त रूप में शामिल हो सके।

‘फूल मरै पै मरै न बासू’ सूत्र की व्याख्या के लिए संदर्भित कड़वक की अन्य पंक्तियों का हवाला लेना ज़रूरी है। इस कड़वक में जायसी जीवन की क्षणभंगुरता को विस्तार में समझाते हैं और कहते हैं- “कोई न रहा जग रही कहानी।” वे स्पष्ट करते हैं कि आज न तो राजा रत्नसेन जीवित है, न हीरामन तोता शेष बचा है, न सुल्तान अलाउद्दीन बच सका है, न वे राघव-चेतन बचे हैं जिन्होंने अलाउद्दीन को पद्मावती की कहानी सुनाई थी और न ही पद्मावती जैसी सुंदर स्त्री बच सकी है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति चाहे कितना भी शक्तिशाली या सुंदर हो, उसका शरीर अंततः मिट्टी हो जाने या नष्ट हो जाने को बाध्य है। इसलिए शरीर से प्रेम करना निरर्थक है।

इसलिए जायसी कहते हैं कि सफल व्यक्ति वही है जिसे यश प्राप्त हो, जिसकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली होती हो- “धनि सो पुरुष जस कीरति जासू, फूल मरै पै मरै न बासू।”

यहीं जायसी पद्मावत की रचना का प्रयोजन भी स्पष्ट करते हैं। उनकी इच्छा यश प्राप्ति की है, जो इस कड़वक के अंतिम दोहे के दूसरे वाक्य में साफ नज़र आती है- “जो यह पढ़े कहानी, हम सँवै दुई बोला।” और, इस यश-प्राप्ति के लिए वे पूरी प्रतिबद्धता के साथ समाज को प्रेम की मार्मिकता समझाना चाहते हैं। प्रेम करने के लिए जो प्रतिबद्धता और कष्ट सहने की क्षमता चाहिए, वही क्षमता प्रेम की कथा कहने के लिए भी ज़रूरी है। जायसी ने इसी कड़वक की पहली चौपाई में स्पष्ट किया है कि प्रेम की इस पीड़ा की प्रस्तुति के लिए उन्हें स्वयं कौन से दर्द झेलने पड़े हैं-

“मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा।

जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई॥”

यही प्रेम पद्मावत का केंद्रीय पक्ष है। प्रेम का संबंध लालच या भोग से नहीं; प्रतिबद्धता, आत्मसमर्पण और आत्मविस्तार से है। पद्मावत का सारतत्व यही है कि जो अपने जीवन में ऐसा प्रेम उपलब्ध कर लेता है, उसका लौकिक जीवन भी बैकुंठी हो जाता है- “मानुस प्रेम भएउ बैकुंठी, नाहि ते काह छार एक मूठी।”

स्पष्ट है कि ‘फूल मरै पै मरै न बासू’ जायसी की जीवन व काव्य संबंधी मान्यताओं का सारतत्व है।

प्रश्न: जायसी व कबीर के रहस्यवाद की तुलना कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: आचार्य शुक्ल का मत है कि जहाँ कबीर का रहस्यवाद रूखा व शुष्क है, वहीं जायसी का रहस्यवाद सुंदर व रमणीय है।

उनके अनुसार कबीर का रहस्यवाद अन्तर्मुखी है अर्थात् कबीर नाथ-पंथ और अद्वैतवाद के प्रभाव में आत्मा व परमात्मा या कुण्डलिनी व महाकुण्डलिनी के मिलन की बात तो करते हैं किन्तु जगत् के प्रत्येक हिस्से में ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर पाते। इसके विपरीत जायसी जिस दर्शन को लेकर चले हैं, वह उपनिषदों का सर्ववाद या सूफियों का सर्वेश्वरवाद है जिसके अनुसार यह जगत् मिथ्या या असत् नहीं बल्कि ईश्वर की ही सहज अभिव्यक्ति है। इसलिए जायसी ब्रह्माण्ड की एक-एक प्राकृतिक वस्तु में ईश्वरीय सौन्दर्य की छटा देखते हैं।

किन्तु आचार्य शुक्ल का यह मत एक सीमा तक ठीक होने के बावजूद निरापद नहीं है। वस्तुतः कबीर ने कई ऐसी कविताएँ लिखी हैं जिनमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर अभिव्यक्त होता हुआ प्रतीत होता है जैसे-

“लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।”

पुनः कबीर के काव्य का एक बड़ा हिस्सा भावनात्मक रहस्यवाद से प्रभावित है और उसमें आत्मा व परमात्मा से संबंधित विरह तथा मिलन के ऐसे प्रसंग आये हैं जो मार्मिकता व भावुकता में किसी भी रहस्यवादी काव्य से बेहतर हैं-

“तलफै बिन बालम मोर जिया

दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ के भोर किया।”

दूसरी ओर, यह कहना भी उचित नहीं है कि जायसी सर्वत्र बहिर्मुखी रहस्यवाद में विश्वास करते हैं। आचार्य शुक्ल ने स्वयं जायसी का एक प्रसंग उद्धृत किया है जिसमें जायसी नाथ कवियों के समान ईश्वर की कल्पना अपने भीतर करते हैं—

“पिउ हिरदय महँ भेंट न होई,
को रे मिलाव कहाँ केहि रोई।”

स्पष्ट है कि कबीर व जायसी दोनों कवियों के यहाँ रहस्यवाद के वैविध्यपूर्ण चित्र मिलते हैं और दोनों के कुछ चित्र सौंदर्य की दृष्टि से अप्रतिम हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि तुलनात्मक रूप से जायसी का रहस्यवाद अधिक सरस व मधुर है क्योंकि वह मूलतः भावनात्मक रहस्यवाद से जुड़े हैं और साधनात्मक रहस्यवाद उनमें बेहद सीमित है। इसके विपरीत, कबीर मूलतः साधनात्मक रहस्यवादी हैं और भावनात्मक रहस्यवाद का आशिक प्रभाव ही उन पर दिखाई देता है।

प्रश्न: पद्मावत अन्योक्ति है या समासोक्ति? तार्किक उत्तर दीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: पद्मावत की कथा में अर्थ के दो स्तर स्पष्टतः विद्यमान हैं। प्रस्तुत कथा रत्नसेन, पद्मावती, नागमती और अलाउद्दीन से सम्बंधित है जो लौकिक स्तर की है; जबकि अप्रस्तुत कथा आध्यात्मिक या अलौकिक अर्थ की ओर संकेत करती है। यदि आध्यात्मिक अर्थ अधिक महत्वपूर्ण हो तो इसे अन्योक्ति माना जाएगा और यदि साधारण अर्थ ही अधिक महत्वपूर्ण हो तो समासोक्ति माना जाएगा।

शुक्ल जी पद्मावत को ‘समासोक्ति’ बताते हैं। उनका मत है कि “प्रस्तुत कथा के महत्वपूर्ण होते हुए भी पद्मावत में आध्यात्मिक कथा के संकेत मिलते रहते हैं।” गोविंद त्रिगुणायत ने पद्मावत को ‘अन्योक्ति तथा समासोक्ति के सफल नियोजन’ की संज्ञा दी है। वे कहते हैं कि इसकी कथा सामान्य पाठकों के लिये समासोक्ति है जबकि आध्यात्मिकता प्रिय पाठकों के लिये अन्योक्ति। इन दोनों व्याख्याओं के विपरीत, साही तथा शिरेफ मानते हैं कि पद्मावत में आध्यात्मिकता का तत्व इतना गौण है कि इसे महत्व देने का कोई औचित्य नहीं है। कुछ अन्य विद्वानों ने पद्मावत को अन्योक्ति भी बताया है।

पद्मावत को अन्योक्ति बताने वाले विद्वानों की जिन पद्मावत के अंत का हवाला देते हैं, उन्हें साही एवं माताप्रसाद जैसे कई विद्वानों ने प्रक्षिप्त अंश करार दिया है। इसे प्रक्षिप्त न मानें तो भी इन पंक्तियों के संदर्भ में तीन समस्याएँ हैं— (i) पूरी कथा को पढ़ते हुए बिल्कुल भी प्रतीत नहीं होता कि कथा रहस्यवादी है। रचना का आस्वादन लौकिक कथा के रूप में ही होता है, (ii) कथा के उत्तरार्द्ध पर प्रतीकात्मक व्याख्या लागू नहीं होती, (iii) यह प्रतीक कोष खुद भी अन्तर्विरोधों से ग्रस्त है। उदाहरण के लिए पद्मावती खुदा से मिलाने वाली-बुद्धि मानी गयी है जबकि नागमती को ठीक उसके विरोधी रूप में दुनिया-धंधा कहा गया है। रचना में देखें तो दोनों के साथ ही रचनाकार ने समान व्यवहार किया है। इससे प्रतीत होता है कि या तो ये प्रतीक वास्तविक नहीं हैं या जायसी कथा में इन प्रतीकों का निर्वाह कर नहीं पाये हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि पद्मावत अन्योक्ति नहीं है तो क्या इसे समासोक्ति मान सकते हैं? इसके समासोक्ति होने के पक्ष में कई आधार बताए जाते हैं। पहला आधार यह है कि पाठक को रहस्यात्मक अर्थ समझे बिना भी लौकिक अर्थ समझने में कोई समस्या नहीं होती। इसका अर्थ हुआ कि साधारण अर्थ रचना के लिए प्रतीकार्थ से अधिक महत्वपूर्ण है। दूसरा आधार है कि रहस्यात्मक अर्थ रचना के शुरुआती आधे हिस्से में तो सक्रिय रहता है किंतु उसके बाद नहीं रह पाता। यदि पद्मावत अन्योक्ति होती तो रहस्यात्मक अर्थ अन्त तक बना रहता जो कि इस रचना में नहीं है। तीसरा आधार है कि रचनाकार ने इस रचना में रहस्यात्मक अर्थ किसी निश्चित शृंखला के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है बल्कि यह बीच-बीच में कहीं-कहीं झलक दिखाकर लुप्त हो जाता है। इन आधारों पर प्रतीत होता है कि पद्मावत अन्योक्ति नहीं, समासोक्ति है।

तीसरा मत साही तथा शिरेफ आदि विद्वानों का है। इनका दावा है कि पद्मावत में अप्रस्तुत अर्थ एकदम गौण है। साही का दावा है कि “पद्मावत में तसव्वुफ़ सिर्फ एक काव्यात्मक मुहावरा है जिसे जायसी ने अपने समय के अन्य सांस्कृतिक मुहावरों के साथ-साथ प्रयोग किया है।” जायसी की मूल प्रतिबद्धता परलोक के प्रति नहीं, इहलोक के प्रति है; ईश्वरीय प्रेम के प्रति नहीं, मानवीय प्रेम के प्रति है। अतः पद्मावत के संबंध में समासोक्ति या अन्योक्ति का प्रश्न ही निरर्थक है। यह एक सहज या प्रकृत काव्य है जिसमें ‘तसव्वुफ़’ का सांस्कृतिक मुहावरा कहीं-कहीं झलक भर जाता है।

वस्तुतः पद्मावती की समीक्षा में समकालीन सहमति इसी बात पर है कि यह एक 'प्रकृत काव्य' है जिसमें प्रस्तुत कथा ही मूलतः अभिप्रेत है; अप्रस्तुत अर्थ एकदम गौण है व कहीं-कहीं झलक दिखाकर लुप्त हो जाता है। फिर भी, यदि समासोक्ति और अन्योक्ति के विकल्पों में से ही चयन करना हो तो इसे समासोक्ति के निकट मानना अधिक उचित होगा।

प्रश्न: पद्मावत कितना इतिहास है और कितनी कल्पना? विवेचनात्मक उत्तर दीजिये। (300 शब्द)

उत्तर: कोई भी रचना अपने कथानक का निर्माण तीन आधारों पर कर सकती है- (i) वह इतिहास से कथा ग्रहण करे, (ii) उसकी कथा शुद्ध रूप से कल्पना पर आधारित हो, (iii) रचना इतिहास और कल्पना के मिश्रण से कथा का निर्माण करे। पद्मावत के संबंध में प्रश्न उठता है कि इसकी कथा ऐतिहासिक है, काल्पनिक है या इतिहास व कल्पना का मिश्रण है?

पद्मावत की ऐतिहासिकता का विश्लेषण इसके दो भागों के आधार पर किया जा सकता है। पहले भाग में रत्नसेन और पद्मावती की प्रेम कथा है जो दोनों के विवाह तक चलती है। दूसरे भाग में इन दोनों के चित्तौड़ लौटने के बाद की कथा है। ध्यान से देखें तो कथानक का पहला भाग काल्पनिक है जबकि दूसरा भाग इतिहास और कल्पना के मिश्रण पर आधारित है।

कथानक के पहले भाग में जो कहानी ली गई है, उसका संबंध इतिहास से नहीं, लोक-आख्यान से है। इस कथा के पहले भाग में कई ऐसी बातें हैं जो न इतिहास-सम्मत हैं और न हो सकती हैं। जो कहानी परंपरा से लोक जीवन में चली आ रही थी, उसमें भी जायसी ने परिवर्तन किए हैं। उदाहरण के लिये, जायसी ने पद्मावती को सिंहलद्वीप का निवासी बताया है जबकि लोक कथा में ऐसा नहीं है।

पद्मावत के दूसरे भाग में ऐतिहासिकता के कुछ संदर्भ विद्यमान हैं। कर्नल टाड के अनुसार चित्तौड़ के राजा का नाम 'भीमसिंह' या 'भीमसी' था जबकि 'आइने-अकबरी' में 'रत्नसी' या 'रत्नसेन' नाम का उल्लेख है। दोनों ही संस्करण मानते हैं कि उक्त राजा की 'पद्मिनी' नाम की एक सुंदर रानी थी। दोनों संस्करण यह भी मानते हैं कि अलाउद्दीन ने इस राजा पर दो आक्रमण किए।

किंतु, कथानक के इस दूसरे भाग में कुछ कल्पनाएँ भी हैं और ये किसी न किसी कारणवश ही आई हैं। उदाहरण के लिये, राघवचेतन की कथा काल्पनिक है जिसका प्रयोग इसलिये किया गया है कि अलाउद्दीन के आक्रमण की कथा जोड़ी जा सके। दूसरी कल्पना रत्नसेन का अलाउद्दीन को अपनी पत्नी देखने की अनुमति न देना है। जायसी ने ऐसा इसलिये किया क्योंकि नायक के लिये खलनायक को अपनी पत्नी देखने की अनुमति देना गौरवपूर्ण नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि दर्पण में अलाउद्दीन द्वारा पद्मिनी (पद्मावती) को देखने की कथा जायसी ने आकस्मिक घटना के रूप में प्रस्तुत की है, इसके लिये संधि का सहारा नहीं लिया। जब राजा को बंदी बनाकर दिल्ली शिविर में रखा गया तो समय निकालकर जायसी ने गोर-बादल की वीरगाथा तथा देवपाल का प्रसंग भी कल्पना से उपस्थित किया ताकि पाठक को उत्साह भाव व वीर रस की अनुभूति कराई जा सके।

समग्रतः हम कह सकते हैं कि पद्मावत का पहला अंश लोकश्रुति तथा दूसरा भाग इतिहास पर आधारित है। दोनों ही खंडों में कल्पना का अच्छा प्रयोग है। पहले खंड की कल्पनाएँ प्रधानतः 'तसव्वुफ' या सूफी आध्यात्मिकता को व्यक्त करने के लिये की गई हैं जबकि दूसरे खंड की कल्पनाएँ लौकिक कथा को नाटकीय मोड़ व औचित्यपूर्ण समाधान देने के लिये आई हैं। कल्पना का यह प्रयोग पद्मावत की शक्ति है क्योंकि पद्मावत अंततः इतिहास नहीं, साहित्य है और साहित्य का निर्माण तथ्यों से नहीं, कल्पनाओं से होता है।

सूरदास

प्रश्न: सूर की काव्य-कला पर प्रकाश डालिए। (300 शब्द)

उत्तर: सूरदास कृष्णभक्ति शाखा के अन्यतम कवि हैं। इन्होंने शृंगार तथा वात्सल्य रस का कोना कोना छान मारा है। शृंगार व वात्सल्य के इस सूक्ष्म अवलोकन में इनकी काव्यकलागत निपुणता विशेष रूप से सहायक हुई है। सूर की कविता की विषयवस्तु अत्यंत सीमित है भाव के रूप में केवल शृंगार व वात्सल्य है और विभाव पक्ष में आलंबन विभाव में कृष्ण, राधा, गोपियाँ और उदीपन विभाव में यमुना तट तथा मधुवन। इसलिए सूर के पास अपनी कविता को मनोहर बनाने का उसे

नवीनता से भरने का एक ही मार्ग था- वर्णन शैली की नवीनता। यह वर्णन शैली की नवीनता सूर की काव्यकलागत निपुणता से ही उद्भूत है। यह साहित्यिक निपुणता भाषा की तराश, बिम्बों के निर्माण, संगीतात्मकता तथा विभिन्न शब्दालंकारों के रूप में प्रकट हुई है।

सूर का लीलापद कृष्णलीला पर आधारित चित्रात्मक काव्य है इसलिए उन्होंने कई तरह के बिम्बों का प्रयोग किया है। इनके यहाँ दृश्य बिम्ब, श्रव्य बिम्ब, स्पर्श बिम्ब, स्थिर बिम्ब, गतिशील बिम्ब, मूर्त बिम्ब, अमूर्त बिम्ब और संश्लिष्ट बिम्ब सभी मिलते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

संश्लिष्ट बिम्ब-

“ऊधौ कोकिल कूजत कानन।

तुम हमको उपदेस करत हो भस्म लगावत आनन”

(दृश्य तथा श्रव्य बिम्बों की संश्लिष्टता)

सूर के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता इसकी संगीतात्मकता तथा गेयत्व है। सूरसागर में इतने अधिक राग हैं कि उन्हें देखकर समस्त जीवन संगीत साधना में अर्पित कर देने वाले आज के संगीतज्ञों को भी दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है-

राग सारंग-

“निर्गुण कौन देस को बासी;

मधुकर हँसि समुझाय, सौहं दे बूझति साँच न हाँसी।”

कवि ने भावों और विभावों की अपनी न्यूनता को सुंदर अर्थालंकारों के सहारे भरा है। उन्होंने सादृश्यमूलक अर्थालंकार भी लिए हैं और विरोध मूलक अलंकार भी जैसे-

रूपक अलंकार-

“काहे को रोकत मारग सूधो;

सुनहु मधुप! निर्गुन कंटक ते राजपंथ क्यों रूंधो;”

विभावना अलंकार-

“बिन पावस पावस ऋतु आई, देखत हौ बिदमान।

अब धौ कहा कियो चाहत हौ छाड़हु नीरस ज्ञान।”

सूर के इस अलंकार कौशल की आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है- “सूरदास जब अपने काव्य विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है, उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है, संगीत के प्रवाह में स्वयं कवि बह जाता है।”

सूरदास की काव्य-कला में यदि कोई दोष है तो वह भी उनकी अलंकार योजना ही है। शुक्ल जी के शब्दों में कहें तो उन्हें उपमा देने की झक सी चढ़ जाती है। कहीं-कहीं पुनरावृत्ति दोष भी है। कई बार ऐसी कल्पनाएँ भी कर बैठते हैं जो काव्य के रसास्वादन में बाधक होती हैं। इसके बावजूद यह तो मानना ही होगा कि ऐसे प्रसंग सूर की कविता में कम हैं और यदि उन अपवादों को छोड़ दें तो सूर की काव्य-कला निपुणता हिन्दी काव्य परंपरा में सर्वोच्च स्तर छूती है।

प्रश्न: क्या ‘भ्रमरगीतसार’ को निर्गुण मत पर सगुण मत की विजय का काव्य मानना उचित है? तार्किक उत्तर दीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: भ्रमरगीतसार मूल रूप से कृष्ण द्वारा गोपियों को संदेश भेजे जाने की कथा है। सूरदास ने कृष्ण द्वारा संदेश प्रेषण की कथा को एक नवीन आयाम दिया है। इस संदेश को उन्होंने निर्गुण ब्रह्म अपनाने की सलाह के रूप में बदल दिया है और गोपियों को सगुण भक्ति के दृढ़ स्तम्भों के रूप में चित्रित किया है। भ्रमरगीतसार की गोपियाँ उद्धव की शुष्क तथा जटिल ज्ञानमार्गी बातों से परेशान हैं। यहाँ उनका मूल उद्देश्य निर्गुण-सगुण का खंडन मंडन नहीं है वे तो केवल अपने प्रेम

मार्ग पर बने रहना चाहती हैं। पर जब उद्धव किसी तरह नहीं मानते तो गोपियाँ उनसे निर्गुण के विषय में तरह-तरह के प्रश्न पूछना प्रारंभ करती हैं-

“निर्गुन कौन देस को बासी?”

“रेख न रूप बरन जोके नहिं ताकों हमैं बतावत।

अपनी कहौ दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत?”

यहाँ गोपियों की इच्छा उद्धव को पराजित करने की नहीं है बल्कि उनसे पीछा छुड़ाने की है ताकि वे उन्हें निर्गुण का पाठ न पढ़ायें। पर उद्धव नहीं मानते। तब गोपियाँ स्पष्ट करती हैं कि उनके लिए कृष्ण के अतिरिक्त किसी और से मन लगाना संभव नहीं है। एक ही मन था वह भी कृष्ण के साथ चला गया ऐसे में तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की आराधना कौन करेगा। वे उद्धव को समझाती हैं कि जैसे-तैसे अगर वो अपने मन को समझा भी लेती हैं तो मन पुनः लौटकर कृष्ण पर ही आ जाता है।

गोपियाँ उद्धव की बातों का जवाब देने के लिए उसका सीधा-सीधा मजाक भी उड़ाती हैं-

“ऊधौ भली करी तुम आए।

वै बातें कहि-कहि या दुख में ब्रज के लोग हंसाए।”

गोपियाँ नहीं चाहती कि निर्गुण रूपी कांटे उनके प्रेममार्ग के राजपथ को रोकें। इसलिए वे ऊधौ से प्रकृति का संदेश सुनने को कहती हैं-

“ऊधौ कोकिल कूजत कानन।

तुम हमको उपदेश करत हो भस्म लगावत आनन।”

अंततः इस वाग्विदग्धतापूर्ण बहस के बाद गोपियाँ विजय प्राप्त करती हैं और उद्धव भी अपने निर्गुण मार्ग को छोड़कर सगुण के प्रति आकृष्ट होने लगते हैं वे कहते हैं-

“अब अति पंगु भयो मन मेरो।

गयो तहाँ निर्गुण कहिवे को भयो सगुण को चरो॥”

इस रूप में सीमित अर्थों में इसे निर्गुण मत पर सगुण मत की विजय का काव्य माना जा सकता है। परंतु, इसे केवल निर्गुण पर सगुण की विजय का काव्य मानने में अनेक समस्याएँ हैं।

भ्रमरगीतसार मूल रूप से भक्ति काव्य है और इसके कई श्रेष्ठ पदों का सगुण-निर्गुण विवाद से कोई लेना देना नहीं केवल प्रेममार्गी रागानुगा भक्ति का प्रतिपादन ही उनका लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त उद्धव व गोपियों के बीच की बहस तार्किक बहस नहीं है। सूर ने उद्धव को कुछ बोलने का अधिकार दिया ही नहीं है उनके यहाँ गोपियों की हर व्यंग्य उक्ति पर उद्धव को चुप रह जाना होता है। अतः भ्रमरगीतसार को भक्तिपरक वियोग शृंगार का काव्य मानना अधिक बेहतर विकल्प हो सकता है।

प्रश्न: सूर के उद्धव एक प्रकार से कृष्ण (शासक) एवं गोपियों (प्रजा) के बीच बिचौलिये नेता के प्रतीक हैं। इस रूप में यह प्रतीक आज भी उतना ही प्रासंगिक है, क्या आप इस मत से सहमत हैं? अपना अभिमत सोदाहरण स्पष्ट करें।

(300 शब्द)

उत्तर: कालजयी कविताएँ समय बदलने के साथ नये-नये अर्थों में पुनः प्रासंगिक हो उठती हैं। इस अर्थ में भ्रमरगीत एक महत्वपूर्ण रचना है जो आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक अर्थ भी रखती है।

राजनीतिक दृष्टि से देखें तो कृष्ण को जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि समझा जा सकता है। उनकी सफलता का मूल कारण यह है कि गोकुल की जनता उनसे गहरा प्रेम करती है। आज भी वही व्यक्ति चुनाव जीत पाता है जिसे जनता का स्नेह हासिल हो। कृष्ण मथुरा जाकर राजनीतिक अधिकारों से संपन्न हो गए हैं, वैसे ही जैसे लोकतंत्र में चुना हुआ प्रतिनिधि सत्ता में भागीदार होता है। कृष्ण ने गोपियों से वायदा किया है कि वे जल्दी लौटकर आएंगे और उनके भावनात्मक सूनेपन

को समाप्त करेंगे। चुनाव लड़ने वाले नेता भी वायदा करते हैं कि वे जनता के कष्टों को दूर करेंगे। कृष्ण मथुरा जाकर गोपियों को भूल गए हैं, गोकुल नहीं लौट रहे हैं। आज के नेता भी अक्सर राजधानी पहुँचकर अपने क्षेत्र की जनता से किए वायदे भूल जाते हैं, उसके पास लौटने का नाम नहीं लेते हैं।

यह प्रतीक-साम्य और आगे बढ़ता है। कृष्ण ने उद्धव को भेजा है ताकि गोपियाँ निर्गुण में ध्यान लगाएँ, कृष्ण को भूल जाएँ ताकि कृष्ण पर अपेक्षाओं का दबाव कम हो; गोपियाँ उनसे उम्मीद करना बंद कर दें तथा गोपियों में जितना क्रोध है, वह उद्धव पर ही निकल जाए। यही आज भी होता है। जब नेताओं को याद आता है कि जनता उनसे नाराज़ है तो वे कुछ बिचौलिये नेताओं को भेजते हैं, कुछ नई योजनाओं की घोषणा करवाते हैं, ताकि जनता का मूल मुद्दे से ध्यान हट जाए और उनकी नाराज़गी बिचौलिये नेताओं पर ही निकल जाए।

यह प्रतीक कथा तब और सुसंगत नज़र आने लगती है जब हम देखते हैं कि गोपियों के कुछ कथन सीधे तौर पर राजनीति पर व्यंग्य हैं। यहाँ प्रतीत होता है कि कृष्ण पर व्यंग्य करके गोपियाँ अपने समय के राजनीतिक ढाँचे पर ही व्यंग्य कर रही हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(i) “हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।

इक अति चतुर हुते पहले ही, अरु करि नेह दिखाए।”

(ii) “वह मथुरा काजर की कोठरी, जे आवहिं ते कारे।

तुम कारे सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।।”

किंतु, यह प्रतीक-साम्य भ्रमरगीत को समझने में बहुत दूर तक मदद नहीं करता। सूरदास के समय की राजनीतिक व्यवस्था आज की लोकतांत्रिक प्रणाली से इतनी भिन्न है कि यह प्रतीक कथा कई स्थानों पर टूटी-फूटी नज़र आती है। उदाहरणस्वरूप सूर ने स्पष्ट संकेत दिया है कि कृष्ण उद्धव को इसलिए नहीं भेजना चाहते कि गोपियों का हृदय परिवर्तन हो जाए। उन्होंने तो उद्धव को इसलिए भेजा है ताकि उद्धव गोपियों की चरम भावुकता और तन्मयता को देखकर समझ सकें कि जीवन का सारतत्व शुष्क सिद्धांतों और दर्शन की किताबों में नहीं बल्कि भावनाओं में डूबकर जीने में है।

स्पष्ट है कि आज की राजनीतिक प्रणाली के प्रतीकों से भ्रमरगीत की व्याख्या का प्रयास आंशिक तौर पर चाहे सफल हो, पूर्णतः नहीं हो सकता। तब भी, यह ज़रूर कहा जा सकता है कि आज की भारतीय राजनीति भ्रमरगीत की अर्थ-संरचना में एक नया आयाम जोड़ती है।

प्रश्न: “‘भ्रमरगीत’ में वचन की भाव प्रेरित वक्रता द्वारा प्रेम-प्रसूत अंतर्वृत्तियों का उद्घाटन परम मनोहर है।”
उदाहरण सहित मीमांसा कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी के एक हजार वर्षों के साहित्य में भाव प्रेरित वक्रता का चरम उदाहरण यदि कहीं दिखता है तो ‘भ्रमरगीत’ में, जहाँ गोपियों ने अपने विरहदग्ध हृदय की पीड़ा को असंख्य टेढ़-मेढ़ तरीकों से व्यक्त किया है।

गोपियाँ के लिए प्रेम जीवन की एक ज़रूरत नहीं, जीवन का आधार है। उनका मूल व्यक्तित्व गहरी भावनाओं से ही निर्मित हुआ है। कृष्ण ने गोपियों को समझाने के लिए उद्धव को भेज दिया है जो अत्यंत शुष्क, नीरस, ज्ञानी, योगी और निर्गुणमार्गी व्यक्ति है। गोपियों में गहरे प्रेम से उत्पन्न होने वाली पीड़ा — दूसरे शब्दों में कहें तो प्रेम प्रसूत अंतर्वृत्तियाँ— उन्हें मजबूर कर देती हैं कि वे अपनी तिक्तता को व्यक्त करें। इसी मनोवैज्ञानिक बिन्दु पर ‘भ्रमरगीत’ में एक सुंदर उपालम्भ काव्य और प्रभावशाली वाग्वैदग्ध्य शैली का जन्म हुआ है।

प्रेम की स्वाभाविक विशेषता यह है कि प्रेम करने वाला अपने प्रेम के विरुद्ध कुछ सुन नहीं सकता। वह अपने प्रेम को सही सिद्ध करने के लिए तर्क जुटाता है। गोपियों ने भी अपने भाव-प्रेरित वक्र-कथनों के माध्यम से तर्क दिए हैं, जैसे—

“उर में माखन चोर गड़े।

अब कैसेहूँ निकसति नाहीं तिरछे हूँ जु अड़े।”

प्रेम करने वाला यदि अपने प्रेम को अपमानित होते हुए देखे तो उसे क्रोध आता है। उसकी उक्तियाँ कटु होने लगती हैं, कथनों में तिक्तता आने लगती है। यह तिक्तता साहित्य में उपालम्भ कहलाती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

“हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।

इक अति चतुर हुते पहले ही, अरु करि नेह दिखाए।

जानी बुद्धि बड़ी जुवतिन को, जोग संदेस पठाए।”

प्रेम करने वाला यदि किसी के विचारों से अपने प्रेम को अपमानित होते देखता है तो वह भी उसके विचारों का मजाक उड़ाने से नहीं चूकता, उसके सिद्धांतों पर प्रश्न खड़ा करने से नहीं चूकता। यही गोपियों ने भी किया है-

“रेख न रूप, बरन जाके नहिं, ताको हमैं बतावत।

अपनी कहौ दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत?”

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ‘भ्रमरगीत’ में वचन की भाव प्रेरित वक्रता द्वारा प्रेम-प्रसूत अंतर्वृत्तियों का उद्घाटन परम मनोहर है।

प्रश्न: ‘भ्रमरगीतसार’ में सूर के विरह-वर्णन के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए उससे अपनी तार्किक सहमति या असहमति प्रकट कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: ‘भ्रमरगीतसार’ में सूर के विरह-वर्णन के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- “वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उसके (भ्रमरगीत) भीतर मौजूद हैं।” किंतु, आचार्य रामचंद्र शुक्ल सूर के विरह वर्णन को गंभीरता के अभाव के कारण बहुत उपयुक्त नहीं मानते। भ्रमरगीत-सार की भूमिका में उनकी धारणा है- “परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखायी पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखायी पड़ता है।सूर का वियोग-वर्णन, वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं।” आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त मान्यताओं में से प्रथम मान्यता से तो कोई असहमति नहीं हो सकती, किन्तु उनकी दूसरी मान्यता बहुत उचित प्रतीत नहीं होती। उनकी इस मान्यता से असहमति के कई कारण हैं।

भ्रमरगीत में अभिव्यक्त कृष्ण से सधा और दूसरी गोपियों का विरह सामंती नैतिकता के बंधनों से मुक्त है। प्रेम की अनुभूति शास्त्र और लोक की रुढ़ियों से स्वतंत्र होना चाहती है। सूर की विरहानुभूति भी विधि-निषेध से स्वतंत्र है। वह शास्त्र के भ्रम और लोक के भय से रहित मानवीयता के विकास में सहायक है।

सूर के काव्य में विरह, कबीर से अधिक स्वाभाविक और जायसी से अधिक लौकिक है। सूर को कबीर की तरह विरह की अभिव्यक्ति के लिए ‘बहुरिया’ बनने की आवश्यकता नहीं है और जायसी की तरह प्रेम की अलौकिक आभा दिखाने की भी चिन्ता नहीं।

सूर के भ्रमरगीत में विरहानुभूति के सभी वास्तविक और संभावित रूपों का चित्रण हुआ है। इस विरहानुभूति में अथाह गहराई, असीमता और तन्मयता है।

भ्रमरगीत में विरह की मार्मिकता अनेक प्रसंगों एवं बिन्दुओं पर लक्षित होती है। विरह में प्रिय से संबंध रखने वाली सभी वस्तुएँ और व्यक्ति भी प्रिय लगते हैं। उद्धव से कृष्ण की चिट्ठी पाकर गोपियों को कृष्ण से मिलन का सुख मिला। गोपियों के नयनों से प्रेमाश्रु प्रवाहित हुए, उससे कृष्ण की पाती और कृष्ण एक हो गए-

“निरसत अंक स्यामसुन्दर के बार-बार लावति छाती।

लोचन-जल कागद-मसि मिलिकै है गई स्याम स्याम की पाती॥”

कृष्ण का मथुरा जाना गोपियों के जीवन में अथाह खालीपन उत्पन्न कर गया है। परिणामतः गोपियाँ विरह से ही प्रेम करने लगती हैं

ऊधो बिरहौ प्रेम करै

ज्यों बिनु पुट पट गीत न रंग कौ रंग न नसै परै।

उनकी एकनिष्ठ आस्था भी दर्शनीय है-

उधो मन न भये दस-बीस।

“एक हुतौ सो गयौ श्याम संग को अवराधे ईसा।”

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल के मत के विपरीत यह लक्षित होता है कि विरह के सहज, मानवीय और उदात्त रूपों की गहराई एवं व्यापकता तथा मार्मिकता एवं विविधता का जैसा चित्रण सूर के भ्रमरगीत में है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं।

प्रश्न: ‘सूर का भ्रमरगीत नागर-संस्कृति के बरक्स लोक-संस्कृति की प्रतिष्ठा करता है।’ इस कथन पर विचार कीजिये। (225 शब्द)

उत्तर: सूरदास मूलतः लोक-संस्कृति के कवि हैं। उनका यह रूप भ्रमरगीतसार में संकलित विभिन्न पदों में भी दिखायी देता है, जिनमें उद्धव और गोपियों के बाद-विवाद के माध्यम से वे नागर संस्कृति के विपक्ष एवं लोक-संस्कृति के पक्ष में खड़े दिखायी देते हैं। भ्रमरगीतसार में मथुरा से आए उद्धव नागर संस्कृति के प्रतीक हैं और गोपियाँ लोक-संस्कृति की।

भ्रमरगीतसार में लोक-संस्कृति की प्रतिष्ठा नगर जीवन के उपयोगितावादी संबंध-विधान के बरक्स ग्रामीण लोकजीवन के सहज एवं मानवीय संबंध-विधान की वरीयता में दिखाई देती है। इसलिये गोपियाँ बार-बार उद्धव द्वारा कृष्ण-प्रेम को निरर्थक बताए जाने के बावजूद उसे अपने लिये आत्यंतिक घोषित करती हैं-

हमारे हरि हरिल की लकरी।

मन बच क्रम नैदंनंदन सों उर यह दृढ़ करि पकरी॥

भ्रमरगीत अपने देशकाल के अनुसार नगर-सभ्यता के प्रतीक मथुरा के खिलाफ लोक जीवन की सहजता को सामने ले आती है। नगर जीवन मनुष्य को ज्ञान के शुष्क बिन्दु पर ला खड़ा करता है। ऐसा ज्ञान जो दुख को भी तथ्य के रूप में देखता है, अनुभव को उपेक्षित करता है। गोपियाँ इस पर तीव्र व्यंग्यात्मक प्रहार करती हैं-

आयो घोष बड़ो व्यापारी।

लाद खेंप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आय उतारी॥

भ्रमरगीत में नगर को कुटिलता, स्वार्थ और छद्म को धारण करने वाले भूगोल के रूप में देखा गया है। वहाँ मथुरा एक ऐसी काजर की कोठरी है जो मनुष्य को मनुष्यत्व से दूर कर देती है-

वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।

इस मथुरा के विरोध में पूरे भ्रमरगीत में प्रकृति का खुला हुआ स्वच्छन्द रूप है।

इस प्रकार भ्रमरगीत लोक-संस्कृति की प्रतिष्ठा करता है। ऐसा करते हुए वह कविता और मनुष्य को मुक्ति की सार्थकता की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है।

प्रश्न: सूरदास के भ्रमरगीत में प्रकृति-वर्णन की विशिष्टताओं का उद्घाटन कीजिये। (300 शब्द)

उत्तर: हिंदी काव्य-परंपरा में प्रकृति के साथ जितना गहरा लगाव और तन्मयता का संबंध सूर-काव्य में दृष्टिगोचर होता है, उतना कहीं नहीं। हिन्दी के अधिकांश कवियों ने प्रकृति का उपयोग उद्दीपन विभाव के रूप में किया है। हिन्दी के अन्य कवियों की तरह सूरदास ने भी आमतौर पर प्रकृति को उद्दीपन विभाव की तरह इस्तेमाल किया है तथा उसमें वैविध्य भी कम है। चूँकि उनकी कविता में प्रकृति का भौगोलिक विस्तार कम है, इसलिये प्रकृति के सीमित रूप ही व्यक्त हुए हैं। आचार्य शुक्ल ने लिखा है- “बाह्य प्रकृति के संबंध में सूरदास जी की दृष्टि बहुत परिमित थी। एक तो ब्रज की गोचारण भूमि के बाहर उन्होंने पैर ही नहीं निकाला, दूसरे उस भूमि का भी पूर्ण चित्र उन्होंने कहीं नहीं खींचा।”

दरअसल सूर के प्रकृति-वर्णन का सौंदर्य उसके भौगोलिक विस्तार में नहीं, मानव-प्रकृति संबंधों की गहराई में है। इसी गहराई के आधार पर प्रकृति कई ऐसे रूपों में आई है, जो सामान्यतः दुर्लभ हैं। पुष्टिमार्गी विश्वास के कारण सूर मानते हैं

कि कृष्ण की लीला में सिर्फ मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी भाग लेते हैं। कृष्ण के मथुरागमन पर गोकुल की गायें भी गहरे विरह में हैं-

“उधो! इतनी कहियो जाय।

अति कृसगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय।”

भ्रमरगीत के प्रकृति वर्णन में एक प्रमुख विशेषता ‘संवेदन आरोप’ की है जिसे पश्चिमी साहित्य में ‘पैथेटिक फैलेसी’ (Pathetic Fallacy) कहा गया है। इसका अर्थ है-अपनी मनोदशा के अनुसार प्रकृति को देखना और उससे अपनी मनोदशा के अनुकूल होने की उम्मीद करना। गोपियाँ प्रकृति से इतनी जुड़ गई हैं कि जो ऋतुएँ प्रकृति पर आती हैं, वे उन पर ही आने लगी हैं-

“निसि दिन बरसत नैन हमारे।

सदा रहति पावस रितु हमपै जबतैं स्याम सिधारे॥”

इसी प्रकार, वे अपनी मनोदशा के अनुकूल प्रकृति से भी विरहदग्ध होने की उम्मीद करती हैं और मधुबन को उलाहना देते हुए कहती हैं-

“मधुबन तुम कत रहत हरे?

विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?

सूर के यहाँ प्रकृति सिर्फ ‘उद्दीपन-विभाव’ और ‘संवेदन-आरोप’ की भूमिकाओं तक सीमित नहीं है, वह मार्गदर्शक और प्रेरक की भूमिका में भी आती है। सूर की गोपियाँ उद्धव को समझाती हैं कि जीवन जीने की कला प्रकृति से ही सीखी जा सकती है-

“ऊधो कोकिल कूजत कानन।

तुम हमको उपदेस करत हो, भस्म लगावत आनन॥”

स्पष्ट है कि सूर के यहाँ प्रकृति कई रूपों में आई है और हर रूप में बेहद मनोहर है। चूँकि सूर सगुण कृष्ण के भक्त हैं, जगत को कृष्ण की ‘लीला’ समझते हैं, प्रकृति को मिथ्या नहीं बल्कि ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते हैं, गोचारण भूमि को कविता का भूगोल बनाते हैं; इसलिये स्वाभाविक है कि प्रकृति उनकी कविता में जितनी मुखर हुई है, किसी भी अन्य कवि की कविता में नहीं।

प्रश्न: ‘शृंगार रस का ऐसा सुंदर उपालम्भ-काव्य दूसरा नहीं है।’ सूरदास के भ्रमरगीत के संदर्भ में इस कथन के औचित्य पर विचार कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: उपालम्भ का अर्थ ‘उलाहना’ होता है। साहित्य में उपालम्भ प्रायः एक रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त होता रहा है और भ्रमर-गीत परम्परा में तो इसे एक विशिष्ट अभिव्यक्ति शैली के रूप में अपनाया गया है। सूर ने अपने भ्रमर-गीत में उपालम्भ के जरिए गोपियों की विरह पीड़ा को मुखर किया है। उपालम्भ के मूल में यह मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है कि किसी भाव के चरम पर पहुँचे व्यक्ति का कथन अधिधात्मक नहीं रह जाता बल्कि उसमें वक्रता आ जाती है। गोपियाँ विरहजन्य पीड़ा से उत्पन्न भावों के शिखर पर हैं; इसलिये उनके कथनों में बाँकपन आ गया है जिससे वाग्विदग्धता पैदा हुई है। और, इसी वाग्विदग्धता, मार्मिकता और भावुकता ने सूर के भ्रमर-गीत को एक आदर्श उपालम्भ काव्य में ढाल दिया है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि “शृंगार रस का ऐसा सुंदर उपालम्भ काव्य दूसरा नहीं है।”

सूर के भ्रमर-गीत में उपालम्भ सिर्फ रूढ़ि-पालन के लिये नहीं आया है। गोपियाँ उलाहने की मुद्रा में तब आती हैं जब उन्हें लग जाता है कि उद्धव उनकी भावनाओं को समझे बिना ही उनके मन में निर्गुण ज्ञान को स्थापित कर देने पर आमादा हैं। गोपियाँ कृष्ण, उद्धव, कूब्जा, प्रकृति और नगरीय जीवन के प्रति उपालम्भ करती हैं। सूर के भ्रमर-गीत में उपालम्भ सिर्फ गोपियाँ ही नहीं करती बल्कि यशोदा भी करती हैं। नन्द कृष्ण को लेकर मथुरा चले गए, किंतु लौटकर वे अकेले ही आए हैं। इस पर यशोदा का मातृ-हृदय दुःख से फट पड़ता है और वे नन्द पर बरस पड़ती हैं-

“नंद! ब्रज लीजै ठोकि बजाय।

देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहाँ गोकुल के राय।”

सूर की गोपियाँ अपने उपालम्भ में कृष्ण की भ्रमर वृत्ति को निशाना बनाती हैं। उन्हें दुख है कि एक तो कृष्ण उनसे मिलने तो नहीं आ रहे हैं; ऊपर से उद्धव को भेजकर उन्हें योग संदेश सिखाना चाहते हैं ताकि वे प्रेम-क्षमता से ही वंचित हो जाएँ। वे नाराजगी से भरकर उद्धव से कहती हैं-

“हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।

इक अति चतुर हुते पहले ही, अरु करि नेह दिखाए।

जानी बुद्धि बड़ी जुवतिन को, जोग संदेस पठाए।”

गोपियाँ उद्धव के प्रति भी तीखे व्यंग्य करती हैं-

“आयो घोष बड़ो व्यापारी।

लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आन उतारी।”

गोपियाँ प्रकृति और नगरीय जीवन के प्रति भी उलाहना करती हैं-

“वह मथुरा काजर की कोठरी, जे आवहिं ते कारे।”

सूर के उपालम्भ काव्य का मूल्यांकन करते हुए यह देखना भी जरूरी है कि हिन्दी के अन्य कवियों के यहाँ उपालम्भ की क्या स्थिति है? वस्तुतः अन्य कवियों के यहाँ कहीं-कहीं उपालम्भ की झलक चाहे मिल जाए किंतु न तो वह बहुत स्पष्ट है और न ही व्यापक।

सच यही है कि उपालम्भ के क्षेत्र में जो अद्भुत सफलता सूर को मिली है, शेष कवि उसके आसपास भी नहीं पहुँच सके हैं। विस्तार और गहराई-दोनों दृष्टियों से सूर का ‘उपालम्भ’ बेजोड़ है।

तुलसीदास

प्रश्न: गोस्वामी तुलसीदास की ‘रामराज्य की परिकल्पना’ पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: तुलसी की रामराज्य की परिकल्पना उनकी राजनीतिक प्रगतिशीलता का सर्वोच्च प्रमाण है। भक्तिकाल के अन्य कवि अपनी तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद राजनीतिक व्यवस्था के प्रश्न पर मौन हैं। परंतु तुलसी इसके प्रति मुखर हैं। वे वर्तमान व्यवस्था के आलोचक हैं (साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल) और इस व्यवस्था के शासकों को भले ही इहलोक में दंड न दे पायें परंतु परलोक में उनके लिए दंड की व्यवस्था करते हैं:

“जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।

सो नर अवस नरक अधिकारी॥”

परंतु कवि का दायित्व केवल वर्तमान व्यवस्था की आलोचना करके समाप्त नहीं हो जाता। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह जिस व्यवस्था की आलोचना कर रहा है उसका विकल्प भी प्रस्तुत करे। तुलसी ने यह विकल्प रामराज्य के रूप में प्रस्तुत किया है। तुलसी का रामराज्य केवल राजनीतिक सिद्धांत नहीं है बल्कि ऐसी अवस्था है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति संपूर्ण सार्थकता के साथ जीता है।

रामराज्य एकदेशीय धारणा नहीं है रामराज्य सारे संसार में एक साथ है- “भूमि सप्त सागर मेखला एक भूप रघुपति कोसला”। साथ-साथ यह एक कल्याणकारी राज्य भी है। रामराज्य में सभी नर और नारी धर्म में रत हैं और किसी को रोग, रोष, दोष या दुःख नहीं है और अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष ये चारों पदार्थ सभी को सुलभ हैं। सभी को परेशान करने वाले त्रय ताप (दैहिक, दैविक भौतिक ताप) रामराज्य में किसी को परेशान नहीं करते (राम राज्य काहुहिं नहीं व्यापा)।

राम राज्य में चारों ओर समृद्धि ही समृद्धि है एवं कहीं भी कोई व्यक्ति किसी प्रकार के ताप-संताप से दुखी नहीं है-

“अल्प मृत्यु नहिं कविनिऊँ पीरा।

सब सुंदर सब विरुज सरीरा।

नहिं दरिद्र कोउ दुःखी न दीना।

नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।”

इस चौपाई में आधुनिक मानव विकास सूचकांक के लगभग सभी पैमाने आ गए हैं।

रामराज्य में तुलसी ने आदर्श राजा एवं प्रजा के कर्तव्यों का निर्धारण करते हुए दोनों के सम्यक संबंध की व्यवस्था की। उनके अनुसार राजा को प्रजा का हितैषी होना चाहिए। प्रजा का धर्म राजा की बात (कानून) मानना है परंतु यदि राजा कुछ अनीति करे तो प्रजा को उसे रोकने का भी अधिकार है-

सोई सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन माने जोई।

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहिं वरजहु भय बिसराई।

कुल मिलाकर तुलसी का रामराज्य एक आदर्श राजव्यवस्था का स्वप्न है और यह स्वप्न आज भी प्रासंगिक बना हुआ है।

प्रश्न: क्या आज के समय में गोस्वामी तुलसीदास के काव्य की कोई प्रासंगिकता है? तार्किक उत्तर दीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: तुलसीदास भक्तिकाल के प्रतिष्ठित कवियों में से एक हैं। उनका काव्य और उनका दृष्टिकोण आज भी उतना ही लोकप्रिय व प्रासंगिक हैं जितना तत्कालीन समय में था।

तुलसी की प्रासंगिकता का एक मुख्य कारण उन समस्याओं की निरंतरता है, जो तुलसी के 'कलियुग' (तत्कालीन समय) में विद्यमान थी और आज भी प्रासंगिक है। तुलसी अपने समाज की जिन सामाजिक विसंगतियों, कपट व मिथ्या आचरण से चिंतित थे- "निराचार जो श्रुतिपथत्यागी, कलियुग सोई ग्यानी सो विरागी", वैसी ही समस्याएँ आज और विकट रूप में नैतिक मूल्यों में गिरावट, बढ़ते अपराधीकरण और भ्रष्टाचार आदि रूपों में दिखायी पड़ती हैं।

गरीबी और बेरोजगारी जिन्हें तुलसीदास ने अपनी कविताओं का केंद्र बिंदु बनाया- "नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं", आज भी पूरे विश्व के समक्ष एक प्रमुख चुनौती के रूप में विद्यमान है। तुलसी के समय सत्ता सेवा की वस्तु न होकर भोग की वस्तु थी। आज के राजनीतिक परिदृश्य में भी अवसरवादी राजनीति के रूप में यह समस्या फल-फूल रही है।

समस्याओं की निरंतरता के साथ-साथ तुलसी की प्रासंगिकता, उनके दृष्टिकोण की मौलिकता के कारण भी अधिक है। उन्होंने तत्कालीन समाज की समस्याओं के निराकरण के लिये जिस 'रामराज्य' की कल्पना की थी, वैसे आदर्श राज्य की आवश्यकता आज के परिदृश्य में भी विद्यमान है।

तुलसी ने 'रामराज्य' का पहला लक्षण लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति बताया-

"राम राज राजत सकल, धरम निरत नर नारि

राग न रोष न दोष दुख, सुलभ पदारथ चारि।"

आज एक लोक कल्याणकारी राज्य का मुख्य उद्देश्य भी लोगों को आधारभूत सुविधायें (भोजन, आवास व जल) उपलब्ध कराना है। तुलसी ने अपने आदर्श राज्य में एक ऐसे समाज की कल्पना की है, जहाँ सभी का स्वास्थ्य उत्तम होगा, कोई गरीब व दुखी नहीं होगा व सभी साक्षर होंगे-

"अल्प मृत्यु नहिं कवनिक पीरा,

सब सुंदर सब विरुज सरीरा;

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना,

नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।"

आज मानव विकास सूचकांक के मुख्य मानक भी यही हैं जिनकी कल्पना तुलसीदास ने मध्य काल में की थी।

तुलसी का मानना था कि राजा को जनता के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिये- "जासु राज प्रिय प्रजा, दुखारी, सो नृप अव नरक अधिकारी"। आज 'अच्छे अभिशासन' का मुख्य तत्व यही 'प्रतिबद्धता' (जवाबदेही व उत्तरदायित्व) ही है।

इस प्रकार तुलसी के विचार व समाज दर्शन देश व काल की सीमाओं से परे हैं और आज भी उतने ही अनुकरणीय हैं जितने मध्यकाल के सामंतवादी युग में थे।

प्रश्न: गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय-चेतना पर प्रकाश डालिये।

(300 शब्द)

उत्तर: किसी भी युग का महान रचनाकार अपने समय के संकटों एवं टकराहटों की पहचान करता है और उसके समानान्तर एक ऐसा मार्ग ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है जहाँ विरोधी पक्ष अपने अतिवादों का परित्याग कर साथ-साथ चल सकें। गोस्वामी तुलसीदास ऐसे ही समन्वयवादी रचनाकार हैं और इसीलिये वे महान रचनाकार भी हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनकी समन्वय-साधना की गंभीर प्रशंसा करते हुए लिखा भी है कि- 'तुलसीदास को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उसका कारण यह था कि वे समन्वय की विशाल बुद्धि लेकर उत्पन्न हुए थे। भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर सामने आया हो।'

वस्तुतः तुलसीदास मध्यकाल के जिस सामंती परिवेश में विद्यमान थे, उसमें अनेक विरोधी शक्तियाँ समाज के विभिन्न स्तरों पर संघर्षरत थीं। तुलसीदास ने उन विरोधी विचारधाराओं में समन्वय स्थापित कके अत्यंत लोककल्याणकारी कार्य किया। दर्शन एवं साधना के धरातल पर समन्वय की चेष्टा करते हुए तुलसीदास ने भक्तिविरोधी ज्ञान को खारिज किया, किंतु भक्ति और ज्ञान में गहरा समन्वय स्थापित करते हुए लिखा-

‘भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कछु भेदा।’

निर्गुण एवं सगुण के जटिल विवाद के शमन का प्रयत्न करते हुए उन्होंने कहा-

‘सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मनु पुरान बुध वेदा।।’

शैव और वैष्णव के मतभेद को सुलझाने के लिये उन्होंने प्रायः शिव और राम को एक-दूसरे का भक्त बताया।

सामाजिक धरातल पर तुलसीदास ने पुरुष व नारी में, विभिन्न वर्णों में समन्वय का प्रयत्न किया। पारिवारिक धरातल पर पिता और पुत्र के बीच, भाई-भाई के बीच माँ और पुत्र के बीच आदि स्तरों पर समन्वय किया। तात्कालीन लोगों की मानसिकता को लक्षित करते हुए उन्होंने भाग्य तथा पुरुषार्थ में, भोग तथा त्याग में समन्वय किया।

राजनीतिक धरातल पर उन्होंने राजा व प्रजा के कर्तव्यों का निर्धारण करते हुए दोनों के सम्यक् संबंध की व्यवस्था कर राजा व प्रजा के बीच समन्वय स्थापित किया। जब वे ‘नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना’ कहते हैं तो आर्थिक स्तर पर भी उनकी समन्वय भावना दिखाई देती है। भाषा के धरातल पर भी उन्होंने संस्कृत और लोकभाषा का अद्भुत समन्वय किया। समग्रतः तुलसीदास समन्वय की विराट् चेष्टा करने वाले कवि हैं। उनकी इस समन्वय-भावना ने मध्यकाल के बिखरते हुए समाज को बाँधने का महत् कार्य तो किया ही, भविष्य के लिये भी एक समाज-दृष्टि प्रदान की।

प्रश्न: ‘तुलसी की कविता ‘रामचरितमानस’ में संभवतः सबसे अधिक तन्मय होती है राम-भरत के मिलाप के अवसर पर।’- इस बात की सोदाहरण परीक्षा कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: रामचरितमानस तुलसी का प्रौढतम काव्य ग्रंथ है। यह हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है जिसमें तुलसी का प्रबंध कौशल अपने चरम रूप में दिखता है। प्रबंध कौशल की सबसे बड़ी कसौटी है रसात्मक स्थलों की सही पहचान। कथा के बीच बीच में रसात्मक स्थलों का ऐसा समावेश होना चाहिए कि पाठक को भावनाओं में डूबने का अवसर मिले और इस दृष्टि से तुलसी बेजोड़ हैं। पुष्पवाटिका प्रसंग, राम वनगमन प्रसंग, राम-भरत मिलाप प्रसंग आदि में वे भावनाओं के मर्म तक पहुँचे हैं। परंतु तुलसी की कविता ‘रामचरितमानस’ में संभवतः सबसे अधिक तन्मय राम-भरत मिलाप के अवसर पर हुई है।

राम-भरत मिलाप मूल रूप से एक छोटा सा प्रसंग है जिसमें कुल मिलाकर राम व भरत का मिलाप तथा भरत का राम से वापस लौटने का अनुरोध है। इन भाइयों में इतना गहरा प्रेम है कि राम-लक्ष्मण को वापस लाने के लिए भरत-शत्रुघ्न वन में रहने को तैयार हैं। इस प्रस्ताव पर सब अपना-अपना हानि लाभ जोड़ रहे हैं पर माताएँ दुविधा ग्रस्त हैं क्योंकि अंततः उनके दो बेटे तो वन में रहेंगे ही। तुलसी ने इसका बड़ा सुंदर चित्र खींचा है-

“बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुख सुख सब रोवहिं रानी।”

राम-भरत मिलाप होने पर राम यह बताने का अधिकार भरत को सौंप देते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए। भरत कोई निर्णय कर पाएँ इससे पहले ही राजा जनक भी वहीं आ जाते हैं। इसके बाद पाँच दिन तक अनिर्णय की स्थिति बनी रहती

है जो प्रसंग के नाटकीय प्रभाव को बढ़ाती है। अंततः भरत निर्णय का अधिकार पुनः श्री राम को देते हैं और राम के निर्णय के समय नाटकीय तनाव चरम पर पहुँचता है।

नाटकीय तनाव से अधिक महत्व इस प्रसंग का पारिवारिक मूल्यों की स्थापना के लिए है। बड़े भाई और छोटे भाई के बीच कैसा विश्वास होना चाहिए यह राम और भरत के संबंध में दिखता है। इसी प्रकार माता का आदर्श रूप कौशल्या में दिखता है। सीता के रूप में आदर्श बहू व पत्नी का चित्रण है। तुलसी ने रामचरितमानस के माध्यम से जिस आदर्श परिवार की परिकल्पना को सुस्थापित किया है उसका सघनतम रूप भरत मिलाप के प्रसंग में ही दिखता है।

इस पूरे प्रसंग में तुलसी की तन्मयता चरम पर है इसीलिए उन्होंने पूरे प्रसंग को ही भक्तिमय बना दिया है। भरत भक्ति में निमग्न हैं। गुरु विशिष्ट सहित सारा मुनि समाज भक्ति रस में आकंठ डूबा है और मिथिला तथा अयोध्या के वासी भी भक्ति में डूबे हैं।

काव्यकला की दृष्टि से भी यह प्रसंग तुलसी के श्रेष्ठतर कार्यों में से एक है। अनुप्रास और रूपक के तो वे सम्राट हैं ही पर इस प्रसंग में उन्होंने विरोधाभास, अनन्वय तथा दृष्टान्त जैसे अलंकारों का भी सधा हुआ प्रयोग किया है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि तुलसी की कविता 'रामचरितमानस' में संभवतः सबसे अधिक तन्मय राम-भरत मिलाप के अवसर पर ही हुई है।

प्रश्न: 'रामचरितमानस' के महाकाव्यत्व पर विचार कीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी साहित्य के एक हजार वर्षों की परंपरा में रामचरितमानस को सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। काव्यशास्त्र में महाकाव्यत्व का निर्धारण दो प्रकार के प्रतिमानों के आधार पर होता है- पारंपरिक व आधुनिक। पारंपरिक प्रतिमानों में समग्र सांस्कृतिक चित्रण, नायक का धीरोदात्त होना, आठ या अधिक सर्गों की उपस्थिति, छंद वैविध्य, चारों पुरुषार्थों का वर्णन तथा वीर, शृंगार या शांत किसी एक का अंगीरस होना महत्वपूर्ण है। आधुनिक साहित्य चिन्तन में महाकाव्यत्व के निर्धारण हेतु कुछ आंतरिक लक्षणों पर बल दिया जाता है, जैसे उदात्त कार्य, उदात्त चरित्र, उदात्त भाव, उदात्त कथानक, उदात्त प्रभाव तथा उदात्त शैली इत्यादि। जहाँ तक रामचरितमानस का प्रश्न है, वह दोनों ही दृष्टियों से श्रेष्ठ महाकाव्य है।

पारंपरिक दृष्टि से रामचरितमानस का अंगीरस 'शांत' है जो महाकाव्योचित है। अपने समय के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक परिदृश्यों का वर्णन तो इसमें किया ही गया है, साथ ही प्रत्येक अंतर्विरोध और बिखराव के शमन की चेष्टा भी विद्यमान है। इसके नायक राम का चरित्र हर दृष्टि से धीरोदात्त है। रचना का प्रभाव नैतिक दृष्टि से उत्कर्षकारी है। इसमें छंद वैविध्य कुछ कम है और काण्ड भी सात ही हैं, किंतु इन एकाध अपवादों को छोड़ दें तो यह महाकाव्य की सभी कसौटियों पर खरा उतरता है।

रामचरितमानस के महाकाव्यत्व का ज्यादा बेहतर मूल्यांकन आधुनिक कसौटियों के आधार पर किया जा सकता है। इस दृष्टि से महाकाव्य का पहला लक्षण है 'उदात्त भाव'। रामचरितमानस का मुख्य भाव 'शांत' है जो रामराज्य की स्थापना तथा सभी व्यक्तियों के दैहिक, दैविक व भौतिक ताप के नष्ट होने से अर्जित हुई है। इसमें शांत के अतिरिक्त वीर रस भी पर्याप्त मात्रा में है किंतु यह वीरता मध्यकाल के सामंतों वाली नहीं है जो सिर्फ अपने स्वार्थ व लालच पर टिकी हुई हो। यह क्षात्र-धर्म पर टिकी वीरता है जिसके मूल में लोकमंगल का भाव है। राम लोकमंगल के लिये ही अवतरित हुए हैं-

"जब जब होय धरम कै हानी। बाढ़ैं असुर अधम अभिमानी।

तब-तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा॥"

महाकाव्य का दूसरा लक्षण है 'उदात्त चरित्र'। रामचरितमानस के 'राम' भारतीय साहित्य परंपरा के सबसे उदात्त नायक हैं। वीरता, शक्ति, शील, विनम्रता, त्यागशीलता आदि का सम्मिश्रण उनके चरित्र को चरम उदात्तता प्रदान करता है।

जहाँ तक 'उदात्त प्रभाव' का प्रश्न है, इस दृष्टि से रामचरितमानस का कोई सानी नहीं है। मध्यकाल की बिखरती हुई पारिवारिक मर्यादाओं को पुनः संगठित करने में इसकी अप्रतिम भूमिका रही है। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक जीवन के हर पक्ष के बिखराव को अपनी समन्वय चेतना से परस्पर जोड़ देने की दृष्टि से भारतीय समाज इस कविता का ऋणी है।

रामचरितमानस का कथानक भी उदात्त है। 'उदात्त कथानक' की शर्त है कि सामाजिक जीवन की समग्रता को उभारने के लिये उसमें पर्याप्त घटनाएँ हों, विभिन्न घटनाओं में संबंध-निर्वाह व आनुपातिक मर्यादा समुचित हो तथा परिस्थितियों की जटिलता ऐसी हो कि कथानक से पैदा होने वाला तनाव पाठक को अपने भीतर डुबा ले। रामचरितमानस सिर्फ राम की कथा नहीं है बल्कि राम के माध्यम से संपूर्ण समाज की कथा है। वह मानवों के साथ-साथ मानवेतर प्राणियों जैसे वानरों, भालुओं व जटायु जैसे पक्षियों की भी कथा है। अतः यह संपूर्ण ब्रह्माण्ड को चेतना के स्तर पर समेटने वाली कविता है। इसमें जीवन की सारी समस्याएँ विद्यमान हैं चाहे वे सामाजिक हों, राजनीतिक या आर्थिक। साथ ही इन सभी के समाधान भी हैं। कथानक की जटिलता अत्यंत प्रभावी है। राज्याभिषेक के समय वनवास की घोषणा का प्रसंग हो या वनवास के भीतर दुनिया के सबसे ताकतवर राजा द्वारा पत्नी सीता के हरण का प्रसंग हो, इन महाजटिल परिस्थितियों ने कथानक को नाटकीय तनाव से संपन्न किया है।

रामचरितमानस में 'उदात्त कार्य' भी विद्यमान हैं। इसमें कार्य है सीता की मुक्ति तथा रामराज्य की स्थापना। सीता की मुक्ति पत्नी की मुक्ति के रूप में तो उदात्त है ही, व्यापक अर्थ में यह सिर्फ पत्नी की मुक्ति न होकर नारी की मुक्ति तथा अन्यायपूर्ण शक्ति के चंगुल से किसी भी प्राणी की मुक्ति का प्रतीक है। रामराज्य भी सिर्फ राम की राजनीतिक उपलब्धि न होकर विश्व के हर प्राणी की दैहिक-दैविक भौतिक तापों से मुक्ति है।

रामचरितमानस की शैली भी औदात्य से संपन्न है। इसकी भाषा लोकजीवन में प्रचलित अवधी है किंतु तुलसी ने संस्कृत शब्दावली का अवधीकरण करते हुए उसके रस को भी इसमें शामिल कर दिया है। चरित्र-योजना में अद्भुत सूक्ष्मता, अनुप्रासों की बादशाहत, ध्वनि-मैत्री का सर्वश्रेष्ठ स्तर और रूपक व सांगरूपक का सधा हुआ प्रयोग-इन विशिष्ट खूबियों के साथ-साथ काव्य के सभी शोभाकारक धर्मों के सतुलित प्रयोग ने रामचरितमानस को ऐसी काव्यशैली से संपन्न किया है कि आज तक कोई प्रबंधकाव्य इसकी बराबरी नहीं कर सका है।

प्रश्न: आपके मत से कबीर और तुलसी में किसे 'लोकनायक' की संज्ञा देना अधिक उचित होगा? तार्किक उत्तर दीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: कबीर और तुलसी दोनों ही हिन्दी साहित्येतिहास के महान रचनाकार हैं। किंतु, कबीर की कविता जहाँ अपने युग यथार्थ की पहचान मात्र करती है, वहीं तुलसी की कविता समाधान का रास्ता भी तलाशती है। वस्तुतः किसी भी युग का महान रचनाकार अपने समय के संकटों एवं टकराहटों की पहचान करता है और उसके समानान्तर एक ऐसा मार्ग ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है जहाँ विरोधी पक्ष अपने अतिवादों का परित्याग कर साथ-साथ चल सकें। गोस्वामी तुलसीदास ऐसे ही समन्वयवादी रचनाकार हैं और इसीलिये वे महान रचनाकार भी हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनकी समन्वय-साधना की गंभीर प्रशंसा करते हुए लिखा भी है कि- 'तुलसीदास को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उसका कारण यह था कि वे समन्वय की विशाल बुद्धि लेकर उत्पन्न हुए थे। भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर सामने आया हो।'

वस्तुतः तुलसीदास मध्यकाल के जिस सामंती परिवेश में विद्यमान थे, उसमें अनेक विरोधी शक्तियाँ समाज के विभिन्न स्तरों पर संघर्षरत थीं। तुलसीदास ने इन विरोधी विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करके अत्यंत लोककल्याणकारी कार्य किया। दर्शन एवं साधना के धरातल पर समन्वय की चेष्टा करते हुए तुलसीदास ने भक्तिविरोधी ज्ञान को खारिज किया, किंतु भक्ति और ज्ञान में गहरा समन्वय स्थापित करते हुए लिखा-

'भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कछु भेदा।'

निर्गुण एवं सगुण के जटिल विवाद के शमन का प्रयत्न करते हुए उन्होंने कहा-

'सागुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मनु पुरान बुध वेदा।।'

शैव और वैष्णव के मतभेद को सुलझाने के लिये उन्होंने प्रायः शिव और राम को एक-दूसरे का भक्त बताया।

सामाजिक धरातल पर तुलसीदास ने पुरुष व नारी में, विभिन्न वर्णों में समन्वय का प्रयत्न किया। पारिवारिक धरातल पर पिता और पुत्र के बीच, भाई-भाई के बीच माँ और पुत्र के बीच आदि स्तरों पर समन्वय किया। तात्कालीन लोगों की मानसिकता को लक्षित करते हुए उन्होंने भाग्य तथा पुरुषार्थ में, भोग तथा त्याग में समन्वय किया।

राजनीतिक धरातल पर उन्होंने राजा व प्रजा के कर्तव्यों का निर्धारण करते हुए दोनों के सम्यक् संबंध की व्यवस्था कर राजा व प्रजा के बीच समन्वय स्थापित किया। जब वे 'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना' कहते हैं तो आर्थिक स्तर पर भी उनकी समन्वय भावना दिखाई देती है। भाषा के धरातल पर भी उन्होंने संस्कृत और लोकभाषा का अद्भुत समन्वय किया। समग्रतः तुलसीदास समन्वय की विराट चेष्टा करने वाले कवि हैं। उनकी इस समन्वय-भावना ने मध्यकाल के बिखरते हुए समाज को बाँधने का महत् कार्य तो किया ही, भविष्य के लिये भी एक समाज-दृष्टि प्रदान की।

निश्चित रूप से गोस्वामी तुलसीदास लोकनायकत्व की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

बिहारी

प्रश्न: सतसई परम्परा में बिहारी सतसई का स्थान निर्धारित कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: भारतीय साहित्य परंपरा में साहित्यिक रचनाओं के संख्यामूलक नामकरण की प्रवृत्ति आरंभ से ही दिखाई पड़ती है, जिसके बहुत से उदाहरण हैं, जैसे- 'बेताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'हनुमान चालीसा' 'उद्धव शतक' आदि। इसी तरह की रचनाओं में एक विस्तृत रचना 'सतसई' कहलाती है जो संस्कृत 'सप्तशती' शब्द का तद्भव रूप है। संस्कृत में गोवर्धनाचार्य ने 'आर्यासप्तशती' की रचना की और प्राकृत में राजा हाल सातवाहन ने 'गाथा सप्तशती' या 'गाथा सतसई' की रचना की। इन रचनाओं के प्रभाव के कारण हिन्दी साहित्य में भी सतसई परंपरा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी शुरुआत का श्रेय 'तुलसी सतसई' के रचयिता महाकवि तुलसीदास को प्राप्त है। मध्यकाल में लिखी गई कुछ अन्य प्रमुख सतसई रचनाएँ हैं- 'वृन्द सतसई', 'भूपति सतसई', 'रहीम सतसई', 'मतिराम सतसई', 'विक्रम सतसई' इत्यादि।

सतसई परंपरा में 'बिहारी सतसई' को निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ रचना माना जाता है। इसका प्रमाण यह है कि 'बिहारी सतसई' की रचना के बाद इसकी प्रसिद्धि इतनी बढ़ती गई कि धीरे-धीरे 'सतसई' संज्ञा 'बिहारी सतसई' के लिए ही रूढ़ हो गई। एक प्रसिद्ध लोककथन 'सतसई' के इसी महत्व को प्रमाणित करता है-

“सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर,
देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर।”

सतसई परंपरा में 'बिहारी सतसई' के सर्वश्रेष्ठ होने के मुख्यतः दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि जहाँ अन्य सतसइयाँ किसी एक विषय को लेकर चली हैं, वहीं 'बिहारी सतसई' में चमत्कृत कर देने वाला विषय-वैविध्य है। 'बिहारी सतसई' में शृंगार की केंद्रीयता के साथ-साथ भक्ति के दोहे भी हैं, धार्मिक आडंबरों और सामाजिक अव्यवस्थाओं पर व्यंग्य भी हैं, कुछ मात्रा में राजनीतिक चिंताएँ भी हैं।

'बिहारी सतसई' की उत्कृष्टता का दूसरा कारण यह है कि यह शिल्प की दृष्टि से भी बाकी सतसइयों पर भारी पड़ती है। ब्रजभाषा में सूरदास ने जो संगीतात्मकता और तन्मयता पैदा की थी, उसे पूर्णता तक बिहारी ने ही पहुँचाया है। भाषा की समाहार क्षमता, शब्दों का बहुलार्थी प्रयोग, अनुभाव विधान की बारीकियाँ, अलंकारों का चमत्कारी प्रयोग और बिंबों की मर्मस्पर्शी योजना- ये सभी विशेषताएँ शिल्प की दृष्टि से इसे 'सतसई परंपरा' की महानतम कृति बना देती हैं। संभवतः इसीलिए ग्रियर्सन को कहना पड़ा कि पूरे यूरोप में एक भी रचना बिहारी सतसई की टक्कर की नहीं है।

प्रश्न: बिहारी की बिंब-योजना पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: बिहारी जिस संस्कृत काव्यशास्त्र को आधार बनाकर चले हैं, उसमें बिंब की कोई स्पष्ट धारणा मौजूद नहीं थी। इसके बावजूद, कोई भी सजग कवि यह समझता है कि कविता सिर्फ मस्तिष्क तक पहुँचे तो प्रभावशून्य होती है। उसका प्रभाव तभी सघन होता है जब वह पाठक के भीतर ऐन्द्रिक चित्रों की शृंखला निर्मित कर दे, पाठक की सारी चेतन शक्तियों को कविता के आस्वादन में डुबा सके।

इसी कारण बिहारी के काव्य में बिंब कदम-कदम पर नज़र आते हैं। उनका एक भी दोहा ऐसा नहीं मिलता जिसमें बिंबों का चमत्कार नज़र न आता हो। निम्नलिखित दोहा उनकी बिंब योजना का चरम उदाहरण माना जाता है-

“कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात,
भरे भौन में करत हैं, नैननु ही सों बात।”

इस दोहे में सिर्फ एक स्थिर चित्र नहीं है, चित्रों की त्वरित शृंखला है जिसका आस्वादन एक छोटे से चलचित्र को देख लेने जैसा है। पहले वाक्य में नायक और नायिका की सात क्रमिक चेष्टाओं का वर्णन है और हर वर्णन इतना स्वाभाविक और जीवंत है कि पाठक की आँखों में एक सभा के भीतर बैठे चंचल नायक और नायिका का चित्र तैर जाता है। इतना सघन बिंब कौशल एक हजार वर्ष की हिन्दी कविता में शायद ही किसी कवि के यहाँ दिखाई पड़ता है।

बिहारी अमूर्त से अमूर्त भाव को भी चित्रों की भाषा में सजा देना चाहते हैं जिसे तकनीकी भाषा में 'उपलक्षित बिंब' कहा जाता है। निम्नलिखित दोहा ऐसा ही एक उदाहरण है। इसमें बिहारी ने अपने काव्य और कला प्रयोजन को स्पष्ट किया है, किन्तु वह अमूर्त सा विचार भी बेहद मूर्त होकर व्यक्त हुआ है-

"तंत्रीनाद, कवित रस, सरस राग, रति रंग,
अनबूढ़े बूढ़े तरे, जे बूढ़े सब अंग।"

बिहारी की बिंब योजना की सफलता का एक महत्वपूर्ण कारण है-अनुभाव विधान का उनकी कविता में केंद्र में होना। वे विभावों के नहीं, अनुभावों के कवि हैं। इस सघन अनुभाव योजना ने बिहारी को अद्भुत बिंब कौशल दिया है जिसकी एक ज़बरदस्त अभिव्यक्ति निम्नलिखित दोहे में दिखाई पड़ती है-

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय,
सौंह करे, भौंहनु हँसे, दैन कहे, नट जाय।"

बिहारी के बिंब मुख्यतः दृश्य बिंब हैं, किन्तु कई स्थानों पर उन्होंने श्रव्य और गंध बिंबों की भी सुंदर सृष्टि की है।

कुल मिलाकर, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि हिन्दी के जिन कवियों ने बिंब क्षमता को उच्चतम स्तर तक साधा है, उनमें बिहारी सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके बिंब रीतिकाल की चमक-दमक और उत्सवधर्मी माहौल को पाठक की आँखों में हू-ब-हू उतार देते हैं। बिंब क्षमता की दृष्टि से यदि कोई कवि उनसे मुकाबला कर सकता है तो वे सूर और निराला जैसे महाकवि ही हैं, शेष कोई नहीं।

प्रश्न: बिहारी की समाहार-शक्ति पर प्रकाश डालिए।

(225 शब्द)

उत्तर: हिन्दी काव्य की पूरी परंपरा में भाषा की समाहार-शक्ति का जैसा निदर्शन रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि बिहारी करा पाए हैं, वैसा किसी अन्य कवि की कविता में दिखाई नहीं देता। उन्होंने अपने दोहों में बेहद कम शब्दों में जिन विविध-क्षेत्रों को समाहित किया है, वह उनकी समाहार क्षमता का परिचायक है।

बिहारी दोहे जैसे लघु छंद में नायक-नायिका की विविध चेष्टाओं का शृंगारिक वर्णन कर भावक को रसानुभूति के स्तर तक ले जाते हैं-

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय,
सौंह करें भौंहनु हँसे, दैन कहे नटि जाय।"

अपनी समाहार-क्षमता के कारण ही वे अपने दोहों में अनुभावों की सघन योजना और ऐन्द्रिक चित्रों की शृंखला की प्रस्तुति इस तरह कर पाए हैं कि दूर-दूर तक उनका कोई सानी नहीं है। वे एक ही वाक्य में सात क्रियाओं को इस प्रकार गूँथते हैं कि भावक को नायक-नायिका के चलचित्र के प्रत्यक्ष आस्वादन का-सा अहसास होने लगता है-

"कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात
भरे भौन में करत हैं, नैननु ही सौ बाता।"

भाषा की समाहार-शक्ति पर अपनी पकड़ के कारण बिहारी ने अपने दोहों में जिस प्रकार बहुत कम शब्दों में बहुत अधिक कह देने का कौशल दिखाया है, वह सचमुच ही 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करता है उनके संबंध में बिल्कुल ठीक कहा गया है कि-

"सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर,
देखन में छोटन लगै, घाव करै गंभीर।"

प्रश्न: 'बिहारी के काव्य में समाज-सजगता भी दिखाई देती है।' इस मत के औचित्य पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी समीक्षा की औसत राय यह है कि बिहारी के काव्य में कलात्मक सौंदर्य और चमत्कार चाहे कितना ही अनूठा हो किन्तु सामाजिक समस्याओं और लोक-जीवन के प्रति बिहारी बेपरवाह नज़र आते हैं। किन्तु, कुछ समीक्षकों ने बिहारी के काव्य का पुनर्मूल्यांकन किया है और उनका दावा है कि बिहारी की कई कविताएँ न सिर्फ अपने समाज का परिचय देती हैं बल्कि समाज में उपस्थित गलत चीजों के प्रति आक्रामक रुख भी अपनाती हैं।

इस संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण विशेषता बिहारी की राजनीतिक चेतना में नज़र आती है। बिहारी दरबारी कवि थे, इसलिए स्वाभाविक था कि वे अपने राजा की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करें, किन्तु उन्होंने अपने राजा की कमियों को भी उभारा है। अपने राजा जयसिंह को बिहारी ने एक दोहा लिखकर भेजा जो उन्हें राजनीतिक दायित्वों को याद दिलाने के लिए पर्याप्त था। कहा जाता है कि इस दोहे ने जयसिंह का हृदय परिवर्तन कर दिया-

“नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल,
अली कली ही सों बंध्यौ, आगे कौन हवाला।”

इसी प्रकार, बिहारी मुगल शासकों के प्रति राजा जयसिंह की नीति से भी क्षुब्ध थे। जयसिंह का समझौता मुगल शासकों से हो गया था और मुगलों के निर्देश पर वह अपने आसपास के राजाओं और सामंतों को रौंद डालता था। बिहारी को यह नापसंद था। वे लिखते हैं-

“स्वारथ सुकृत न श्रमु वृथा, देखि विहंग विचारि,
बाज पराये पानि परी, तूँ पच्छीनु न मारि।”

बिहारी की सामाजिक चेतना का एक महत्वपूर्ण पक्ष धार्मिक, सामाजिक व पारिवारिक संदर्भों में नज़र आता है। निम्नलिखित उदाहरण में वे धर्म के क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न आडंबरों पर चोट कर रहे हैं जो तत्कालीन समाज में जनसाधारण को परेशान करते थे-

“जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम,
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै राम।”

बिहारी ने पारिवारिक जीवन के बिखराव को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। संयुक्त परिवार के भीतर सामाजिक मर्यादाओं को बनाए रखने के लिए कभी-कभी स्त्रियों को किस दशा से गुज़रना पड़ता है, इसकी गहरी समझ बिहारी को थी-

“कहति न देवर की कुमति, कुलतिय कलह डराति,
पंजर-गत मंजार ढिग, सुक लौँ सूकति जाति।”

बिहारी के काव्य में समाज में प्रचलित अंधविश्वासों पर भी पर्याप्त व्यंग्य नज़र आता है। विशेष रूप से उन्होंने ज्योतिषियों और वैद्यों को अपने आक्रमण का निशाना बनाया है।

बिहारी के लोकपक्ष के अंतर्गत एक महत्वपूर्ण संदर्भ यह भी है कि उनकी कविता के नायक और नायिका राजसी वर्ग से नहीं बल्कि साधारण मध्यवर्ग से हैं।

इन उदाहरणों के बावजूद, यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि बिहारी सतसई में ऐसे प्रसंग संख्या में बहुत कम हैं जो लोक चेतना का निर्वाह करते हैं।

स्पष्ट है कि बिहारी का काव्य सामाजिक चेतना से पूर्णतः वंचित नहीं है। दरबार के दबावों को झेलते हुए जहाँ कहीं भी मौका मिला, उन्होंने समाज के चित्र खींचे और कमियों पर चोट की। उनकी सामाजिक चेतना कबीर या तुलसी जैसी नहीं हो सकती क्योंकि दरबार के कवि में इतना नैतिक साहस नहीं होता कि सामाजिक दायित्वों के निर्वाह के लिए सुविधाओं को लात मार सके। इसी संदर्भ में बिहारी की सामाजिक चेतना को समझा जा सकता है।

प्रश्न: 'बिहारी' की बहुज्ञता पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवियों में जिन कारणों से बिहारी सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं, उनमें से एक कारण उनकी बहुज्ञता भी है। ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बिहारी की अच्छी पहुँच थी जिसने उनकी काव्यात्मकता को गहराई एवं विस्तार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बिहारी की इस बहुज्ञता का प्रमाण बिहारी सतसई के दोहे उपस्थित करते हैं।

बिहारी के दोहों में कहीं ज्योतिष, कहीं वैद्यक, कहीं गणित शास्त्र के ज्ञान के प्रमाण मिलते हैं, तो कहीं पौराणिक और ऐतिहासिक ज्ञान के सूचक संदर्भ भी उपलब्ध होते हैं। उनकी बहुज्ञता को तीन स्तरों 'शास्त्रों का ज्ञान', 'इतिवृत्त का ज्ञान' और 'लोकवृत्त का ज्ञान' के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। शास्त्रज्ञान के स्तर पर हम पाते हैं कि बिहारी को ज्योतिष शास्त्र का बहुत ज्ञान था। उन्होंने अपने दोहों में ज्योतिष के सिद्धान्तों का निरूपण किया है। ज्योतिष का यह एक सिद्धान्त है कि एक राशि पर जब मंगल, चंद्रमा और वृहस्पति आ जाते हैं तब सारी पृथ्वी वर्षा के कारण जलमयी हो जाती है। इस बात को नारी (स्त्री, नाड़ी या राशि) शब्द के साथ कवि ने खूब समझाया है-

“मंगल बिन्दू सुरंगु, मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु।

इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत॥”

बिहारी के दोहों में 'आयुर्वेद' शास्त्र का ज्ञान भी परिलक्षित होता है। आयुर्वेद का प्रसिद्ध सुदर्शन चूर्ण भयंकर से भयंकर ज्वर का नाश कर देता है। नायिका का भी काम-ज्वर अपने नायक के सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) के द्वारा ही विनष्ट होगा। इसे कवि ने इस दोहे में इस प्रकार बताया है-

यह विनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।

जरी विषम जुर जइयँ आई सुदरसनु देहु॥

ज्योतिषशास्त्र और आयुर्वेदशास्त्र के अतिरिक्त गणितशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, कामशास्त्र, संगीतशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि का भी बिहारी को परिज्ञान था जिसके प्रमाण उनके दोहों में मौजूद हैं।

इतिवृत्त के ज्ञान के स्तर पर हम देख सकते हैं कि बिहारी सतसई में ऐसे अनेक दोहे मिलते हैं जिनका आधार पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यान बतलाये जाते हैं। उन्होंने रामायण और महाभारत काल के उपमानों का वर्णन किया है जो बिहारी के पौराणिक ज्ञान को विज्ञापित करता है-

विरह-विभा-जल-परस बिनु, बसियतु मो मन लाल।

कछु जानत जल थम्भविधि, दुर्योधन लौ लाल॥

इसी प्रकार द्रौपदी का चीर-हरण, गोवर्धनधारन, इन्द्र का मान-मर्दन तथा सीता की अग्नि परीक्षा एवम् शिव-कृष्ण का युद्ध भी बिहारी के दोहों में सांकेतिक रूप से मिलता है।

लोकवृत्त के ज्ञान के स्तर पर बिहारी की रचनाओं में सर्वांगीण जीवन का चित्रण मिलता है। कहीं वे राजनीति, राजधर्म के विषय में अपना मत व्यक्त करते हैं, कहीं लोक-जीवन के विषय में, तो कहीं समाज, कहीं कर्मकाण्ड, कहीं नीति तथा मनोविज्ञान, तो कहीं परम्पराओं का, युद्धों का जो विशद तथा व्यापक वर्णन बिहारी की सतसई में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

बिहारी की रचनाओं पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे एक बहुश्रुत कवि हैं। उपर्युक्त विवेचित सभी विषयों में उनकी गहरी पकड़ थी- ऐसा कहना तो संभव नहीं, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता कि विविध ज्ञानानुशासनों एवं जीवनानुभवों से वे उतना परिचित अवश्य थे जितना कि एक सजग रचनाकार से अपेक्षा की जाती है और इस दृष्टि से हम उन्हें एक बहुज्ञ कवि मान सकते हैं।

प्रश्न: 'भावों का उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। उनकी कविता शृंगारी है पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे रह जाती है।' इस मत के संदर्भ में बिहारी के काव्य का अवगाहन कीजिये।

(225 शब्द)

उत्तर: आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बिहारी के काव्य में निहित शृंगारिकता की सीमा का संकेत करते हुए अपने ग्रंथ हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि “भावों का उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। उनकी कविता शृंगारी है पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे रह जाती है।”

वस्तुतः बिहारी के शृंगार-चित्रण का अवगाहन करने पर हम लक्षित करते हैं कि उनका शृंगार-चित्रण काव्यशास्त्र का अनुगमन करने वाला शारीरिक और मांसल है। उसमें नायिका की शारीरिक भाव-भंगिमाओं और मुद्राओं का विलासता और ऐश्वर्य युक्त अंकन मिलता है किंतु हृदय के स्तर पर प्रेम की विह्वलता और प्रगाढ़ता अनुपस्थित है। उदात्त प्रेम में जो त्याग और समर्पण का भाव होता है वह बिहारी के शृंगार-वर्णन में दिखायी नहीं देता। बिहारी की नायिका प्रेम के इन मूल्यों से अपरिचित दिखायी देती है। बिहारी ने उसे रति-क्रिया पर केंद्रित कर दिया है-

‘पति रति की बतियाँ कही, सखी लखी मुस्काइ।’

बिहारी की नायिका के प्रेम का एकमात्र लक्ष्य इसी रति-सुख को उपलब्ध करना है, उसे किसी अन्य प्रकार की मोक्ष-मुक्ति नहीं चाहिये-

“चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट लपटानि।

ए जिहिं रति सौ रति मुक्ति, औ मुक्ति अति हानि॥”

प्रेम के उदात्त स्वरूप की अन्य विशेषताएँ अनन्यता और एकनिष्ठता भी बिहारी के शृंगार-चित्रण में दिखाई नहीं देती। वहाँ नारी सुलभ लज्जा और संकोच भी मौजूद नहीं है।

इसलिये आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त मत उचित जान पड़ता है।

प्रश्न: बिहारी की बहुज्ञता पर विचार कीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवियों में जिन कारणों से बिहारी सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं, उनमें से एक कारण उनकी बहुज्ञता भी है। ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बिहारी की अच्छी पहुँच थी जिसने उनकी काव्यात्मकता को गहराई एवं विस्तार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बिहारी की इस बहुज्ञता का प्रमाण बिहारी सतसई के दोहे उपस्थित करते हैं।

बिहारी के दोहों में कहीं ज्योतिष, कहीं वैद्यक, कहीं गणित शास्त्र के ज्ञान के प्रमाण मिलते हैं, तो कहीं पौराणिक और ऐतिहासिक ज्ञान के सूचक संदर्भ भी उपलब्ध होते हैं। उनकी बहुज्ञता को तीन स्तरों ‘शास्त्रों का ज्ञान’, ‘इतिवृत का ज्ञान’ और ‘लोकवृत का ज्ञान’ के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। शास्त्रज्ञान के स्तर पर हम पाते हैं कि बिहारी को ज्योतिष शास्त्र का बहुत ज्ञान था। उन्होंने अपने दोहों में ज्योतिष के सिद्धान्तों का निरूपण किया है। ज्योतिष का यह एक सिद्धान्त है कि एक राशि पर जब मंगल, चंद्रमा और वृहस्पति आ जाते हैं तब सारी पृथ्वी वर्षा के कारण जलमयी हो जाती है। इस बात को नारी (स्त्री, नाडी या राशि) शब्द के साथ कवि ने खूब समझाया है-

“मंगल बिन्दू सुरंगु, मुखु ससि, कंसरि-आड़ गुरु।

इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत॥”

ज्योतिषशास्त्र के अतिरिक्त आयुर्वेदशास्त्र, गणितशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, कामशास्त्र, संगीतशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि का भी बिहारी को परिज्ञान था जिसके प्रमाण उनके दोहों में मौजूद हैं।

इतिवृत के ज्ञान के स्तर पर हम देख सकते हैं कि बिहारी सतसई में ऐसे अनेक दोहे मिलते हैं जिनका आधार पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यान बतलाये जाते हैं। उन्होंने रामायण और महाभारत काल के उपमानों का वर्णन किया है जो बिहारी के पौराणिक ज्ञान को विज्ञापित करता है-

‘विरह-विभा-जल-परस बिनु, बसियतु मो मन लाल।

कछु जानत जल थम्भविधि, दुर्योधन लौ लाल॥

लोकवृत्त के ज्ञान के स्तर पर बिहारी की रचनाओं में सर्वांगीण जीवन का चित्रण मिलता है। कहीं वे राजनीति, राजधर्म के विषय में अपना मत व्यक्त करते हैं, कहीं लोक-जीवन के विषय में, तो कहीं समाज, कहीं कर्मकाण्ड, कहीं नीति तथा मनोविज्ञान, तो कहीं परम्पराओं का, युद्धों का जो विशद तथा व्यापक वर्णन बिहारी की सतसई में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

बिहारी की रचनाओं पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे एक बहुश्रुत कवि हैं। उपर्युक्त विवेचित सभी विषयों में उनकी गहरी पकड़ थी। ऐसा कहना तो संभव नहीं, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता कि विविध ज्ञानानुशासन एवं जीवनानुभवों से वे उतना परिचित अवश्य थे जितना कि एक सजग रचनाकार से अपेक्षा की जाती है और इस दृष्टि से हम उन्हें एक बहुज्ञ कवि मान सकते हैं।

भारत-भारती

प्रश्न: भारत-भारती में निहित नवजागरण-चेतना पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी कविता में नवजागरण-चेतना की ठोस अभिव्यक्ति द्विवेदीयुगीन कविता में होनी आरंभ होती है और इसका सबसे प्रबल स्वर मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में सुनाई देता है। इस स्वर का प्रथम सशक्त उदाहरण उनका काव्य 'भारत-भारती' है जो नवजागरण की विभिन्न विशेषताओं स्वचेतनता, आत्मावलोकन, यथार्थबोध, अतीत के उज्ज्वल पक्षों के प्रति गौरव-भावना, प्रगतिशील चेतना आदि को अपने भीतर धारण करता है।

'भारत-भारती' तीन खंडों- अतीत खंड, वर्तमान खंड तथा भविष्यत् खंड के माध्यम से मैथिलीशरण गुप्त ने 'हम कौन थे', 'क्या हो गए हैं' और 'क्या होंगे अभी' इन तीन प्रश्नों का सूक्ष्म विवेचन किया है। मूल चिन्ता यह है कि जिस भारत का अतीत इतना गौरवपूर्ण है, वही आज इतना दुर्दशाग्रस्त क्यों है?

'अतीत खंड' में मैथिलीशरण गुप्त ने भारतवर्ष के प्राचीनकाल में ज्ञान और सभ्यता के विकसित रूप, सांस्कृतिक मूल्यों की उत्कृष्टता और विभिन्न स्तरों पर संपन्नता को रेखांकित किया है-

"संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?/उसका कि जो ऋषिभूमि है वह कौन भारत वर्ष है।"

हालाँकि मैथिलीशरण गुप्त की इतिहास दृष्टि पर आर्य-केन्द्रित एवं हिन्दूवादी होने का आरोप लगाया गया है लेकिन कतिपय सीमाओं के बावजूद उनकी प्रगतिशीलता को अस्वीकार्य नहीं किया जा सकता।

भारत-भारती का दूसरा खंड 'वर्तमान खंड' गहरे आत्मावलोकन और वास्तविकताओं के चित्रण से युक्त है कवि ने भारत की वर्तमान दुर्दशा के चित्र उपस्थित करते हुए उसके कारणों के रूप में धार्मिक आडंबर एवं पाखंड, पंडितों की अज्ञानता, क्षत्रियों की विषयोन्मुखता, वैश्यों के लालच, बेमेल विवाह, नशेबाजी, अंधविश्वास आदि का उद्घाटन किया है। इसके साथ ही उनकी दृष्टि अंग्रेजों की आर्थिक-शोषण की नीति, देश विरोधी शिक्षा-नीति, किसानों की दुर्दशा आदि पर भी गई है।

'भविष्य खंड' में मैथिलीशरण गुप्त ने देश की जागृति तथा परिवर्तन पर बल दिया है।

हम कह सकते हैं कि हिन्दी कविता में 'भारत-भारती' नवजागरण चेतना की प्रथम सशक्त अभिव्यक्ति है।

प्रश्न: संवेदना के धरातल पर भारत-भारती की सीमाओं को रेखांकित कीजिए।

(225 शब्द)

उत्तर: 'भारत-भारती' अपने समय में राष्ट्रीय चेतना के उद्बोधन की दृष्टि से अत्यंत सफल कविता साबित हुई। हालाँकि सूक्ष्म विश्लेषण करने पर उसकी संवेदना कुछ सीमाओं से ग्रस्त दिखाई पड़ती है-

1. अंग्रेजों की आलोचना तो पर्याप्त की गई है; उनके राज्य के समय जो गरीबी व अकाल जैसी स्थितियाँ हैं, उन पर भी गुप्त जी ने पर्याप्त लिखा है; किन्तु पूरी रचना में कहीं भी गरीबी इत्यादि समस्याओं के कारण के तौर पर अंग्रेजों की पहचान स्पष्ट रूप से नहीं की गई है। इसीलिए कई विचारकों ने इस रचना पर प्रखर राष्ट्रीय भावना न होने का

आरोप लगाया है। किन्तु यह उनकी सीमा न होकर उनकी रणनीति भी हो सकती है। गुप्त जी को एक ओर पुस्तक को प्रतिबंध से बचना था तो दूसरी ओर राष्ट्र का उद्बोधन करना था। संभवतः इसीलिए अंग्रेजों का विरोध साफ तौर पर नहीं किया गया।

2. 'भारत-भारती' अपने समय के आंदोलनों को भी वर्णित नहीं करती। यह वही समय है जब कांग्रेस का महत्व बढ़ता जा रहा था। बंगभंग व स्वदेशी आंदोलन हो चुके थे। तिलक स्वराज्य का नारा दे चुके थे और क्रांतिकारी आतंकवाद का पहला दौर भी आ चुका था। ये सभी प्रसंग भारत-भारती में नदारद हैं। पर इसका कारण शायद यह है कि गुप्त जी अतीत व वर्तमान में गहरा कट्टास्ट दिखाना चाहते थे। यदि वे इन सभी घटनाओं का जिक्र करते तो संभवतः वह नाटकीय अन्तर्विरोध उभर नहीं पाता, जो पाठक की चेतना को झकझोर सके।
3. गुप्त जी की मूल दृष्टि वैष्णवी संस्कारों से निर्मित है। इसलिए समाज के सभी वर्गों के प्रति उनकी संवेदनशीलता विकसित नहीं हो पाती।
4. उनका इतिहास बोध अतीत-मोहग्रस्तता, रोमानियत तथा एकआयामी मानसिकता से ग्रस्त है।

राम की शक्तिपूजा

प्रश्न: शक्ति-काव्य के प्रतिमान के रूप में 'राम की शक्ति-पूजा' पर विचार कीजिए। (225 शब्द)

उत्तर: छायावादी काव्य पर एक आक्षेप यह है कि यह पलायन का काव्य है। डॉ. नामवर सिंह और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे समीक्षकों ने इस आरोप को खारिज किया है। चतुर्वेदी जी ने तो छायावाद को 'शक्ति चेतना का उत्स' कहा है। इसी परंपरा में डॉ. निर्मला जैन ने एक महत्वपूर्ण लेख 'शक्ति काव्य का प्रतिमान: राम की शक्तिपूजा' में सिद्ध किया है कि 'राम की शक्तिपूजा' शक्ति-काव्य की कसौटी है।

शक्ति काव्य की मूल कसौटी है कि कविता में ओज गुण तथा उत्साह जैसे भावों की अधिकता होनी चाहिए, न कि निराशा या पलायन जैसे भावों की। पाश्चात्य साहित्य चिंतक डंटन ने माना है कि शक्ति काव्य में परस्पर विरोधी भावों की सघन उपस्थिति होती है जिसे आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'विरुद्धों का सामंजस्य' भी कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त, कविता की भाषा शैली ऐसी होनी चाहिए कि वह ओज गुण को धारण कर सके।

छायावाद की अधिकांश कविताएँ शक्ति चेतना से युक्त हैं या नहीं, इस प्रश्न पर तो विवाद हो सकता है; किंतु राम की शक्तिपूजा ऐसे विवादों की गुंजाइश नहीं छोड़ती। निम्नलिखित विशेषताएँ इसे शक्ति काव्य का प्रतिमान सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं-

(क) ओज गुण की सघन उपस्थिति। (ख) निराशा और आशा तथा प्रकाश और अंधेरे में चरम द्वंद्व। (ग) ओज गुण की प्रस्तुति के लिए तत्सम शैली तथा नाद-योजना का सघन प्रयोग। (घ) इस कविता की मूल समस्या भी शक्ति पर ही केंद्रित है। समस्या है 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति' जबकि समाधान है 'शक्ति की करो मौलिक कल्पना'। इसके अतिरिक्त, 'शक्ति की दृढ़ साधना' इसके कथानक का सबसे महत्वपूर्ण अंश है।

ये सारे तत्व इसे शक्ति काव्य का प्रतिमान सिद्ध करते हैं।

प्रश्न: 'राम की शक्तिपूजा' की भाषा पर विचार कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी के छायावादी कवियों का एक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने शुष्क सी प्रतीत होने वाली खड़ी बोली को एक समृद्ध व लोचशील काव्यभाषा में रूपांतरित कर दिया। इस दृष्टि से छायावाद के चारों कवियों में निराला सबसे महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उन्होंने भाषा को लेकर सर्वाधिक प्रयोग किए हैं। 'राम की शक्तिपूजा' उनके भाषायी प्रयोगों की सिद्धावस्था है।

इस कविता की भाषा मूल प्रकृति में तत्सम-बहुला है जिसका कारण यह है कि पौराणिक-मिथकीय प्रसंग व उसमें निहित ओज को शायद ऐसी ही भाषा में व्यक्त करना संभव था। कहीं-कहीं यह तत्सम-बहुला भाषा समास-गुण को भी धारण करती है। किंतु, 'राम की शक्तिपूजा' की भाषा एक-आयामी नहीं है। यदि वह तत्सम पदावली पर ही अवलंबित होती

तो पाठक को प्रभावित नहीं, आतंकित करती। इसलिए कुछ खास स्थलों को छोड़कर निराला ने भाषायी सहजता का पर्याप्त ध्यान रखा है। उन्होंने कई स्थानों पर विजातीय शब्दों का प्रयोग किया है तो कई स्थानों पर पूरे-पूरे कथन ऐसे रखे हैं जिनमें भाषायी जटिलता नहीं है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

“कुद्ध कपि विषम हूह” (हूह = अवधी शब्द)

“राक्षस पदतल पृथ्वी टलमल” (टलमल = देशज शब्द)

शक्तिपूजा की भाषा की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसमें निहित ‘ध्वनि-मैत्री’ या ‘नाद-सौंदर्य’ है। उन्होंने शब्दों की पुनरावृत्ति के माध्यम से अद्भुत भाव-धनत्व पैदा किया है। उदाहरण के लिए रावण के खलनायकत्व को उभारने के लिए उसकी हँसी को ‘खल-खल’ कहा है (‘फिर सुना हँस रहा अट्टहास रावण खल-खल’)

शब्दों की पुनरावृत्ति के अतिरिक्त ध्वनियों या वर्णों की पुनरावृत्ति से भी निराला ने नाद-सौंदर्य की सृष्टि की है। इस कविता के कई कथन सूत्र जैसा प्रभाव पैदा करते हैं, जैसे- ‘अन्याय जिधर है उधर शक्ति’, ‘शक्ति की करो मौलिक कल्पना’ तथा ‘वह एक और मन रहा राम का जो न था’ इत्यादि।

कुल मिलाकर ‘राम की शक्तिपूजा’ में भाषा के इतने भिन्न-भिन्न तेवर हैं कि कोमलतम शृंगार से लेकर भयानक ओज तक के प्रसंग अबाधित प्रवाह के साथ संश्लिष्ट रूप में जुड़े हैं। अपनी इन्हीं भाषागत विशेषताओं के कारण ‘राम की शक्तिपूजा’ हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक उपलब्धि ही नहीं, भाषायी उपलब्धि भी है।

प्रश्न: निराला अपने समय की आवश्यकतानुसार प्रसंग का चयन, प्रसंग का विस्तार तथा प्रसंग की व्याख्या करते हैं। क्या निराला की यह विशेषता राम की शक्तिपूजा में भी दृष्टिगत होती है? विवेचन करें। (300 शब्द)

उत्तर: कोई भी महान कवि अपने समय से गहराई से जुड़ा होता है। वह अपने समय की आवश्यकतानुसार प्रसंगों का चयन करता है तथा उनका विस्तार व मौलिक व्याख्याएँ भी करता है। यह विशेषता निराला की भी है जो उनके काव्य-जीवन के हर चरण में दिखती है।

‘राम की शक्तिपूजा’ में निराला ने कथा का जो प्रसंग चुना है, वह अपने समय से जुड़ा हुआ है। 1936 ई. के भारत में स्वाधीनता संग्राम निरुत्साहिता के दौर में था। निराला स्वयं भी सरोज की दुःखद मृत्यु के बाद बेहद टूटे हुए थे। ऐसे समय में राम के प्रतीक का चयन बेहद प्रभावशाली था। राम भारतीय अवचेतन में सत्-असत् के सार्वकालिक संघर्ष में हमेशा सत् के पक्ष में खड़े नायक के प्रतिनिधि हैं। निराला ने न सिर्फ राम की कथा को चुना बल्कि कथा में भी उस विशिष्ट प्रसंग को चुना जहाँ वे टूटन व हताशा के शिकार हैं। ऐसा होते ही देश की टूटन युगीन संदर्भों से मुक्त होकर सार्वकालिक हो उठी और राम के मिथक में निहित सृजनात्मक शक्ति देश के मनोविज्ञान का उद्बोधन करने के लिए प्रासंगिक हो गई।

इस कविता में निराला ने सिर्फ आवश्यकतानुसार प्रसंग को ही नहीं चुना, अपनी कल्पना से उसका विस्तार व व्याख्या भी की। निराला ने राम के मिथक में कई परिवर्तन किए जो 1936 ई. के भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप थे। उदाहरण के लिए,

- (क) राम शक्ति की साधना के लिए योग प्रक्रिया का प्रयोग करते हैं जो कृतिवास रामायण से भिन्न है। यह आंतरिक शक्ति का संकेत है जो तत्कालीन स्वतंत्रता संग्राम की दृष्टि से अत्यंत प्रासंगिक थी।
- (ख) कविता के अंत में शक्ति का राम के मुख में लीन होना दिखाया गया है, जबकि उन्होंने रावण को शक्ति की गोद में बैठा हुआ दिखाया है। यह इस बात का प्रतीक है कि शक्ति का आंतरिक संबंध नैतिकता के साथ है; वह अनैतिकता के साथ सिर्फ बाह्य संबंध में होती है।
- (ग) हनुमान प्रसंग भी इस कविता में मौलिक रूप से उपस्थित है जो संभवतः यह दिखाने के लिए है कि तत्कालीन भारतीय जन के पास इतनी शक्ति थी कि वह अंग्रेजी सत्ता को यूँ भी हरा सकता था।
- (घ) राम का सीता के प्रति लगाव नारी-पुरुष के आधुनिक समतामूलक संबंधों का प्रतीक है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि निराला ने ‘राम की शक्तिपूजा’ में भी अपने समय की आवश्यकतानुसार प्रसंग का चयन, प्रसंग का विस्तार तथा प्रसंग की व्याख्या की है।

प्रश्न: 'वह एक और मन रहा राम का जो न था' इस पंक्ति के संदर्भ में 'राम की शक्तिपूजा' की संवेदना पर विचार कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: 'वह एक और मन रहा राम का जो न था' 'राम की शक्ति पूजा' कविता का बीज-कथन प्रतीत होता है। कविता में राम परंपरा से प्रदत्त कई शक्तियों का साथ होने के बावजूद विफलता की ओर बढ़ रहे हैं। निराला ने दिखाया है कि विषम परिस्थितियाँ राम को भी किस प्रकार संशय, पराजय बोध, असामर्थ्य चेतना, विकलता, दिशाहीनता जैसी निषेधात्मक प्रवृत्तियों से भर देती हैं।

कविता में यह निराशा लगातार बढ़ती गई है। इसकी चरम स्थिति तब दिखाई देती है जब राम का औदात्य भंग हुआ है और वे प्रचंड क्रोध व आत्मधिकार के भाव से भर उठे हैं-

"धिक् जीवन को जो पाता आया ही विरोध,
धिक् साधन, जिसके लिए सदा ही किया शोध!
जानकी! हाय, उद्धार प्रिया का हो न सका।"

किंतु, 'जानकी का उद्धार न हो सका' यह स्थिति राम को हर्गिज़ स्वीकार्य नहीं है। यहीं राम के भीतर वह व्यक्तित्व उठ खड़ा होता है जो किसी प्रकार की विनम्रता और दीनता को स्वीकार नहीं करता-

"वह एक और मन रहा राम का जो न था,
जो नहीं जानता दैन्य नहीं जानता विनया।"

इसी पंक्ति के बाद कविता की गति पलटती है, वह 'त्रासदी' के रास्ते से हटकर 'नियताप्ति' और 'फलागम' के मार्ग पर अग्रसर होती है। यह पंक्ति इस कविता का 'टर्निंग प्वाइंट' है- सिर्फ राम की कथा का नहीं, निराला की अपनी जीवन-कथा का भी 'टर्निंग प्वाइंट' है।

वस्तुतः यह स्थिति सिर्फ राम की नहीं, स्वयं निराला की भी है। निराला राम की ही तरह 'महाप्राण' हैं, भयानक से भयानक संघर्षों में भी 'दुराक्रांत' रहे हैं, अपने साहित्यिक जीवन में निरंतर नए प्रयोग करते रहे हैं। किंतु, सरोज की मृत्यु ने उन्हें तोड़ दिया है। 'सरोज-स्मृति' के निराला उसी टूटन और पराजित मनःस्थिति के प्रतीक हैं जिसके शक्तिपूजा के राम हैं। साफ़ नज़र आता है कि 'वह एक और मन रहा राम का जो न था', यह पंक्ति सरोज-स्मृति के पराजित निराला के पुनः अपने 'महाप्राणत्व' को अर्जित करने का उद्घोष है।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह मानने में कोई समस्या नहीं है कि 'वह एक और मन रहा राम का जो न था' ही वह पंक्ति है जिसने 'राम की शक्ति पूजा' के कथानक को सबसे व्यापक तौर पर प्रभावित किया है। कविता की अन्य संवेदनाएँ जैसे 'शक्ति की मौलिक कल्पना' या 'नारी मुक्ति' भी इस पंक्ति के महत्व से सुसंगत हैं। अतः इसे केंद्रीय संवेदना का वाहक मानना उचित ही मालूम होता है।

प्रश्न: 'राम की शक्ति-पूजा' में निहित द्वंद्वत्मकता का उद्घाटन करते हुए उसके महत्त्व का निरूपण कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: राम की शक्ति-पूजा कविता आद्यान्त कृत्तिवास रामायण की कथा पर आधारित है लेकिन इसका वैशिष्ट्य इस कथात्मक निर्वाह में नहीं है बल्कि उसमें द्वंद्वत्मक स्थितियों का समावेश करने में है। राम की शक्ति-पूजा की द्वंद्वत्मकता घटनाओं के नियोजन, मनः स्थितियों के चित्रण एवं जीवन-मूल्यों के संदर्भ में है।

कथ्य के धरातल पर 'राम की शक्ति-पूजा' में निहित द्वंद्वत्मकता अतीत और वर्तमान की टकराहट में है, दूसरे शब्दों में, यह देवत्व और मनुष्य के बीच की टकराहट में है। राम की शक्ति-पूजा के नायक राम की पूरी चरित्र-योजना का आधार द्वंद्वत्मक है। संशय, विकलता, आशा, आत्मभर्त्सना- ये सभी द्वंद्वत्मक चेतना के ही विविध रूप हैं। राम की शक्ति-पूजा के राम मध्यकालीन राम नहीं हैं, बल्कि वे आधुनिक मनुष्य के प्रतिरूप हैं- एक ऐसा मनुष्य जो प्रतिमानवीय शक्तियों से घिरा हुआ अपने को नितान्त असहाय, अकेला और विवश पाता है। इस दुख से घिरे हुए राम की चेतना कभी वर्तमान की भयावहता से आक्रांत होती है और कभी सुदूर अतीत की मधुमयता में वापस लौटती है। अतीत की मिठास है-

“याद आया उपवन विदेह का, प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन, नयनों का, नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण।” और फिर इसी प्रसंग में “रावण का अट्टहास” भी याद आता है-

“फिर सुना-हँस रहा अट्टहास रावण खलखल भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता-दला।”

राम में एक ओर निराशा है-

“धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध”, पर इसके साथ ही अदम्य जिजीविषा भी है-

“वह एक और मन रहा राम का जो न था।”

घटनाओं में भी निराला ने द्वंद्व दिखाया है। दोनों सेनाएं लौट रही हैं- पर बिल्कुल अलग तरीके से।

प्रकाश-अंधकार, आशा-निराशा आदि भी द्वंद्व के अलग-अलग स्तर हैं-

है अमानिशा, उगलता गगन घन अंधकार,

x x x x x x x x

भूधर ज्यों ध्यान-मग्न, केवल जलती मशाल।

शिल्प की दृष्टि से द्वंद्व तत्सम और स्वाभाविक भाषा, नाटकीयता और वर्णनात्मकता, गहरी अनुभूतिशीलता और सपाटबयानी के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार राम की शक्ति-पूजा में आद्यन्त द्वन्द्वात्मकता है और यह विभिन्न स्तरों पर नियोजित है। इस द्वन्द्वात्मकता के आधार पर ही निराला ने एक मध्यकालीन आख्यान को आधुनिक मनुष्य की नियति के रूप में तब्दील कर दिया है।

प्रश्न: ‘राम की शक्ति पूजा’ के आधार पर निराला की भक्ति-भावना की विवेचना करें। (300 शब्द)

उत्तर: विश्वंभर मानव जैसे आलोचकों का दावा है कि ‘राम की शक्ति पूजा’ कविता मूलतः निराला की भक्ति-भावना की चरम परिणति है। किन्तु समकालीन समीक्षकों ने इस तथ्य का विरोध किया है। उनके अनुसार यह कविता आधुनिक समय की समस्याओं का प्रतीकात्मक अंकन करती है। फिर भी इस विचार पर प्रायः मतैक्य रहा है कि इस कविता के संश्लिष्ट अर्थविधान का एक पक्ष इसमें निहित भक्ति-भावना भी है।

इस कविता में वेदांती सर्ववाद से प्रभावित निराला ने प्रकृति को ईश्वरीय प्रतीक के रूप में चित्रित किया है-

“देखो, बन्धुवर सामने स्थित जो यह भूधर

पार्वती कल्पना हैं इसकी, मकरन्द-विन्दु”

निराला जहाँ शैव, शाक्त और वैष्णव- इन तीनों सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित करते हैं, वहीं वैष्णव तत्त्व उनकी भक्ति भावना के केन्द्र में हैं और तुलसीदास की परम्परा में ‘राम’ उन्हें सर्वाधिक प्रिय रहे हैं। अपने जीवन के अंतिम समय में उन्होंने कई भक्तिपरक कविताएँ लिखीं जो वैष्णव परम्परा पर ही आधारित थीं। शाक्त परम्परा भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है क्योंकि इस कविता में राम को शक्ति की पूजा करते ही दिखाया गया है।

निराला की भक्ति-भावना एक अर्थ में कबीर की भक्ति-भावना के समान है। उनके राम अत्यन्त उदात्त व संयमित हैं, कृतिवास रामायण के राम की भाँति भावुकता के अतिरेक में बहने वाले नहीं।

निराला ने इस कविता में भक्ति और योग के समन्वय का प्रयास किया है। एक हनुमान के व्यक्तित्व में, दूसरा आगे चलकर शक्ति-पूजा की प्रक्रिया में। हनुमान भक्ति और योग के सर्वोच्च स्तर हैं-

पा सत्य सच्चिदानन्द रूप, विश्राम-धाम,

जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो राम-नाम

कुछ आलोचकों का मानना है कि निराला ईश्वर को सगुण और अवतारी रूप में प्रदर्शित करना अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। उदाहरण के लिए राम को ‘शेषनयन’ कहकर कविता में उन्हें विष्णु का अवतार बताया गया है। इससे प्रतीत होता है कि निराला अपने प्रिय कवि तुलसीदास के समान सगुण और अवतारी भक्ति के समर्थक हैं। निराला के आराध्य राम, पौराणिक

राम न होकर आधुनिक अपेक्षाओं से सुसंगत ज्यादा हैं। उनमें ईश्वरत्व की मात्रा कम हुई है और मानवत्व की मात्रा बढ़ गई है। तब भी, राम की शक्ति-पूजा में राम का ईश्वरत्व कायम है-

मर्यादा पुरुषोत्तम के सर्वोत्तम अनन्य, लीला सहचर-दिव्य-भाव घर

इन पर प्रहार करने पर होगी देवि तुम्हारी विषम हार।

किन्तु इसके साथ ही उनका मानवीय पक्ष भी उभर कर सामने आया है। इस अर्थ में यह मध्यकालीन नहीं अपितु आधुनिक भक्ति-भावना का काव्य है। 'राम की शक्ति पूजा' कविता में निराला के भक्ति-विषयक दृष्टिकोण और अनुभूति को इन्हीं नये परिप्रेक्ष्यों में सार्थकतापूर्वक समझा जा सकता है।

प्रश्न: 'शक्तिपूजा' की संरचना में एक पराजित और दूसरे अपराजित मन की अस्तित्वानुभूति के साथ-साथ 'तुलसीदास' और 'सरोज-स्मृति' का सार सन्निहित है- विचार करें। (225 शब्द)

उत्तर: 'राम की शक्तिपूजा' के राम ईश्वर नहीं बल्कि मनुष्य हैं। राम के विश्वविजयी बाण निष्फल हो रहे हैं और संशय तथा असफलता के डर ने उन्हें घेर लिया है। इस भय का कारण है- 'अन्याय जिधर, है उधर शक्ति।' राम शक्ति को अपने पक्ष में करने के लिये शक्ति की साधना करते हैं। साधना के अंतिम चरण में शक्ति द्वारा इंद्रनील चुरा लिये जाने पर उनका पराजित मन संपूर्ण जीवन को धिक्कारने लगता है। किन्तु अगले ही क्षण प्रिया जानकी का विचार आते ही उनका एक और मन, जो न तो थकता है और न ही दैन्य और विनय से परिचित है सक्रिय हो जाता है। यह मन अपने राजीवर्णन को अर्पित करने हेतु तत्पर हो जाता है और अंततः साधना पूर्ण करता है।

इस पराजित-अपराजित मन के द्वंद्व के साथ-साथ 'राम की शक्तिपूजा' में 'तुलसीदास' और सरोज-स्मृति का निचोड़ भी मौजूद है। 'शक्तिपूजा' के राम, 'सरोज-स्मृति' का निरर्थक पिता और तुलसीदास का कवि तीनों ही अंतर्द्वंद्व और आत्मग्लानि से जूझ रहे हैं। शक्तिपूजा में राम को प्रिया जानकी का उद्धार न कर पाने की पीड़ा सताती है, 'सरोज-स्मृति' में कवि पिता को अपनी पुत्री की आसामयिक मृत्यु का दुख और 'तुलसीदास' में तुलसीदास को रीतिवादी मानसिकता से पूर्णतः मुक्ति न मिल पाने की बेचैनी। शक्तिपूजा के हनुमान यदि ज्ञान-भक्ति का समन्वय करते हैं तो तुलसीदास भी अपने कवि-कर्म से इनमें संतुलन स्थापित करते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'राम की शक्तिपूजा' में 'तुलसीदास' और 'सरोज-स्मृति' का सारतत्त्व तो है ही, साथ ही राम के पराजित और अपराजित मन का भीषण संघर्ष भी विद्यमान है।

प्रश्न: राम की शक्ति पूजा में निराला का आत्मसंघर्ष किस रूप में अभिव्यक्त हुआ है? प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: निराला की राम की शक्तिपूजा बहुअर्थगर्भी रचना है जिसमें निराला के जीवन का संघर्ष भी अनुस्यूत है। दूधनाथ सिंह प्रभृत समीक्षकों का तो मानना है कि मूलतः निराला का अपना जीवन व उनका आत्मसंघर्ष ही इस कविता में प्रतीकात्मक पद्धति से व्यक्त हुआ है।

कविता की शुरुआत 'रवि हुआ अस्त' अर्थात् अंधेरे की स्थिति से हुई है। यह अंधेरा एक स्तर पर निराला के जीवन का अंधेरा ही है। यह निराशा वही है जो उनका पूर्ववर्ती कविता 'सरोज स्मृति' के अंतिम हिस्से में दिखाई देती है- "दुःख ही जीवन की कथा रही/क्या कहूँ आज जो नहीं कही।"

जीवन के संघर्षों से जर्जर जैसा व्यक्तित्व सरोज-स्मृति में निराला का था, वैसा ही राम की शक्ति पूजा में राम का है। राम की शक्ति पूजा के राम में सीता के प्रति जो गहरा एवं एकनिष्ठ प्रेम दिखाई देता है, वह भी निराला के एकनिष्ठ गार्हस्थिक प्रेम का ही प्रक्षेपण है।

राम की शक्ति पूजा की तरह शक्ति का अन्याय के पक्ष में होना निराला के जीवन की समस्या भी है। यह अन्याय मुख्यतः आर्थिक क्षेत्र में है। निराला साहित्यिक जीवन में भी अन्याय के शिकार हैं।

शक्ति पूजा के राम शक्ति की साधना योग प्रक्रिया के माध्यम से कर रहे हैं। चूँकि निराला स्वयं योग मार्ग से जुड़े हुए थे, इससे संकेत मिलता है कि उन्होंने अपने ही व्यक्तित्व का आरोपण राम पर किया है।

जिस तरह निराला हमेशा संघर्षों से जूझते रहे, वैसे ही राम भी। अनुष्ठान की पूर्णता के नजदीक देवी दुर्गा का अंतिम फूल उठा के ले जाना ऐसे ही अंतिम संघर्ष का परिचायक है। निराला के जीवन में मनोहरा देवी का साथ छूट जाना, फिर आर्थिक अभावों के कारण सरोज का चले जाना और महान रचनात्मकता के बावजूद साहित्य-क्षेत्र में स्वीकृति न मिलना- ये सभी संघर्ष मिलकर निराला को उस भाव-भूमि पर ले जाते हैं जहाँ कोई भी व्यक्ति आत्मधिकार की अवस्था में आ जाता है-

"धिक जीवन को जो पाता ही आया विरोध,

धिक साधन जिसके लिये सदा ही किया शोध!"

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि निराला का मन सरोज स्मृति में थक गया था। किंतु, यह थकने वाला मन उनका असली मन नहीं था। निराला अपने राम की ही तरह कभी न हारने वाले पुरुषार्थी थे और यही कारण है कि राम की शक्ति पूजा के राम सीता मुक्ति के अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए कभी न थकने-हारने वाली मनःस्थिति में पहुँच जाते हैं-

"वह एक और मन रहा राम का जो न थका,

जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय।"

इस प्रकार राम की शक्ति पूजा में निराला का आत्मसंघर्ष भी अनुस्यूत है।

प्रश्न: राम की शक्तिपूजा की केन्द्रीय संवेदना 'सीता की मुक्ति' है? क्या आप इस मत से सहमत हैं?

(300 शब्द)

उत्तर: 'राम की शक्तिपूजा' की केन्द्रीय संवेदना का प्रश्न विवादास्पद है क्योंकि विभिन्न समीक्षकों ने इस संबंध में भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। नन्दकिशोर नवल के मतानुसार 'राम की शक्तिपूजा' की केन्द्रीय संवेदना 'सीता की मुक्ति' और सीता के प्रतीक के माध्यम से 'नारी मुक्ति' है।

सीता की मुक्ति कथानक का उद्देश्य है, यह रचना के अंतिम हिस्से में पूर्णतः स्पष्ट होकर उभरता है जहाँ राम आत्मधिकार की अवस्था में पहुँच गये हैं। वे कहते हैं-

"धिक जीवन को जो पाता ही आया विरोध,

धिक साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध।

जानकी हाय! उद्धार प्रिया का हो न सका॥"

प्रश्न है कि यह आत्मधिकार किसलिए है? यह न तो विजय के लिए है, न साधना की सफलता के लिए बल्कि सिर्फ सीता की मुक्ति के लिए है।

सीता कथा के हर मोड़ पर भी सक्रिय रूप से उपस्थित हैं। कविता की पहली अठारह पंक्तियों में राम की सेना में पराजय तथा हताशा की मानसिकता है। 18वीं पंक्ति सीता पर केन्द्रित है जिसे पढ़कर स्पष्टतः प्रतीत होता है कि युद्ध का सम्पूर्ण वर्णन यही दिखाने के लिए हुआ है कि सीता मुक्ति की आशा कितनी धूमिल हो गई है।

युद्ध प्रसंग के बाद राघवेन्द्र को शंका, विकलता, पराजय बोध और असमर्थता बोध ने बुरी तरह झकझोर दिया है। इस घोर निराशा में राम को आशा सीता स्मृति से ही मिलती है-

"ऐसे क्षण अस्थिर घन में जैसे विद्युत, / जागी पृथ्वी तनया कुमारिका छवि, अच्युत

सीता मिलन की स्मृति इतनी स्फूर्तिदायक है कि घोर निराशा में डूबे राम कुछ क्षणों के लिए सम्पूर्ण निराशा को छोड़कर 'विश्वविजयभावना' से भर जाते हैं। फिर, शंकाग्रस्त होते ही उन्हें सीता की आँखें याद आती हैं-

"खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन"

विभीषण भी सीता की याद दिलाकर तथा सीता के संभावित कष्टों का चित्र खींचकर राम को प्रेरित करते हैं। इसके बाद सीता की केन्द्रीयता कविता के अंतिम हिस्से में स्पष्ट होती है। सीता का उद्धार न हो सकने की छटपटाहट इतनी तीव्र है कि राम का 'एक और मन' उठ खड़ा होता है जो न थकने को तैयार है, न झुकने को, न हारने को-

वह एक और मन रहा राम का जो न थका, / जो नहीं जानता दैन्य नहीं जानता विनय"

सीता के प्रति राम का प्रेम एवं प्रतिबद्धता का स्तर इतना ऊँचा है कि वे अपनी आँख निकाल कर देने को तैयार हैं।

स्पष्ट है कि कविता की संरचना में सीता केन्द्र में व हर मोड़ पर उपस्थित हैं। इसके बाद भी यह नहीं भूलना चाहिए कि शक्ति पूजा संश्लिष्ट संवेदना की कविता है जिसकी वस्तु संरचना एक साथ कई पक्षों को समेटती है। सीता की मुक्ति इसका केन्द्रीय तत्व तो है, किन्तु एकमात्र नहीं है, क्योंकि यह कविता राष्ट्रीय आंदोलन, शक्ति की मौलिक कल्पना, पौराणिक राम के मानवीय रूपान्तरण, निराला के आत्म संघर्ष तथा सत्-असत् संघर्ष जैसे बिन्दुओं को भी समानांतर रूप से धारण करती है।

प्रश्न: राम की शक्तिपूजा में राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की अभिव्यक्ति किस रूप में हुई है? विवेचन कीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: छायावादी कवियों पर आक्षेप है कि वे राष्ट्रीय आंदोलन के सघनतम काल में उपस्थित होकर भी उससे कटे रहे। किंतु, सत्य यह है कि 'राम की शक्तिपूजा' जैसी छायावादी कविताओं में राष्ट्रीय आंदोलन का रोजनामा चाहे न दिखे, लेकिन उसके मूल्य हर मोड़ पर दिखते हैं। इस कविता में राष्ट्रीय आंदोलन से संबंधित कई प्रसंग प्रतीकात्मक रूप में उपस्थित हैं। जिन्हें क्रमशः विश्लेषित किया जा सकता है-

- (क) राम की शक्तिपूजा की मूल समस्या है- "अन्याय जिधर है उधर शक्ति"। शक्ति रावण अर्थात् अंग्रेजों के पक्ष में है।
(ख) 1936 ई. का भारत शक्ति की मौलिक कल्पना की तलाश में है। सविनय अवज्ञा आंदोलन की विफलता ने राष्ट्रीय नेतृत्व के मन में घोर निराशा, संशय, पराजय बोध भर दिया है। यह राम के प्रतीक से व्यक्त हुआ है-

"स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय, / रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय,

- (ग) कविता का आरम्भिक वर्णन भी यही दिखा रहा है कि इसके नायक को अपने जिन अस्त्रों पर विश्वास था, वे अस्त्र विफल हो गए हैं। अंग्रेजों के शक्तिशाली राज के विरुद्ध लड़ते-लड़ते भारतीय जन व उसके नायक गांधी जी की आशाएँ धूमिल हो गई हैं।
(घ) कविता में हनुमान की आक्रामकता किसी न किसी रूप में क्रांतिकारी हिंसक आंदोलन का प्रतीक है। राष्ट्रीय स्वभाव के कारण राम (या एक अर्थ में गांधी) हिंसक शक्ति की उपलब्धता के बावजूद उसका प्रयोग करने से बचते हैं।
(ङ) यह तय है कि पारम्परिक नैतिक मार्ग (अहिंसा) पूर्णतः ठीक नहीं है। हिंसा या आक्रामकता का मार्ग भी पूर्णतः ठीक नहीं है। प्रश्न यह है कि रावण अर्थात् अंग्रेजों के चंगुल में फँसी सीता अर्थात् भारतीय स्वाधीनता या अस्मिता की रक्षा कैसे हो? 'शक्ति की मौलिक कल्पना' इसके समाधान का रास्ता दिखाती है। इसमें नैतिक पक्ष बना रहेगा किन्तु शक्ति तत्व भी शामिल होगा।
(च) राष्ट्रनायक, जो कि संभवतः गांधी का प्रतीक है, शक्ति की साधना करता है। साधना के अंतिम चरण में उसकी कठोर परीक्षा ली जाती है। यही वह क्षण है जहाँ राष्ट्रनायक टूट भी सकता है। पहले वह आत्मधिकार से भरता है किन्तु उसके तुरन्त बाद उसके भीतर शक्ति का प्रचंड आवेग उभरता है- "वह एक और मन रहा राम का जो न था, जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय"। यही वह चरम बिन्दु है जिसकी तलाश राष्ट्रीय आंदोलन को थी।
(छ) कविता एक अर्थ में राष्ट्रीय आंदोलन को नया सुझाव भी देती है। कठिन स्थिति में अपनी आँख निकालने या आत्मोत्सर्ग का साहस वही साहस है जो 1942 ई. के नारे 'करो या मरो' में दिखता है।
(ज) यह भी गौर करने लायक है कि गांधी जी के प्रिय आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम राम ही थे जो इस कविता के नायक हैं। साथ ही, राम का युद्ध से तटस्थ होकर शक्ति का संधान करना गांधी जी की संघर्ष-विराम-संघर्ष की नीति का ही प्रतिबिंब प्रतीत होता है।

प्रश्न: 'राम की शक्तिपूजा' में निराला पारंपरिक राम-कथा में किन कल्पनाओं का समावेश कर उसे नवीन रूप प्रदान करते हैं?

(300 शब्द)

उत्तर: बांग्ला भाषा की रचना 'कृतिवास रामायण' को निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' के कथानक का आधार बनाया है किन्तु अपनी कल्पना शक्ति से उन्होंने उसे नवीन रूप प्रदान किया है। जो निम्नलिखित हैं-

- (क) कृतिवास के राम बांग्ला भावुकता से युक्त हैं। उनमें औदात्य, गरिमा जैसे तत्व नहीं दिखते। वे न केवल पराजय बोध से भरकर लगभग बीस बार रोये हैं, बल्कि उनका रुदन भी अनियंत्रित है। इसके विपरीत, निराला छायावादी होते हुए भी अनियंत्रित भावुकता के स्थान पर आत्मानुशासन से युक्त भावुकता का प्रदर्शन करते हैं। निराला के राम भावनाओं का संयमन करते हैं, न कि उल्टे अभिव्यक्ति।
- (ख) कृतिवास रामायण में हनुमान प्रसंग उपस्थित नहीं है क्योंकि बंगाल की संस्कृति में दुर्गा का महत्व इतना अधिक है कि हनुमान की शक्ति को दुर्गा की शक्ति से अधिक दिखाना असंभव था। निराला पर बंगाल की शाक्त परंपरा का कम, वैष्णव परम्परा का प्रभाव ज्यादा है। शायद इसीलिए उन्होंने हनुमान की शक्ति को ज्यादा बताया है।
- (ग) कृतिवास रामायण में शक्ति का पारम्परिक रूप उपस्थित है जबकि यहाँ शक्ति की कल्पना प्रकृति के रूप में की गई है। प्रकृति प्रेम की यह कल्पना छायावाद व नव्य-वेदांत से प्रेरित दिखाई पड़ती है।
- (घ) कृतिवास रामायण में शक्ति की पूजा भक्ति या उपासना पद्धति से की गई है जबकि निराला ने इसके लिए हठयोग प्रक्रिया का सहारा लिया है।
- (ङ) कृतिवास रामायण में शक्ति अन्ततः राम के पक्ष से संयुक्त होती है जबकि शक्तिपूजा में वह राम के मुख में लीन हो जाती है।

राम की शक्तिपूजा रामचरितमानस से भी कुछ मायनों में भिन्न है। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम यहाँ 'नवीन पुरुषोत्तम' हो गए हैं। तुलसी के राम ईश्वर के अवतार हैं जबकि निराला के राम मानव। तुलसी के राम में संशय, विकलता आदि मानवोचित कमजोरियाँ अनुपस्थित हैं जबकि निराला के राम में उपस्थित। नारी संबंधी दृष्टिकोण में भी दोनों रचनाएँ भिन्न हैं। निराला के राम गार्हस्थिक प्रेम को अत्यधिक महत्व देते हैं।

प्रश्न है कि निराला ने पौराणिक आख्यान में इतनी कल्पनाएँ क्यों कीं? इसके कुछ निश्चित कारण हैं—

- (क) पहला कारण है— उद्देश्य की भिन्नता। कृतिवास रामायण का उद्देश्य सिर्फ रामायण की प्रस्तुति करना था जबकि निराला पौराणिक आख्यान के माध्यम से सश्लिष्ट अर्थ सम्प्रेषित करना चाहते थे।
- (ख) आत्म-अभिव्यक्ति करने की इच्छा भी एक बड़ा कारण है। छायावादी कवि होने के कारण निजता का संप्रेषण निराला के काव्य में दिखता ही है।
- (ग) राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के संदर्भ में निराला संकेत देना चाहते थे कि शक्ति वस्तुतः जनता में ही निहित है। इसीलिए उन्होंने योग-पद्धति का प्रयोग किया जिसमें आंतरिक शक्ति का उद्बोधन होता है, ईश्वर से शक्ति मांगी नहीं जाती।

कामायनी

प्रश्न: कामायनी के अंगीरस का निर्णय कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: अंगीरस से तात्पर्य मुख्य रस से होता है। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार 'बहुव्याप्ति' वाले रस को ही सामान्यतः अंगीरस माना जाता है, लेकिन कभी-कभी यह लक्षण पर्याप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में रचना के मुख्य पात्र की मूल प्रवृत्ति का प्रतिफलन कराने वाले अथवा रचना के अंत में उपलब्ध होने वाले रस को अंगी रस माना जाता है। कामायनी के अंगीरस का निर्णय इन्हीं कसौटियों के संदर्भ में किया जा सकता है।

बहुव्याप्ति के आधार पर विश्लेषण करें तो कामायनी में दो ही रस प्रमुख हैं—शृंगार तथा शांत। शृंगार रस व्याप्ति की दृष्टि से सर्वाधिक मात्रा में है। यह प्रमुखतः रचना के पूर्वार्ध में श्रद्धा-मनु के प्रणय-प्रसंग में आया है। रचना के उत्तरार्ध में भी श्रद्धा का थोड़ा सा विप्रलम्भ शृंगार है। जहाँ तक इड़ा तथा मनु के संबंध का प्रश्न है उसे शृंगार रस के अंतर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि शृंगार की स्थिति आने से पूर्व ही वह समाप्त हो गया है। स्पष्ट है कि अधिक व्याप्ति के बावजूद यह रस रचना में इतना प्रमुख नहीं है कि इसे अंगीरस सहजतापूर्वक माना जा सके। फिर, कामायनी के अंत अर्थात् फलागम की स्थिति में भी शृंगार की उपस्थिति नहीं है।

बहुव्याप्ति की दृष्टि से कामायनी में शृंगार के उपरांत शांत रस की प्रमुखता दिखती है। 'चिंता' और 'निर्वेद' सर्गों में निर्वेदमूलक शांत रस है। किंतु, इसे अंगीरस मानना संभव नहीं है क्योंकि यह मात्रा में तो शृंगार की तुलना में काफी कम

है ही, रचना की परिणति अर्थात् फलागम में भी उपस्थित नहीं है। फलागम में मनु थके हुए या पराजित व्यक्ति नहीं, बल्कि अति आनंदित दिखाई देते हैं।

तीसरा विकल्प शममूलक शांत का है। कामायनी में देखें तो रहस्य सर्ग के अंत में इसी की अनुभूति होती है। लेकिन रचना 'आनंद सर्ग' की ओर बढ़ गई है। 'आनंद सर्ग' में कामायनी की कथा का अंत होना 'शममूलक शांत' के अंगीरस होने की संभावना को नकार देता है।

वस्तुतः कामायनी के अंगीरस का निर्णय बहुव्याप्ति के नहीं, परिणति के आधार पर ही किया जा सकता है। रचना का अंतिम सर्ग 'आनंद सर्ग' है। इसके अंत में जो भाव व्यक्त हुआ है, वह 'आनन्द रस' या 'आनन्दमूलक शांत रस' का है जिसका संबंध शैवाद्वैतवादी दर्शन से है। इस रस की स्थिति में व्यक्ति सभी दुःखों और सुखों से ऊपर उठकर अखंड समरसता और आनन्द का भोग करता है। 'आनन्द सर्ग' का अंतिम अंश इसी स्थिति का संकेत करता है-

“समरस थे जड़ या चेतन, सुंदर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था।”

अतः आनन्दमूलक शांत रस ही कामायनी का अंगीरस सिद्ध होता है।

प्रश्न: कामायनी के महाकाव्यत्व पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: महाकाव्यत्व मूलतः काव्यशास्त्रीय अवधारणा है। कामायनी महाकाव्य के काव्यशास्त्रीय मानदण्डों पर खरी नहीं उतरती। वस्तुतः कामायनी एक आधुनिक रचना है, अतः प्राचीन लक्षणों के आधार पर इस कृति के महाकाव्यत्व की परीक्षा उचित नहीं होगी। कामायनी के महाकाव्यत्व का निर्णय उदात्तता के आधार पर किया जा सकता है और इस स्तर पर कामायनी में महाकाव्य के गुण मौजूद हैं।

1. **उदात्त कथानक:** स्वार्थपूर्ण अहंकार का पराभव एवं मानवीय संस्कृति का सूत्रपात, पुरुष और नारी का मिलन, मनुष्य के जन्म और संस्कृति के विकास का प्रभावशाली चित्रण, यांत्रिक व्यवस्था के चरण में आकर सभ्यता की विफलता तथा अन्ततः सामरस्य और आनंद की उपलब्धि - ये सभी घटनाएँ मानव सभ्यता के विकास के महत्त्वपूर्ण पहलुओं का वहन करती हैं और इनका चित्रण प्रभावशाली है।
2. **उदात्त उद्देश्य:** संस्कृति को मांगलिकता का आधार प्रदान करना महाकाव्य का उद्देश्य होता है। कामायनीकार का उद्देश्य इच्छा, क्रिया और ज्ञान के सामंजस्य द्वारा समरसता की उपलब्धि और उसके फलस्वरूप आनंद की सिद्धि है। इस प्रकार कामायनी का उद्देश्य समकालीन वैश्विक जीवन के एक बहुत बड़े संकट का समाधान करता है क्योंकि इच्छा, क्रिया और ज्ञान की विशृंखलता मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है-

“ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है

.....

यह विडंबना है जीवन की।”

3. **उदात्त भाव:** महाकाव्य की भाव-योजना मनुष्य की चेतना को उदार और अपने समय के प्रति संवेदनशील बनाती है। इस दृष्टि से कामायनी की भाव-योजना महाकाव्य के अनुरूप ही है।
4. **उदात्त चरित्र:** कामायनी की केंद्रीय पात्र श्रद्धा है जो महाकाव्य के एकदम अनुरूप है। वह दयामयी, ममतामयी और समर्पणमयी है। इस रूप में वह भारतीय नारी के आधारभूत चरित्र का प्रतिनिधित्व करती है।
5. **उदात्त शैली:** कामायनी में अद्भुत ऐश्वर्य और अलंकार का समन्वय है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

“नील परिधान बीच सुकुमार
खिल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघवन बीच गुलाबी रंग।”

इसमें लक्षणा और व्यंजना की समर्थ योजना है। कल्पना और भावना का अपूर्व वैभव है तथा मूर्तिविधान और बिंब-विधान की प्रभावशाली योजना है। अतः कामायनी शैली के धरातल पर भी उदात्तता का पूर्णतः निर्वाह करती है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि कामायनी आधुनिक रचनाशील मानस की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यद्यपि महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह इस कृति में नहीं हुआ है पर अपने विराट कथ्य और चिंतन की गहराई के कारण इस कृति को 'रामचरितमानस' के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त हुआ है।

प्रश्न: “ ‘कामायनी’ उज्ज्वल चेतना का सुंदर इतिहास है।” इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

(225 शब्द)

उत्तर: प्रसाद द्वारा रचित 'कामायनी' आधुनिक युग का महाकाव्य है। प्रसाद ने मनु की कथा के माध्यम से मानव मन व 'मानवीय ऐतिहासिक विकास' की उज्ज्वल चेतना का प्रस्तुतीकरण किया है।

यह चेतना 'समरसता' की चेतना है जो 'चिंता' से प्रारंभ होकर 'आनंद' तक जाती है। जैसे “चेतना एक विलासती, आनंद अखंड घना था।” प्रसाद ने इस समरसता को उज्ज्वल कहा है क्योंकि यह चेतना संकीर्ण नहीं व्यापक है। यह मानव-मानव की समरसता की चेतना है, मानव-प्रकृति की समरसता की चेतना है, मानव मन के विकास की चेतना है तथा यह मानव के ही भावों, बुद्धि व हृदय की समरसता की चेतना है।

मनु जब हृदय रूपी भावनाओं (श्रद्धा) से विलग होकर बुद्धि (ईड़ा) के पास जाता है तो फलस्वरूप संघर्ष, तनाव, विसंगति पैदा होते हैं। परंतु जब वह बुद्धि (ईड़ा) व हृदय (श्रद्धा) दोनों का साथ प्राप्त करता है तो समरसता की प्राप्ति करता है।

इसी प्रकार यह समरसता की उज्ज्वल चेतना, ज्ञान, क्रिया व इच्छा के समन्वय को भी स्थापित करती है। इनकी विषमता ही विसंगति का कारण है।

“ज्ञान दूर कुछ किया भिन्न है,

क्यों इच्छा पूरी हो जीवन की।”

प्रसाद की यह उज्ज्वल चेतना दृष्टि मानव-पशु अधिकारों, पर्यावरणीय सतृप्ता में भी समन्वय स्थापित करती है। श्रद्धा मनु से कहती है कि 'ये प्राणी जो बचे हुए हैं अचला जगती के/क्या अधिकार नहीं इनके? तथा प्रकृति की अति दोहनता के प्रति सचेत करती है—

“प्रकृति रही दुर्जेय पराजित हम सब थे भूले मद में।

प्रसाद ने इसी उज्ज्वल चेतना से वर्ग विषमता पर चोट की है तथा कहा है कि— 'वर्गों की यह खाई बन फैली जो कभी नहीं जुड़ने की।' यदि वर्ग समन्वय नहीं किया तो यह संघर्ष को जन्म दे सकता है। यहाँ प्रसाद की उज्ज्वल चेतना में चिंता का भाव मार्क्सवादी है तथा उसका हल तुलसी की समन्वयवादी दृष्टि में है।

इस प्रकार कामायनी समरसतावादी उज्ज्वल चेतना का सुंदर इतिहास बन गई है।

प्रश्न: 'कामायनी मानव-मन एवं मानवता के विकास की कहानी है।' इस मत के संदर्भ में कामायनी का विवेचन कीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: कामायनी प्रतीकात्मक काव्य है जिसमें प्रस्तुत कथा के समानान्तर अप्रस्तुत कथा भी लगातार चलती रहती है। प्रतीकात्मक कथा के माध्यम से प्रसाद ने मानव मन तथा मानवता के विकास की यात्रा का क्रमिक चित्र प्रस्तुत किया है। जहाँ तक मानव-मन का प्रश्न है, प्रसाद ने स्वयं रचना के आमुख में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि 'मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष-हृदय व मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा व ईड़ा से भी सरलता से लग जाता है।'

कामायनी के सभी सर्ग मानव-मन की विकास यात्रा को ही प्रस्तुत करते हैं। सबसे पहले मनु अर्थात् मन 'चिंता' की स्थिति में है क्योंकि उसका समस्त वैभव खो गया है। कुछ समय तक चिन्ता में डूबे रहने के बाद उसके मन में धीरे-धीरे

‘आशा’ उत्पन्न होती है क्योंकि मानव-मन निराशा व आशा के द्वन्द्व से ही संरचित हुआ है। आशा के बाद धीरे-धीरे ‘श्रद्धा’ व आस्था जैसे भाव उत्पन्न होते हैं, जिन्हें श्रद्धा सर्ग में प्रस्तुत किया गया है। मनुष्य की बाल्यावस्था में श्रद्धा जैसे भावों की उपस्थिति एक सहज स्थिति है। फिर जैसे-जैसे मन किशोरावस्था या युवावस्था में आता है, उसमें ‘काम’ व ‘वासना’ जैसे भाव स्वभावतः उत्पन्न होते हैं व वासनाजन्य ‘लज्जा’ भी उसके परिणामस्वरूप विकसित होती है। यही पूरी प्रक्रिया ‘काम’, ‘वासना’, ‘लज्जा’ जैसे सर्गों में दिखती है। इन भावों से मुक्त होकर मनुष्य बाहरी जीवन में उपलब्धियाँ अर्जित करना चाहता है। अब उसकी अधिकार भावना बढ़ती जाती है और वह श्रद्धा जैसे भावों से वंचित होकर अति बौद्धिकता व तार्किकता को महत्व देने लगता है। ‘कर्म’, ‘ईर्ष्या’ तथा ‘इड़ा’ सर्गों में मन की यही विकास-यात्रा प्रस्तुत हुई है। किन्तु, मन की अबाधित अधिकार भावना हर वस्तु को नियंत्रित कर लेना चाहती है जिसके परिणामस्वरूप उसे कठोर संघर्षों में पराजय झेलनी पड़ती है। ‘संघर्ष’ व ‘निर्वेद’ सर्गों में यही भाव व्यक्त हुआ है।

इसके बाद की कथा मानव-मन की स्वाभाविक कथा है या नहीं- इस प्रश्न पर विवाद है। प्रगतिवादी समीक्षकों की मान्यता है कि प्रसाद कथानक को जबर्न अध्यात्म के क्षेत्र में खींचकर ले गए हैं। किन्तु, आदर्शवादी विचारकों की राय में अंतिम तीन सर्ग भी मानव-मन की विकास यात्रा के स्वाभाविक चरण हैं। सांसारिक द्वन्द्वों में लम्बे समय तक उलझे रहने के बाद मन यह समझ पाता है कि विषमताओं का अंतिम समाधान आध्यात्मिक उन्नयन में है। कामायनी के अंतिम तीन सर्ग ‘दर्शन’, ‘रहस्य’ तथा ‘आनन्द’ मन की इसी आध्यात्मिक यात्रा का संकेत करते हैं।

कामायनी की प्रतीकात्मकता का दूसरा स्तर मानव-इतिहास के स्तर पर भी खुलता है। मानवता का सम्पूर्ण इतिहास ‘चिंता’ से ही शुरू होता है क्योंकि जब मानव सोचने-समझने की शक्ति से युक्त हुआ होगा तो जीवन में व्याप्त असुरक्षाओं ने उसे सचमुच चिंतित किया होगा। इसके बाद मनुष्य ने धीरे-धीरे प्रकृति के रहस्यों को समझते हुए ‘आशा’ महसूस की होगी। इसके तुरंत बाद वह समय आया होगा, जब उसने धर्म व ईश्वर जैसी धारणाएँ बनाई होंगी और उनके प्रति ‘श्रद्धा’ से भर उठा होगा। ‘काम’ व ‘वासना’ उसकी सहज प्रवृत्तियाँ थीं, किन्तु सामाजिक संरचनाओं के विकास की प्रक्रिया में ‘लज्जा’ जैसे भाव भी उसके जीवन का अंग बने होंगे। पूंजीवादी व्यवस्था ने सुविधाएँ तो एकत्रित कर दीं किन्तु मनुष्य की भूख निरंतर बढ़ती गई, जिसके परिणामस्वरूप ‘संघर्ष’ होना स्वाभाविक था। प्रत्येक व्यक्ति भौतिकता की इसी अंधी दौड़ में दौड़ता रहा और अंततः विरोधी शक्तियों से पराजित हुआ क्योंकि तार्किकता पर किसी व्यक्ति विशेष का प्रभुत्व स्थापित नहीं होता। जो बुद्धि आज किसी के पक्ष में है, वह कल किसी और के पक्ष में हो सकती है। पूंजीवाद की यह अंधी दौड़ मनुष्य को अंततः निराशा की उसी भाव-भूमि पर ले आती है, जहाँ से उसने वस्तुओं तथा भौतिक सुखों के संग्रह की कोशिश शुरू की थी। अब उसे समझ आता है कि वास्तविक आनन्द वस्तुओं के संग्रह में नहीं, बल्कि आत्मसाक्षात्कार में है, परमतत्त्व के रूप में स्वयं को पहचान लेने में है। यहाँ पुनः श्रद्धामूलक दृष्टि का विकास होता है और यही दृष्टिकोण उसे सुख-दुख के द्वैत से परे वास्तविक ‘आनन्द’ की स्थिति में ले जाता है।

स्पष्ट है कि कामायनी प्रतीकात्मक स्तर पर मानव-मन तथा मानवता के इतिहास की ही कथा है जिसे प्रसाद ने बेहद खूबसूरती से काव्य के तत्वों में गूँथ दिया है।

कुरुक्षेत्र

प्रश्न: दिनकर की कविता ‘कुरुक्षेत्र’ में व्यक्त ‘मानवतावादी दर्शन’ के स्वरूप पर प्रकाश डालिए। (300 शब्द)

उत्तर: मानवतावाद एक सामान्य दर्शन है जो मनुष्य को सृष्टि के केंद्र में रखता है तथा मनुष्य के जगत् या इहलोक को अलौकिक जगत् की तुलना में अधिक महत्व देता है। कुरुक्षेत्र में मानवतावादी दर्शन को विभिन्न स्तरों पर देखा जा सकता है।

मानवतावाद का स्पष्ट विश्वास विश्ववाद या अंतर्राष्ट्रवाद में है। दिनकर कुरुक्षेत्र के अंतिम दो सर्गों में मनुष्यमात्र की बात करते हैं, किसी देश या स्थान विशेष की चर्चा नहीं करते।

दिनकर मानवतावाद के साथ लोकतंत्र को जोड़ते हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि जब तक प्रत्येक मनुष्य की अपनी प्रकृति के अनुसार स्वशासन का अधिकार न मिल जाए जब तक मानवतावाद का कोई महत्त्व नहीं। इसलिए उन्होंने कुरुक्षेत्र में राजतंत्र का बड़ा विरोध किया है-

“राजतंत्र द्योतक है नर की/मलिन निरीह प्रकृति का”

मानवतावादी दर्शन में माना गया है कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता होता है। दिनकर कर्मवादी दर्शन का समर्थन करते हैं-

ब्रह्म से कुछ लिखा भाग्य में/मनुज नहीं लाया है/अपना सुख उसने अपने/भुजबल से ही पाया है।

मानवतावाद मनुष्य मात्र में आत्मविश्वास का दर्शन है। यह मानता है कि वर्तमान स्थितियाँ चाहे जैसी हो मनुष्य का भविष्य उज्ज्वल है। दिनकर भी अखण्ड आशावादी हैं तथा मनुष्य के सुंदर भविष्य में उनका विश्वास कुरुक्षेत्र में भी बना रहा है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि दिनकर का मानवतावाद कुरुक्षेत्र में न केवल विश्लेषण के स्तर पर बल्कि ओज के स्तर पर भी व्यक्त हुआ है। वे इस बात को समझते थे कि मानवतावाद का अर्थ केवल बाह्य प्रकृति से मानव मुक्ति नहीं वरन् मनुष्य की आंतरिक पाशविक प्रवृत्ति से मुक्त होना भी उसकी जरूरत है। फिर पाशविक प्रवृत्ति से मुक्ति हेतु इन्द्रिय निग्रह कर लेना व इन्द्रिय सुखों से वंचित हो जाना, वह दूसरे प्रकार का भ्रम है। इसलिए उन्होंने मानवतावादी व्यक्तिवादी चिंतन के स्थान पर समाजवादी चिंतन को व निवृत्तिवादी दर्शन के स्थान पर सहज प्रवृत्तिवादी दर्शन को चुना तथा मनुष्य को वैसा ही बनाया जैसा वह है या होना चाहता है।

प्रश्न: कुरुक्षेत्र के काव्यरूप का निर्धारण कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: कुरुक्षेत्र का काव्य रूप का प्रश्न विवादग्रस्त है क्योंकि यह काव्य सभी पारम्परिक काव्य ढाँचों को अस्वीकार करते हुए नई प्रयोगधर्मिता से संरचित हुआ है।

दिनकर ने कुरुक्षेत्र के निवेदन में अपना मत स्पष्ट किया है जिसका सारतत्त्व है कि वे इसे प्रबंध काव्य के रूप में लिखना चाह रहे थे।

पहला प्रश्न है कि कुरुक्षेत्र प्रबंध काव्य है अथवा नहीं? कुरुक्षेत्र का कोई निश्चित कथानक नहीं है; घटनाओं की संख्या शून्य है; चरित्रों की संख्या कम है तथा उनके विकास की कोई योजना भी नहीं दिखाई देती। अतः यह उस अर्थ में कथात्मक प्रबंधकाव्य नहीं है जिस अर्थ में ‘प्रियप्रवास’ और ‘साकेत’ जैसे आधुनिक या ‘पृथ्वीराज रासो’ या ‘रामचरित मानस’ जैसे पारम्परिक काव्य हैं।

तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि कुरुक्षेत्र प्रबंध है तो उसकी प्रबंधात्मकता का आधार क्या है? दिनकर ने खुद रचना के निवेदन में स्वीकारा है कि कुरुक्षेत्र में प्रबंध-विधान वैचारिक स्तर पर है, न कि कथात्मक स्तर पर।

स्पष्ट है कि कुरुक्षेत्र की प्रबंधात्मकता नए प्रकार की है जिसे नवीन दृष्टि से ही समझा जा सकता है। यदि कुरुक्षेत्र की प्रबंध योजना का विश्लेषण करें तो कई समस्याएँ नज़र आती हैं। यह सात सर्गों की छोटी सी रचना है जिसमें विचार तत्व आदि से अंत तक प्रबल रहा है।

प्रश्न है कि क्या एक वैचारिक प्रबंध के रूप में ही कुरुक्षेत्र को ‘महाकाव्य’ का दर्जा दिया जा सकता है? संभवतः नहीं।

कुल मिलाकर, यह तय है कि कुरुक्षेत्र मुक्तक नहीं प्रबंध-काव्य है; किन्तु उसकी प्रबंधात्मकता वैचारिक एकता की दृष्टि से है, न कि कथात्मक अन्विति की दृष्टि से। यह महाकाव्य नहीं है क्योंकि इसमें वर्णित समस्याएँ और कलेवर उतना विराट नहीं हैं। इसे खण्डकाव्य या लम्बी कविता माना जा सकता है किन्तु तत्कालीन प्रयोगों को ध्यान रखें तो लम्बी कविता में इसे रखना ज्यादा उचित होगा। और सूक्ष्म निर्णय करें तो यह ‘विचार प्रधान लंबी कविता’ है जो ‘सरोज स्मृति’ जैसी प्रगीतात्मक लंबी कविताओं और ‘राम की शक्ति पूजा’ जैसी कथात्मक लम्बी कविताओं से भी भिन्न है।

प्रश्न: “‘कुरुक्षेत्र’ दिनकर के समसामयिक चिंतन का उत्तम निदर्शन है।” इस मान्यता के आलोक में कुरुक्षेत्र के प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालिये। (300 शब्द)

उत्तर: उत्तर: किसी भी युग की सार्थक और बड़ी रचना जीवन के ऐसे प्रश्नों से टकराती है जो अपनी प्रकृति में शाश्वत भी होते हैं और सामयिक भी। हिन्दी के राष्ट्रकवि दिनकर की कृति ‘कुरुक्षेत्र’ भी ऐसी ही रचना है जिसमें मूलतः युद्ध की समस्या को उठाया गया है जो मानव-सभ्यता के सामने खड़ा एक शाश्वत संकट तो रहा ही है; साथ ही, दिनकर जिस कलखण्ड के कवि है उस कलखण्ड के सामने भी एक ज्वलन्त प्रश्न बनकर उपस्थित रहा। कुरुक्षेत्र का रचना-समय द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर समय है जहाँ विश्व युद्ध की विभीषिका से जूझकर गुजरा है, साथ ही यह वह समय भी है जब भारत ब्रिटिश साम्राज्य से अपनी स्वतंत्रता हेतु संघर्षरत है। ऐसे समय में दिनकर ने कुरुक्षेत्र में युद्ध की प्रासंगिकता पर गहन चिन्तन प्रस्तुत किया है। साथ ही उन्होंने अन्य समसामयिक विचारधाराओं को भी प्रस्तुत किया है।

दिनकर बुनियादी रूप से तो युद्ध को अकाम्य मानते हैं किंतु अन्याय एवं अत्याचार को सहने को कायरता घोषित करते हैं। अपने अधिकारों की रक्षा तथा सामुदायिक हित में अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने को वे नैतिक घोषित करते हैं-

पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे, बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

दिनकर एक मानववादी रचनाकार हैं। इसलिए वे ईश्वर की जगह मनुष्य को केन्द्र में रखते हैं तथा पारलौकिकता एवं आध्यात्मिकता का खण्डन करते हुए इहलौकिकता को महत्व देते हैं-

ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में

युधिष्ठिर जो कुछ भी है, इस मिट्टी में, जीवन में।

वे मार्क्सवादी विचारधारा के समतामूलक वितरण एवं न्याय के सिद्धांत का समर्थन करते हैं। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि जब तक सभी मनुष्यों को सुख एवं न्याय की प्राप्ति नहीं होगी तब तक पृथ्वी पर शांति की स्थापना संभव नहीं है।-

जब तक मनुज-मनुज का यह, सुख-भाग नहीं सम होगा

शमित न होगा कोलाहल, संघर्ष नहीं कम होगा।

पूँजीवादी व्यवस्था अपने शोषण तंत्र को निर्विण रूप से चलाए रखने के लिए ‘जियो और जीने दो’ का प्रतिपादन करती है। किंतु दिनकर इसे और भी बुरी स्थिति मानते हैं क्योंकि इसमें शोषित वर्ग अपने पक्ष में आवाज उठाने की स्थिति में भी नहीं होता-

हिलोडुलो मत हृदय रक्त अपना पीने दो

अटल रहे साम्राज्य शांति का जियो और जीने दो।

दिनकर पर क्रायड के मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव भी नजर आता है। ‘उर्वशी’ में तो यह स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ ही है। ‘कुरुक्षेत्र’ में भी इसकी अनुगूँज सुनाई देती है-

कोमलता की लौ व्रत के आलोकों से सुंदर है।

स्पष्ट है कि कुरुक्षेत्र दिनकर के समसामयिक चिंतन का उत्तम निदर्शन है।

असाध्य वीणा

प्रश्न: ‘असाध्य वीणा’ की काव्यभाषा पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: अज्ञेय उन गिने-चुने साहित्यकारों में से हैं जो भाषा को जीवन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। भाषा में भी अज्ञेय शब्द को अधिक महत्व देते हैं। उनके अनुसार - ‘काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।’ इस दृष्टि से असाध्य वीणा एक महत्वपूर्ण रचना है। पूरी कविता में शब्द प्रयोग में एक

अद्भुत तराश दिखाई देती है। अनावश्यक शब्दों के प्रयोग से बचते हुये अज्ञेय ने शब्दों का मितव्ययी रूप में संस्कारवान प्रयोग किया है, यथा-

“आ गये प्रियंवद! केशकम्बली! गुफा-गेह!”

तत्सम एवं तद्भव शब्दों का कौशलपूर्ण संगुम्फन अज्ञेय की काव्य-भाषा की विशिष्ट पहचान है। तत्सम शब्दों के प्रयोग का एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

“अपने छायातप, वृष्टि-पवन, पल्लव-कुसुमों की लय पर”

किंतु अज्ञेय मूलतः तद्भव भाषा के कवि हैं। असाध्य वीणा की भाषा मूलतः तद्भव प्रकृति की है। उदाहारणार्थ-

“उसे/ बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सोंधी खुदबुद/”

अज्ञेय की काव्य भाषा में ‘मौन’ गहरी अर्थवत्ता को धारण करता है। ‘मौन की स्थिति’ असाध्य वीणा में अपेक्षता विस्तार से अंकित हुई है। उदाहरण के लिए-

“सुना आपने जो वह मेरा नहीं/ न वीणा का था/ वह तो सब कुछ की तथता थी/ महाशून्य/ वह महामौन/ अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय/ जो शब्दहीन/ सब में गाता है।”

दरअसल अज्ञेय की भाषा को द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता, छायावाद की प्रगीतात्मकता तथा प्रगतिवाद की सपाट बयानी से बचते हुए एक ऐसी भाषा बनना था जो गहरी अनुभूतियों को सूक्ष्मता के साथ अंकित कर सके। अज्ञेय ने शब्दों का निर्माण किया है और शब्दों के प्रयोग में जिस सूक्ष्मता का परिचय दिया है उससे वे सचमुच अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल भाषा का निर्माण कर सके हैं। यही कारण है कि भाषिक क्षमता के आधार पर उनकी गिनती कालिदास जैसे रचनाकारों के साथ ही की जा सकती है।

प्रश्न: जैन बौद्धमत के प्रभाव के संदर्भ में ‘असाध्य वीणा’ कविता का विवेचन कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: महायानी-बौद्ध परंपरा की दो प्रमुख शाखाएँ हैं- माध्यमिक शून्यवाद तथा योगाचार विज्ञानवाद। जैन बौद्धमत इन्हीं दोनों शाखाओं के विचारों से प्रभावित है। नागार्जुन आदि माध्यमिक शून्यवादियों का मानना था कि जगत की हर वस्तु ‘अवर्णनीय’ अर्थात् ‘शून्य’ है। उन्होंने पारमार्थिक तत्त्व को भी शून्य ही कहा क्योंकि हम अपनी बुद्धि और इन्द्रियों से कभी उसे नहीं समझ सकते। असाध्यवीणा में शून्यवाद का प्रभाव उन पंक्तियों में नज़र आता है जहाँ परमतत्त्व को शून्य कहकर पुकारा गया है।

“श्रेय नहीं कुछ मेरा/ मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में/ वीणा के माध्यम से अपने को मैंने/ सब कुछ/ को सौंप दिया था/ ग ग ग ग ग गध महाशून्य/ ग ग ग ग गध जो शब्दहीन/ सबमें गाता है।”

जैन परंपरा पर माध्यमिक शून्यवाद से ज़्यादा प्रभाव योगाचार विज्ञानवाद का है। यह संप्रदाय इस विचार का समर्थक है कि भौतिक वस्तु की सत्ता नहीं है, सत्ता सिर्फ विज्ञानों या चेतना की है। ये लोग ध्यान पर अत्यधिक बल देते थे और इनका दावा था कि मानसिक तादात्म्य के स्तर पर जटिल से जटिल साधना की जा सकती है।

असाध्यवीणा पर इस विचारधारा का प्रभाव ज़्यादा स्पष्ट है। प्रियंवद से पहले सभी कलाकार भौतिक स्तर पर वीणा को साधने में लगे थे, किंतु प्रियंवद ने बिना वीणा को छुए मानसिक तादात्म्य के स्तर पर उसे साधा। साधना प्रक्रिया की शुरुआत में ही अज्ञेय लिखते हैं-

“वीणा उस पर रख, पलक मूँदकर, प्राण खींच/ कर के प्रणाम/ अस्पर्श छुअन से छुए तार।”

इसी मानसिक तादात्म्य के आधार पर यह प्रक्रिया पूरी होती है और वीणा में सोया संगीत जग जाता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ‘असाध्य वीणा’ पर जैन बौद्धमत का गहरा प्रभाव है।

प्रश्न: ‘असाध्यवीणा ‘मौन से स्वर’ और ‘स्वर से मौन’ की यात्रा है।’ इस कथन के संदर्भ में असाध्य वीणा कविता का विवेचन कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने असाध्यवीणा के जिस महत्वपूर्ण पक्ष को रेखांकित किया है, वह ‘मौन’ और ‘स्वर’ का पारस्परिक संबंध है। साधारण जीवन में प्रतीत होता है कि ‘मौन’ और ‘स्वर’ दो विपरीत स्थितियाँ हैं लेकिन असाध्यवीणा

पढ़कर महसूस होता है कि हर स्वर अंततः परम मौन की ही अभिव्यक्ति है। मौन तथा स्वर के इस संबंध की व्याख्या में जैन बुद्धिज्म का प्रभाव और अज्ञेय के सृजनात्मक रहस्यवाद का तत्व भी नज़र आता है।

मौन से स्वर और स्वर से मौन की यात्रा का प्रस्तुत अर्थ तो कविता में दिखता ही है। असाध्यवीणा जब से निर्मित हुई है, तब से मौन ही है। प्रियंवद के उपस्थित होने का कारण यही है कि संभवतः वह वीणा के मौन को भंग करके उसमें सोए हुए स्वर को जगा सकेगा।

प्रियंवद की साधना प्रक्रिया बाकी कलावंतों से अलग है। बाकी कलावंत वीणा को साधने में लगे हैं और उनका दृष्टिकोण बहिर्मुखी है। किन्तु, प्रियंवद ने वीणा के स्थान पर खुद को साधने या आत्मशोधन पर बल दिया और यह सारी प्रक्रिया एक आंतरिक मौन के स्तर पर ही होती रही—

“पर उस स्पन्दित सन्नाटे में,
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा—
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।”

यह मौन साधना गंभीर होती गई। धीरे-धीरे प्रियंवद ‘साक्षी’ के स्तर पर पहुँचा और उसने अपने भीतर वे सभी स्वर सुने जो किरिटी तरु में रचे बसे हुए थे। वस्तुतः किरिटी तरु का मौन असंख्य स्वरों की समष्टि ही है। इन सभी स्वरों को अपने मौन के भीतर सुन लेने पर प्रियंवद को अहसास हुआ कि उसके सारे स्वर तथा शब्द वस्तुतः उसके नहीं, वे तो उसी महामौन के अभिव्यक्त रूप हैं जो हर प्राणी के भीतर विद्यमान है।

जिस बिन्दु पर प्रियंवद अहंशून्य होकर किरिटी वृक्ष से कहता है कि ‘तू उतर बीन के तारों में, अपने से गा, अपने को गा’, ठीक उसके बाद अचानक वीणा झनझना उठती है और वीणा में छिपा हुआ संगीत सम्मोहनकारी प्रभाव के साथ व्यक्त होता है। कुछ समय बाद वीणा का संगीत रुक जाता है। इस प्रकार एक लम्बी प्रक्रिया में मौन के स्तर पर स्वर की साधना हुई, कुछ क्षणों के लिए स्वर फूटा और उसके बाद पुनः वीणा का मौन हो जाना स्वर से मौन की यात्रा है।

वस्तुतः डॉ. विद्यानिवास मिश्र के इस कथन का अप्रस्तुत अर्थ ज्यादा महत्वपूर्ण है जो प्रतीक के स्तर पर खुलता है। यहाँ ‘स्वर’ और ‘मौन’ प्रतीक ही हैं। मौन का अर्थ ‘स्वरों के अभाव’ से नहीं बल्कि स्वरों की उस ‘महासमष्टि’ से है जो सामान्यतः अव्यक्त रहती है। कविता में कम से कम दो स्थानों पर स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सारे स्वर परम तत्व के मौन में ही शामिल हैं।

अज्ञेय के मौन और स्वर संबंधी विचारों का निचोड़ यही है कि विश्व की सारी ध्वनियाँ परम तत्व में ही अंतर्भूत हैं। परम तत्व सारी ध्वनियों से युक्त होकर भी मौन रहता है। संसार में जब भी कोई ध्वनि व्यक्त होती है तो वह उसी महामौन का एक अंश मात्र होती है। हर ध्वनि उसी मौन से उत्पन्न होकर अंततः मौन में ही तिरोहित हो जाती है। इसी दृष्टि से इस कथन का अर्थ खुलता है कि असाध्यवीणा ‘मौन से स्वर’ और ‘स्वर से मौन’ की यात्रा है।

प्रश्न: ‘असाध्य वीणा’ ‘सृजन तत्त्व’ की गहन व्याख्या करने वाली कविता है— इस कथन के परिप्रेक्ष्य में इस कविता पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: ‘असाध्य वीणा’ कविता की सृजन तत्त्व के सम्बन्ध में यह कविता मूलतः चार पक्षों पर चिंतन करती है— सृजन की अर्हता, सृजन की प्रक्रिया, सृजन तत्त्व का स्वरूप और सृजन का प्रभाव। पहले स्तर पर कविता सृजन की अर्हता को स्पष्ट करती है—

“मेरे हार गये सब जाने-माने कलावन्त,
सब की विद्या हो गयी अकारथ, दर्प चूर,
कोई ज्ञानी गुणी आज तक इसे न साध सका।”

ज्ञान व गुण तो अर्हताएँ हैं ही, किन्तु सृजन का निर्णायक तत्त्व वह भाव-भूमि है जहाँ पहुँचकर साधक का अहंकार समाप्त हो जाता है और वह सृजनशक्ति के सामने आत्मनिवेदन के भाव से उपस्थित होता है।

दूसरे स्तर पर यह कविता सृजन की प्रक्रिया को व्याख्यायित करती है। सृजन की प्रक्रिया का मूल सम्बन्ध अहंकार के विलयन से है। अहंकार के विलयन के लिये आवश्यक है कि साधक सृजनशक्ति के प्रति आत्मनिवेदन के भाव से प्रस्तुत हो।

“पर उस स्पन्दित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा -
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।
सघन निविड़ में वह अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी-तरु को।”

कविता सृजन की प्रक्रिया में एक और स्थापना करती है। प्रगतिवादी धारणा के विपरीत इस कविता की स्पष्ट धारणा है कि सृजन की प्रक्रिया अपने-आप में वैयक्तिक ही हो सकती है, समाज-सापेक्ष नहीं।

तीसरे स्तर पर यह कविता सृजनात्मकता या सृजन शक्ति के स्वरूप की व्याख्या करती है। यह पश्चिमी साहित्यिक चिंतन के अनुरूप कला को साधन के रूप में प्रतिष्ठित नहीं करती। इसके विपरीत भारतीय दर्शन की अनुरूपता में उसे ब्रह्म के समान महत्व देती है।

अंतिम स्तर पर यह कविता सृजन के प्रभाव को स्पष्ट करती है। प्रगतिवादी चिंतन में कला को न सिर्फ साधन माना गया है बल्कि सर्वहारा की मुक्ति के रूप में उसके प्रभाव की वस्तुनिष्ठता की स्थापना भी की गई है। असाध्य वीणा इस वस्तुनिष्ठता का खण्डन करती है और स्पष्ट करती है कि प्रत्येक व्यक्ति पर सृजन का प्रभाव अलग होता है-

“डूब गए सब एक साथ
सब अलग-अलग एकाकी पार तिरो।”

जिस तरह सृजन मुक्तिदायी है उसी प्रकार सृजन का प्रभाव भी मुक्ति देता है। इस प्रभाव की चर्चा राजा व रानी के मानसिक विस्तार के रूप में की गई है। सृजन का प्रभाव राजा के मन से ईर्ष्या, द्वेष, महत्वाकांक्षा और चाटुकारिता जैसी निम्नस्तरीय प्रवृत्तियों को निकालकर उसमें परमार्थ की चेतना भरता है और रानी के भाव जगत में से निरर्थक शृंगार-सामग्री आदि को हटाकर शुद्ध दायित्वमूलक प्यार को स्थापित करता है। इस प्रकार सृजन का प्रभाव न केवल सम्मोहनपूर्ण बल्कि औदात्य से युक्त भी बताया गया है। कविता का यह प्रभाव आगे चलकर युग परिवर्तनकारी भी साबित होता है।

“उठ गयी सभा। सब अपने-अपने काम लगे
युग पलट गया।”

इस प्रकार ‘असाध्य वीणा’ कविता में ‘सृजन तत्व’ की अत्यन्त गहन व्याख्या की गई है।

प्रश्न: असाध्य वीणा की बिंब-योजना पर विचार कीजिये।

(150 शब्द)

उत्तर: हिन्दी कविता में अज्ञेय की विशिष्ट पहचान का एक कारण उनकी सधी बिंब-योजना है और इस धरातल पर उनकी सर्वाधिक सशक्त कृति ‘असाध्य वीणा’ है। ‘असाध्य वीणा’ में आद्यन्त बिंब भरे पड़े हैं। अपनी ऐन्द्रिकता में सामान्य स्थितियों को अभिव्यक्ति देने के कारण बिम्बों की दृष्टि से यह नई कविता की अप्रतिम रचना है।

‘असाध्य वीणा’ में अज्ञेय ने प्रकृति एवं सामान्य लोकजीवन से बिंब-उपादानों का चयन करते हुए दृश्य, ध्वनि, स्पर्श आदि बिम्बों का कुशल प्रयोग किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

“और चित्र प्रत्येक/स्तब्ध, विजडित करता है मुझको।
सुनता हूँ मैं/पर हर स्वर कंपन लेता है मुझको मुझसे सोख
वायु-सा, नाद-भरा मैं उड़ जाता हूँ।”

‘असाध्य वीणा’ की सर्जनात्मक समृद्धि का एक बड़ा कारण समाज के कोमल रागात्मक संबंधों से संबद्ध बिम्बों की सृष्टि है। उन्होंने पति-पत्नी के अनन्य प्रेम के लिए मेघ और बिजली के अनन्य संबंध का बिंब सृजित किया है। इसी तरह

किरीटी-तरु और प्रियंवद के संबंध के लिये पिता-पुत्र तथा वीणा एवं प्रियंवद के संबंध के लिए माता-पुत्र संबंध का बिंब रचा है। उदाहरणस्वरूप वीणा के सुनहरे तारों पर प्रियंवद की धीरे-धीरे फिरती अँगुलियों के लिये अज्ञेय ने निम्नांकित बिंब खड़ा किया है-

“अलस अँगड़ाई लेकर मानो जाग उठी थी वीणा
किलक उठे थे स्वर शिशु”

हम कह सकते हैं कि ‘असाध्य वीणा’ में अज्ञेय बिंबधर्मिता के उत्कर्ष पर स्थित दिखाई देते हैं।

प्रश्न: ‘असाध्य वीणा’ में अनुभूत ‘सृजनात्मक रहस्यवाद’ पर प्रकाश डालिये।

(225 शब्द)

उत्तर: अज्ञेय ने स्वयं स्वीकारा है कि उनकी काव्यानुभूति का एक अंश रहस्यवाद से प्रभावित है। उनके अनुसार इसे पारंपरिक रहस्यवाद से अलग समझना चाहिए। यह भक्त कवियों का ईश्वर के प्रति भावनात्मक संबंध नहीं है और न ही छायावादी कवियों की अपने व्यक्तित्व को उपलब्ध कर लेने की कोशिश है। यह रहस्यवाद तो अपने भीतर निहित सृजनात्मक शक्ति के प्रति है। भीतर होने से यह अर्थ निकालना गलत होगा कि इस पर हठयोग के साधनात्मक रहस्यवाद का प्रभाव है। इस पर यदि प्रभाव है तो महायानी बौद्ध धर्म के शून्यवाद तथा विज्ञानवाद से प्रेरित ‘जेन बौद्धमत’ का है। जेन बौद्धमत का दावा है कि परम तत्व या बुद्धत्व की खोज समस्त बाहरी साधनों के निषेध तथा आंतरिक शोधन से होती है।

अज्ञेय के रहस्यवाद के संबंध में यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि इसमें वह आवेग नहीं दिखाई देता जो कबीर, जायसी, मीरा या महादेवी के यहाँ दिखता है। इसका मूल कारण यह है कि अज्ञेय रोमांटिक नहीं, गैर रोमांटिक कवि हैं। इस दृष्टिकोण के कारण उनकी कविताओं में आवेग से अधिक महत्व हमेशा वैचारिकता व तटस्थता का रहता है। यही विशेषता उनके रहस्यवाद में भी दिखती है। अपने रहस्यवाद के आरंभिक चरण में उनमें रवीन्द्रनाथ जैसा भावावेग दिखता था किन्तु सृजनात्मक रहस्यवाद के चरम स्तर पर पहुँचते-पहुँचते आवेग का स्थान संयम ने ले लिया है।

रहस्यवाद की चरम स्थिति वहाँ दिखती है जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाए तथा एकत्व की उपलब्धि हो। कबीर को रहस्यात्मक अनुभूति में महसूस हुआ था कि “जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं”। प्रियंवद को भी आंतरिक साधना के चरम बिंदु पर सृजन शक्ति के साथ एकत्व महसूस हुआ है-

“मुझे स्मरण है
पर मुझको मैं भूल गया हूँ
सुनता हूँ मैं
पर मैं मुझ से परे
शब्द में लीयमान।”

इस रहस्यात्मक अनुभूति का प्रभाव भी विराट है। इसका प्रभाव सम्मोहनकारी है व कोई भी इससे बच नहीं सकता। वीणा का बजना सृजन शक्ति का अवतरित होना है जिसके आनंद में सभी डूबते हैं और अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार मुक्ति की अनुभूति प्राप्त करते हैं-

“डूब गये सब एक साथ,
सब अलग अलग एकाकी पार तिरें”

स्पष्ट है कि असाध्यवीणा में अज्ञेय ने सृजनात्मक रहस्यवाद की प्रभावशाली प्रस्तुति की है जो संभवतः आधुनिक साहित्य के लिए एक अप्रतिम उपलब्धि है।

प्रश्न: “‘असाध्य वीणा’ कविता मार्क्सवादी रचना-दृष्टि को खंडित करने का रचनात्मक उपक्रम है।” विचार कीजिये।

(225 शब्द)

उत्तर: मार्क्सवाद की स्पष्ट अवधारणा है किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी सामाजिक स्थितियों का प्रतिबिंब मात्र होता है तथा साहित्य लेखन का उद्देश्य वस्तुनिष्ठ यथार्थवाद की अभिव्यक्ति है। अज्ञेय ने मार्क्सवाद की ऐसी ही धारणाओं को तोड़ते हुए असाध्यवीणा का सृजन किया है।

अज्ञेय ने सृजनात्मक शक्ति की परिभाषा असाध्यवीणा के माध्यम से स्वयं को शोध लेने या आत्मसाधना के माध्यम से दी है, जबकि मार्क्सवाद ने किसी भी सृजनात्मकता को समाज के उप उत्पाद के रूप में रेखांकित करते हुए उसे अभ्यास की वस्तु माना है। असाध्यवीणा में दिखाया गया है कि विभिन्न कलाकार अभ्यास के माध्यम से वीणा को नहीं साध सके क्योंकि उन्होंने कला को वस्तुनिष्ठ रूप में देखा जबकि वीणा साधक ने आत्मनिष्ठता एवं आत्मसाधना के माध्यम से वीणा को बजाया।

मार्क्सवाद परंपरा का खण्डन करती है तथा उसे शोषण के आधार के रूप में प्रतिष्ठित करती है वहीं अज्ञेय ने अपनी भारतीय परंपरा के अनुसरण के माध्यम से अध्यात्म एवं स्वसाधना को स्थापित किया है।

मार्क्सवादी लेखक शिल्प के रूप में सरल भाषा का प्रयोग करते हैं तथा प्रतीकों आदि को रचना के लिये अग्राह्य मानते हैं। असाध्यवीणा में अज्ञेय ने यहाँ भी मार्क्सवाद को तोड़ते हुए एक उत्कृष्ट शिल्प साधना के माध्यम से रचना का निर्माण किया। जहाँ मार्क्सवादी रचनाकार रचना का उद्देश्य समाज में उथल पुथल एवं क्रांति को मानते हैं वहीं अज्ञेय ने असाध्यवीणा में इसको तोड़ते हुए सृजनात्मक संदर्भ में रचना की तथा उसका प्रभाव भी अलग-अलग व्यक्तियों पर अलग-अलग पड़ा।

स्पष्ट है कि 'असाध्यवीणा' मार्क्सवादी रचना-दृष्टि को खंडित करने का रचनात्मक उपक्रम है।

(यह उत्तर आलोचक रामेश्वर राय की पुस्तक 'कविता का परिसर' पर आधारित है।)

ब्रह्मराक्षस

प्रश्न: 'ब्रह्मराक्षस' में प्रयुक्त फैंटेसी शिल्प के स्वरूप एवं औचित्य पर प्रकाश डालिए। (300 शब्द)

उत्तर: फैंटेसी का प्रयोग मुख्यतः भाववादी, मनोविश्लेषणवादी तथा अतिथार्थवादी रचनाकार अपने मन में निहित अमूर्त भावों या अवचेतन मन: स्थितियों की अभिव्यक्ति हेतु करते रहे हैं। किंतु, ध्यातव्य है कि मुक्तिबोध ने फैंटेसी शिल्प का प्रयोग भाववादियों या मनोविश्लेषणवादियों की तरह नहीं किया। उन्होंने उनका शैल्पिक ढाँचा तो स्वीकार किया है किंतु उसका प्रयोग अपने प्रगतिवादी व यथार्थवादी कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए किया है।

ब्रह्मराक्षस कविता फैंटेसी शिल्प पर आधारित है। फैंटेसी शिल्प का प्रयोग मुक्तिबोध की कविताओं की चर्चित विशेषता रही है। इसमें मुक्तिबोध ने जटिल, बहुआयामी एवं गतिशील यथार्थ को सघनता से पकड़ने के लिए फैंटेसी शिल्प का प्रयोग किया है। इससे वे वास्तविकता के अनावश्यक वर्णन से बच सके हैं और अपनी बात को सीधे-सीधे व्यक्त कर पाये हैं। उदाहरण के लिए, कविता में समाज से विच्छिन्न बुद्धिजीवियों के त्रासद अंत की कल्पना वे इस प्रकार करते हैं-

“वह कोठरी में किस तरह

अपना गणित करता रहा

औं' मर गया...”

फैंटेसी के कारण ही कविता में ब्रह्मराक्षस के अन्तर्दर्शन का यह वर्णन संभव हो पाया है -

“खूब ऊँचा एक जीना साँवला

उसकी अंधेरी सीढ़ियाँ

वे एक आभ्यंतर निराले लोक की।

एक चढ़ना औं' उतरना,

पुनः चढ़ना औं' लुढ़कना,

मोच पैरों में

व छाती पर अनेकों घाव।”

ब्रह्मराक्षस कविता फैंटेसी के कारण ही रहस्यात्मक वातावरण को धारण करती है। पूरी कविता का वातावरण रहस्यमय है। वहाँ 'परित्यक्त सूनी बावड़ी' है, उसके भीतर गहरे ठंडे जल में डूबी सीढ़ियाँ हैं, बावड़ी को घेरे हुए डालें उलझी हैं, शाखों पर लटकते घुग्घुओं के घोंसले हैं। ये सभी प्रतीक मुक्तिबोध की फैंटेसी या कल्पना के ही परिणाम हैं।

फैंटेसी की वजह से कविता में नाटकीयता भी पैदा हुई है, जो मुक्तिबोध के काव्य-शिल्प की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। ब्रह्मराक्षस कविता की शुरुआत ही एक नाटकीय दृश्य से होती है जो न बाह्य यथार्थ से दूर, आंतरिक व अमूर्त जगत में ले जाता है-

“शहर के उस ओर खण्डहर की तरफ

परित्यक्त सूनी बावड़ी

के भीतरी

ठंडे अंधरे में”

इस प्रकार मुक्तिबोध ने ब्रह्मराक्षस कविता में फैंटेसी शिल्प के कुशल प्रयोग के द्वारा 'मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के आत्मसंघर्ष' को सफल अभिव्यक्ति दी है।

प्रश्न: 'मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का आत्मसंघर्ष' ब्रह्मराक्षस कविता का केन्द्रीय स्वर है। विवेचन कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: ब्रह्मराक्षस की संश्लिष्ट संवेदना में से जो केन्द्रीय स्वर उभरता है, वह है मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का आत्मसंघर्ष। ये बुद्धिजीवी वे हैं जिनमें 'आत्मचेतस्' व 'विश्वचेतस्' की युगपत् व द्वंद्वात्मक उपस्थिति बनी रहती है। इनका व्यावहारिक मन आत्मचेतस् की ओर भागता है किन्तु इनका नैतिक मन (Super Ego) इतना प्रबल है कि इन्हें बार-बार विश्वचेतस् होने को प्रेरित करता है। नैतिक मन की प्रबलता के कारण ये इतने ज्यादा तनावग्रस्त रहते हैं कि विश्व की हर समस्या के लिए स्वयं को जिम्मेदार ठहराने लगते हैं। इन्हीं दोनों मनो के बीच चलने वाला आत्मसंघर्ष ब्रह्मराक्षस में उपस्थित है-

“आत्मचेतस् किन्तु इस / व्यक्तित्व में थी प्राणमय अनबन...../ विश्वचेतस् बे-बनाव।”

ब्रह्मराक्षस की विशेषता यह है कि इसमें आत्मसंघर्ष को सिर्फ एक स्थिति के रूप में नहीं लिया गया है बल्कि उसके मूल कारणों की गहन समीक्षा भी की गई है। इसी बिंदु पर 'व्यक्तित्व की समस्या' कविता में मुखर हो उठती है। कुछ मार्क्सवादियों का दावा था कि व्यक्तित्व कोई स्वायत्त वस्तु नहीं है बल्कि आर्थिक-सामाजिक स्थितियों का उप-उत्पाद है। मुक्तिबोध जड़ मार्क्सवादी नहीं हैं। ब्रह्मराक्षस के शिष्य के रूप में वे स्वयं कविता में उपस्थित होकर ब्रह्मराक्षस के व्यक्तित्व का महत्व स्थापित करते हैं।

ब्रह्मराक्षस कविता इन मूल प्रश्नों के साथ कुछ अन्य प्रश्नों से भी टकराती है। ब्रह्मराक्षस का संघर्ष यही बताने के लिए है कि जो बुद्धिजीवी अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की पूर्ति नहीं करते, उनकी नियति त्रासद होती है-

“वह कोठरी में किस तरह

अपना गणित करता रहा

और मर गया...”

ब्रह्मराक्षस कविता यह भी स्थापित करती है कि अतिरेकवादी पूर्णता का प्रयास विफल होने को बाध्य होता है। यहाँ मुक्तिबोध बहुत सीमित रूप में अस्तित्ववाद की इस मान्यता से सहमत दिखते हैं कि व्यक्तित्व में पूर्ण सामंजस्य कोरी कल्पना है तथा वेदना, अलगाव और संत्रास जैसे मनःस्थितियाँ प्रामाणिक व्यक्तित्व में उभरने वाली अनिवार्य स्थितियाँ हैं-

“वे भाव-संगत तर्क-संगत, / कार्य सामंजस्य-योजित,

समीकरणा के गणित की सीढ़ियाँ, / हम छोड़ दें उसके लिए।”

इस प्रकार 'ब्रह्मराक्षस' कविता में 'मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी व्यक्ति का आत्मसंघर्ष' अपने विभिन्न पहलुओं के साथ अभिव्यक्त हुआ है।

प्रश्न: 'ब्रह्मराक्षस' कविता में कवि ब्रह्मराक्षस का सजल-उर-शिष्य क्यों होना चाहता है? विश्लेषण कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: ब्रह्मराक्षस कविता की अंत की पंक्तियों में कवि ने लिखा है-

"मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य / होना चाहता / जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत / संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक / पहुँचा सकूँ।"

ये पंक्तियाँ कविता के मूलभाव की दृष्टि से अहम हैं। ब्रह्मराक्षस की समस्या सिर्फ यह है कि वह जिस प्रकार की पूर्णता की प्राप्ति के लिए बेचैन है, वह संभव नहीं है। अतः शिष्य उसकी 'निजता' व 'आंतरिकता' की महत्ता को स्वीकार करते हुए उसके 'अधूरे कार्य' को पूर्ण करने का निश्चय करता है।

ब्रह्मराक्षस के बंधन का मूल कारण क्या है? इसका मूल कारण है कि ब्रह्मराक्षस जीवन भर 'ज्यामितिक संगति' से युक्त नैतिकता के शोधन में लगा रहा और भूल गया कि नैतिकता के क्षेत्र में आत्मनिष्ठता या 'आंतरिकता' से नहीं बचा जा सकता। उसके बंधन का दूसरा कारण यह है कि वह 'कोठरी' में ही अपना गणित करता रहा अर्थात् जनजीवन में सक्रिय सहभागिता से वंचित रहा।

कवि ब्रह्मराक्षस का शिष्य बनकर उसे इन दोनों सीमाओं से मुक्ति देना चाहता है। इसकी अहंता है— 'सजल उर शिष्य' होना। 'सजल उर' होने का अर्थ है भावनाओं से भरे हृदय से युक्त होना। भावनाओं का अनिवार्य संबंध वैयक्तिकता से है। इसलिए इसका प्रतीकात्मक अर्थ व्यक्तित्व तथा आत्मनिष्ठता को महत्व देना है। ब्रह्मराक्षस प्रगतिवादी दायित्व बोध के कारण अपने व्यक्तित्व से पूर्ण छुटकारा पा लेना चाहता है, शुद्धतः 'विश्वचेतस्' बन जाना चाहता है। किन्तु, यह असाध्य लड़ाई उसे 'भव्य असफलताओं' की ओर धकेल देती है क्योंकि इस मार्ग पर सफल होने की संभावना नहीं होती। 'सजल उर शिष्य' बताना चाहता है कि व्यक्तित्व की आंतरिकता शर्म या लज्जा की बात नहीं, बल्कि गौरव की वस्तु है। समाजवाद के लिए व्यक्तित्वहीनता नहीं चाहिए, व्यक्तित्व का समाजवाद से एकीकरण चाहिए।

कवि जानता है कि महान से महान बुद्धि भी यदि सक्रिय जीवन से न जुड़े तो निरर्थक हो जाती है। ब्रह्मराक्षस सक्रिय इसलिए नहीं हो पाया कि सक्रियता के लिए भावनात्मक ऊर्जा आवश्यक होती है और वह अपने गहरे अन्तर्द्वन्द्व के कारण सक्रिय भावनाओं से वंचित रहा। 'सजल उर शिष्य' उसकी भावनाओं का सम्मान करना चाहता है और क्रिया, ज्ञान व भावनाओं में समन्वय स्थापित करके उसके ज्ञान का समाज हेतु उपयोग करना चाहता है।

प्रश्न: 'प्रगतिवादी जीवनमूल्यों में आस्था रखते हुए भी मुक्तिबोध 'लकीर के फकीर' नहीं हैं और अनुभवजन्य यथार्थ पर अधिक यकीन रखते हैं।' ब्रह्मराक्षस कविता के संदर्भ में इस कथन पर विचार कीजिये। (300 शब्द)

उत्तर: सिद्धांत की यात्रिकता जीवन और रचना दोनों को ही कई बार वास्तविक यथार्थ से विच्छिन्न कर देती है। इसलिए कोई भी बड़ा रचनाकार सैद्धांतिक विचारधाराओं में आस्था रखते हुए भी उन विचारधाराओं को अनुभव की आँच से जाँचता-परखता एवं खँगालता चलता है। मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में आस्था रखने वाले प्रगतिवादी रचनाकार मुक्तिबोध भी ऐसे ही रचनाकार हैं।

ब्रह्मराक्षस की संश्लिष्ट संवेदना में से जो केन्द्रीय स्वर उभरता है, वह है मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का आत्मसंघर्ष। ये बुद्धिजीवी वे हैं जिनमें 'आत्मचेतस्' व 'विश्वचेतस्' की युगपत् व द्वंद्वात्मक उपस्थिति बनी रहती है। इनका व्यावहारिक मन आत्मचेतस् की ओर भागता है किन्तु इनका नैतिक मन (Super Ego) इतना प्रबल है कि इन्हें बार-बार विश्वचेतस् होने को प्रेरित करता है। नैतिक मन की प्रबलता के कारण ये इतने ज्यादा तनावग्रस्त रहते हैं कि विश्व की हर समस्या के लिए स्वयं को जिम्मेदार ठहराने लगते हैं। इन्हीं दोनों मनो के बीच चलने वाला आत्मसंघर्ष ब्रह्मराक्षस में उपस्थित है-

"आत्मचेतस् किन्तु इस/ व्यक्तित्व में थी प्राणमय अनबन...../ विश्वचेतस् बे-बनाव।"

मुक्तिबोध की कविता ब्रह्मराक्षस की विशेषता यह है कि इसमें आत्मसंघर्ष को सिर्फ एक स्थिति के रूप में नहीं लिया गया है बल्कि उसके मूल कारणों की गहन समीक्षा भी की गई है। इसी बिंदु पर 'व्यक्तित्व की समस्या' कविता में मुखर हो उठती है। कुछ मार्क्सवादियों का दावा था कि व्यक्तित्व कोई स्वायत्त वस्तु नहीं है बल्कि आर्थिक-सामाजिक स्थितियों

का उप-उत्पाद है। मुक्तिबोध जड़ मार्क्सवादी नहीं हैं। ब्रह्मराक्षस के शिष्य के रूप में वे स्वयं कविता में उपस्थित होकर ब्रह्मराक्षस के व्यक्तित्व का महत्व स्थापित करते हैं।

ब्रह्मराक्षस कविता इन मूल प्रश्नों के साथ कुछ अन्य प्रश्नों से भी टकराती है। ब्रह्मराक्षस का संघर्ष यही बताने के लिए है कि जो बुद्धिजीवी अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की पूर्ति नहीं करते, उनकी नियति त्रासद होती है-

“वह कोठरी में किस तरह

अपना गणित करता रहा

और मर गया...”

ब्रह्मराक्षस कविता यह भी स्थापित करती है कि अतिरेकवादी पूर्णता का प्रयास विफल होने को बाध्य होता है। यहाँ मुक्तिबोध बहुत सीमित रूप में अस्तित्ववाद की इस मान्यता से सहमत दिखते हैं कि व्यक्तित्व में पूर्ण सामंजस्य कोरी कल्पना है तथा वेदना, अलगाव और संत्रास जैसी मनःस्थितियाँ प्रामाणिक व्यक्तित्व में उभरने वाली अनिवार्य स्थितियाँ हैं-

“वे भाव-संगत तर्क-संगत,

कार्य सामंजस्य-योजित,

समीकरणों के गणित की सीढ़ियाँ,

हम छोड़ दें उसके लिए।”

इस प्रकार ‘ब्रह्मराक्षस’ कविता में ‘मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी व्यक्ति का आत्मसंघर्ष’ अपने विभिन्न पहलुओं के साथ अभिव्यक्त हुआ है। मुक्तिबोध ‘सजल उर शिष्य’ की अवधारणा प्रस्तुत कर मार्क्सवाद के विपरीत छदम-तत्त्व को भी महत्त्व देते हैं। ऐसा मुक्तिबोध के अनुभवजन्य यथार्थ के कारण हुआ है। अतः ब्रह्मराक्षस कविता के आधार पर हम कह सकते हैं कि ‘प्रगतिवादी जीवनमूल्यों में आस्था रखते हुए भी मुक्तिबोध ‘लकीर के फकीर’ नहीं हैं और अनुभवजन्य यथार्थ पर अधिक यकीन रखते हैं।’

हरिजन गाथा, बादल को घिरते देखा है, अकाल और उसके बाद

प्रश्न: ‘हरिजन गाथा’ कविता के मूल मंतव्य पर प्रकाश डालते हुए उसकी प्रासंगिकता का निर्धारण कीजिए।

(225 शब्द)

उत्तर: जनकवि नागार्जुन की ‘हरिजन गाथा’ कविता 1973 ई. में बिहार के ‘बेलछी’ नामक स्थान पर उच्च वर्णों की भीड़ द्वारा दलित वर्ग के कुछ व्यक्तियों को जिंदा जला देने की घटना की प्रतिक्रिया है। इस कविता का मूल उद्देश्य उच्च वर्णों के शोषक एवं दमनकारी चरित्र को उद्घाटित करना एवं दलित वर्ग में क्रांति-चेतना का संचार करना है।

कविता के पहले खंड में बेलछी काण्ड के संबंध में स्पष्ट किया गया है कि यह तीव्र भावावेग में हुई दुर्घटना नहीं थी, बल्कि इसके लिए लम्बे समय तक सरेआम तैयारियाँ की गई थीं। खतरनाक बात यह है कि लोकतांत्रिक भारत का शासनतंत्र वंचितों के पक्ष में नहीं, बल्कि शक्तिशाली वर्गों द्वारा खरीदा हुआ और नियंत्रित है।

कविता के दूसरे भाग में कृष्ण अवतार के मिथक और ज्योतिषी की भविष्यवाणी जैसी शिल्पगत युक्तियों के आधार पर वंचित वर्गों की संपूर्ण नई पीढ़ी में सामूहिक स्तर पर हिंसक क्रांति चेतना के विकास को दर्शाया गया है। कविता का अंत एक विशिष्ट बिंदु पर हुआ है जहाँ दलित समाज धर्म की चेतना से मुक्त होकर जीवन की वास्तविक स्थितियों को समझ चुका है, और अब वास्तविक संघर्ष के लिए तैयार है।

प्रश्न उठता है कि संवेदना की दृष्टि से यह कविता कितनी प्रासंगिक मानी जा सकती है? इसमें जिस क्रांति का जिक्र किया गया है, वह समाज की तत्कालीन व वर्तमान स्थितियों में संभव नहीं दिखाई पड़ती है। किंतु, साहित्यकार का दायित्व यथार्थ का वर्णन करके चुप हो जाना नहीं है; यथार्थ को बदलने की बेचैनी, छटपटाहट और प्रेरणा पैदा करना भी है। इस दृष्टि से कविता का कथ्य अत्यंत महत्वपूर्ण व प्रासंगिक है।

प्रश्न: 'उदात्त' को 'साधारण' बना देना, उसे प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध करा देना- यही 'बादल को घिरते देखा है' कविता का उद्देश्य है।- इस मत पर विचार कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: प्रकृति नागार्जुन के काव्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हमेशा रही है। प्रगतिवादी मानसिकता के कारण उनके यहाँ प्रकृति साधारण, ग्राम्य रूप में आती है, आभिजात्य सौंदर्य के साथ नहीं। लेकिन उनकी कविता 'बादल को घिरते देखा है' में प्रकृति का रूप कुछ भिन्न है।

यही कारण है कि 'बादल को घिरते देखा है' कविता में नागार्जुन के प्रकृति चित्रण को लेकर हिंदी समीक्षा में ज़बर्दस्त विवाद पैदा हो गया। कुछ समीक्षकों ने इसे एक प्रतीकात्मक कविता माना और बादलों के घिरने को समाजवादी क्रांति के बादलों का घिरना बताते हुए सारी कविता पर प्रतीक योजना आरोपित कर दी। धीरे-धीरे सहमति बनी कि यह कविता उस प्रकार से प्रतीकात्मक नहीं है। कई समीक्षकों ने इसमें प्रकृति के आभिजात्य रूप की उपस्थिति का दावा करते हुए नागार्जुन की प्रगतिवादी चेतना पर भी प्रश्न उठाए। वस्तुतः सच यह है कि न तो यह कविता प्रतीकात्मक है और न ही प्रगतिवादी मूल्यों से विचलन है। इस आधार पर कविता की संवेदना को निम्नलिखित बिंदुओं में देख सकते हैं-

नागार्जुन हिमालय का वर्णन ठीक वैसा कर रहे हैं जैसा उन्होंने उसे देखा है। वे यथार्थवाद के उस दुराग्रही रूप को नहीं स्वीकारते जो यथार्थ के नाम पर मात्र अंधेरा देखने का आदी है। उनका मानना है कि सुंदरता भी यथार्थ का हिस्सा है और उसे भी आम आदमी के जीवन से जोड़े जाने की ज़रूरत है। यह आँख से देखा हुआ, अनुभव किया हुआ सौंदर्य है-

“अमल धवल गिरि के शिखरों पर,
बादल को घिरते देखा है।”

सौंदर्य की आनुभविकता के प्रति नागार्जुन का आग्रह इतना ज्यादा है कि वे उसके साथ जुड़ी कल्पनाओं व मिथकों का खंडन करने से भी नहीं चूकते-

“कहाँ गया धनपति कुबेर वह,
कहाँ गयी उसकी वह अलका”

यह कविता सौंदर्य की वस्तुनिष्ठ धारणा की स्थापना करती है। मार्क्सवाद मानता है कि सौंदर्य वस्तुनिष्ठ होता है, न कि आत्मनिष्ठ। यह कविता भी सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ रूप में लेती है, आत्मनिष्ठता में नहीं।

इस कविता का एक महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि यहाँ सौंदर्य दृष्टि व जीवन दृष्टि एकआयामी न होकर बहु-आयामी व समग्र है। कविता में नागार्जुन ने अपनी वह शैली बनाए रखी है जिसमें मनुष्य केंद्र में नहीं रहता, बल्कि संपूर्ण पारिस्थितिक-तंत्र का एक अंश मात्र बन जाता है। कविता के पहले प्रसंग में हंसों की बात है, दूसरे में चकवा-चकई प्रसंग है, फिर कस्तूरी-मृग की चर्चा है, फिर महामेघ व झंझानिल प्रसंग है व केवल अंत में किन्नर-किन्नरियों के रूप में मानव का जिक्र हुआ है।

कुल मिलाकर इस कविता का उद्देश्य न तो 'साधारण' से आँखें चुराना है और न ही 'उदात्त' की ओर झँकना। यह कविता यह मानती ही नहीं कि 'साधारण' व 'उदात्त' परस्पर विरुद्ध हैं। वे उदात्त कहे जाने वाले सौंदर्य को नकारना नहीं चाहते क्योंकि वह उच्च वर्ग की निजी मिल्कियत नहीं है। इसलिए 'उदात्त' को 'साधारण' बना देना, उसे प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध करा देना-यही प्रगतिवादी दृष्टि से इस कविता का उद्देश्य महसूस होता है।

प्रश्न: 'बादल को घिरते देखा है' कविता के शिल्प पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: 'बादल को घिरते देखा है' नागार्जुन की सर्वाधिक चर्चित कविताओं में से एक है। इसका एक बड़ा कारण इस कविता का अप्रतिम शिल्प है जो इसे क्लासिक साहित्य की कोटि में प्रस्थापित करता है। इस कविता का काव्यरूप गीत व लंबी कविता के संलयन से निर्मित हुआ है। इसमें प्रवाह गीत जैसा है, भावुकता व संवेदनशीलता भी गीत जैसी है परंतु कविता का आधार लंबी कविता जैसा है।

भाषा प्रायः तत्समी है क्योंकि हिमालय के 'विराट' व 'उदात्त' सौंदर्य के प्रभाव को दिखाने के लिए तत्समी भाषा काफी सहायक हो सकती थी। इसके बावजूद यह तत्समता कई विजातीय शब्दों को अपने भीतर पचाकर चलती है, जैसे- बेबस, ठिकाना, पलथी, भिड़ना इत्यादि।

पूरी कविता बिंबात्मक विधान में रची गई है। यूँ लगता है कि कविता बिंबों की ही शृंखला है। विराट व भयानक बिंब अपनी भयानकता से रोमांचित करते हैं तो बेहद कोमल व सुकुमार बिंब भी हैं जो माधुर्य की अनुभूति कराते हैं, जैसे-

“छोटे-छोटे मोती जैसे, उसके शीतल तुहिन कणों को,
मान सरोवर के उन स्वर्णिम, कमलों पर गिरते देखा है।”

कविता में सामान्यतः प्रतीक अनुपस्थित हैं क्योंकि कविता का उद्देश्य वस्तुगत सौंदर्य का सीधे-सीधे अंकन करना है। कविता में अप्रस्तुत योजना भी प्रायः नहीं है। केवल कुछ संदर्भों में कुछ अप्रस्तुत दिखाई पड़ते हैं, जैसे-

“इंद्रनील की माला डाले, शंख सरीखे सुघड़ गलों में।”

ध्यातव्य है कि कुछ प्रगतिवादी समीक्षकों ने इस कविता की व्याख्या मार्क्सवाद के क्रांति-प्रतीकों के माध्यम से करने का प्रयास किया है। किंतु, इस व्याख्या को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है।

पूरी कविता छंदबद्ध है और इसमें 14 से 16 मात्राओं के चरणों का प्रयोग हुआ है। ‘बादल को घिरते देखा है’ टेक का प्रयोग करने के कारण कविता का विधान गीतात्मक है। सभी छंदों में चरणों की संख्या अलग-अलग है क्योंकि आधुनिक कवि छंद का प्रयोग भावों की कीमत पर नहीं करता। पूरी कविता में नाद और गति का तीक्ष्ण वेग है।

कुल मिलाकर केवल शिल्प की दृष्टि से भी यह कविता आधुनिक हिन्दी कविता की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

प्रश्न: ‘हरिजन-गाथा’ कविता के शिल्प पर विचार कीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: आधुनिक हिन्दी कविता की प्रगतिवादी काव्यधारा के श्रेष्ठ कविता नागार्जुन की कविता ‘हरिजन गाथा’ काव्य रूप के धरातल पर एक लंबी कविता है, पर यह छायावाद और नई कविता की लंबी कविताओं से काफी अलग है। तीन खंडों में विभाजित इस लंबी कविता का प्रथम खंड बेलछी हत्याकाण्ड की पीड़ा जन्य स्मृतियों से निर्मित हुआ है, दूसरा खंड क्रांति चेतना के जन्म के उत्साह के कारण गीतात्मक है तथा तीसरा खंड वार्तालाप पर आधारित होने से गद्यात्मक है।

भाषा के धरातल पर इस कविता में कवि ने तत्सम शब्दों का भी काफी प्रयोग किया है किंतु सामान्यतः इस कविता की भाषा बेहद लोकधर्मी तथा देशज किस्म की है। कहीं-कहीं ठेठ देशज शब्दों के प्रयोग से सुंदर व जीवंत अभिव्यक्तियाँ की गई हैं, जैसे-

“चेहरा था गोल मटोल, आँखें थीं घुच्ची
बदन कठमस्त था”

“देखो तो कैसा मुलुर-मुलुर देख रहा शैतान”

मुहावरों के प्रयोग से भी भाषा अत्यंत लोकधर्मी हो उठी है-

“राम जी के आसरे जी गया अगर,
कौन सी माटी गोड़ेगा, कौन सा ढेला फोड़ेगा।”

पूरी कविता बिंबात्मक प्रवृत्ति धारण करती है। कहीं-कहीं एकल तो कहीं-कहीं संश्लिष्ट बिंब दिखाई पड़ते हैं। कुछ बिंब तनाव की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति भी करते हैं-

“दिखते हैं दृगों के कोर ही कोर
देती है जब-तब पहरा पपोटों पर
सील-मुहर सूखी कीचड़ की।”

कविता में कृष्णावतार के मिथकीय प्रतीक का प्रयोग किया गया है। बच्चे का रंग साँवला है, उसकी लीलाओं का क्षेत्र चरागाह है, वह अन्याय और दमन का अंत करने के लिए आया है और जन्म के तुरंत बाद उसे कहीं और छिपा देने की आवश्यकता है-ये सारे संकेत कृष्णावतार की पौराणिक कथा से जुड़ते हैं।

कविता में छन्द प्रायः अनुपस्थित है, किन्तु प्रथम और द्वितीय खंड में लय के विभिन्न रूप दिखते हैं। तीसरा खंड पूर्णतः गद्यात्मक और इतिवृत्तात्मक हो गया है।

वस्तुतः हिन्दी कविता में 'हरिजन-गाथा' कविता शिल्प के स्तर पर विशेष पहचान नहीं रखती है। यह एक साधारण शिल्प की कविता है। यह कविता अपनी मार्मिक एवं क्रांतिधर्मी संवेदना के कारण ही हिन्दी कविता में विशेष महत्त्व की अधिकारिणी है।

प्रश्न: "नागार्जुन जनजीवन, धरती व मानव प्रेम के पुजारी हैं।" विचार कीजिये।

(225 शब्द)

उत्तर: नागार्जुन आधुनिक काल के एक ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओं में जहाँ एक तरफ जनजीवन की समस्याएं एवं उनके प्रति गहरी संवेदनशीलता है, वहीं दूसरी ओर प्रकृति के प्रति गहरा लगाव व लोक सामान्य जीवन का बेहद सुंदर रूप है।

नागार्जुन ने अपनी कविता 'अकाल और उसके बाद' में अकाल की मार्मिक स्थिति तथा अकाल के समाप्त होने के बाद की खुशी का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। इस कविता में उन्होंने मानव व अनेक प्राणियों के साझे सुख-दुख का वर्णन किया है। "कई दिनों तक कानी कुतिया सोई न उसके पास" में नागार्जुन न सिर्फ कुतिया की भूख को देखते हैं बल्कि उसकी विकलांगता-के प्रति संवेदनशील नज़रिया रखते हैं।

नागार्जुन के लिये विचारधारा से महत्वपूर्ण जनता की जरूरतें हैं। वे कहते हैं-

"क्या है दक्षिण क्या है वाम

जनता को रोटी से काम"।

"रोता हूँ लिखता जाता हूँ" पंक्ति में नागार्जुन की आम जनता के प्रति संवेदनशीलता व्यक्त हुई है।

"बादल को घिरते देखा है" कविता में उन्होंने प्रकृति के सौंदर्य का अद्भुत आंखों देखा एवं अनुभव किये सौंदर्य का वर्णन किया है-

"अमल धवल गिरि के शिखरों पर। बादल को घिरते देखा है।"

नागार्जुन कविता सिर्फ सुंदर व अभिजात प्रकृति पर नहीं लिखते बल्कि उन्होंने 'कटहल' तथा 'नेवला' जैसी कविताएं भी लिखी हैं-

"अहा कैसा मह मह करता है यह कटहल"।

नागार्जुन मानव प्रेम के पुजारी भी हैं। इनका प्रेम रीतिकाल जैसा भोगमूलक नहीं बल्कि जनसाधारण के परिवारों में पनपने वाला-गार्हस्थिक व दायित्वमूलक प्रेम है। अकेले में इन्हें पत्नी का "सिंदूर तिलकित भाल" नजर आता है तो बेटी के प्रेम का निराला के बाद इन्हीं की रचनाओं में वर्णन है। 'हरिजन गाथा' कविता के माध्यम से इन्होंने समाज में विद्यमान जाति व्यवस्था की विषमाताओं पर गहरा प्रहार किया है।

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि जिस तरह से इन्होंने अपनी रचनाओं में मानव जीवन व प्रकृति के विभिन्न रूपों को पिरोया है, इन्हें जनजीवन, धरती व मानव प्रेम का पुजारी कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

प्रश्न: 'जिंदगी का अभाव और संघर्ष ही नागार्जुन के काव्य-संसार की जलवायु है और विक्षोभ उनकी कविता का केंद्रीय स्वर।' इस कथन के आलोक में नागार्जुन के काव्य-कर्म पर विचार कीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: नागार्जुन के काव्य का मूल्यांकन करते हुए प्रगतिवादी आलोचकों ने नागार्जुन को मार्क्सवादी विचारधारा का प्रतिष्ठापक कवि मानते हुए क्रांति-चेतना को उनकी कविता का केंद्रीय स्वर माना है। लेकिन कुछ आलोचकों के मत में नागार्जुन के काव्यकर्म का मूल आधार मार्क्सवाद नहीं बल्कि उनके अपने जीवन का अभाव और संघर्ष है और उनकी कविता का केंद्रीय स्वर विद्रोह और क्रांति नहीं बल्कि विक्षोभ है जो मानवीय जीवन-मूल्यों में आस्था रखने वाले किसी भी कवि की कविता का सहज स्वभाव होता है।

वस्तुतः नागार्जुन के काव्य में उनके जीवनगत अभाव और संघर्ष के कई संदर्भ मौजूद हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

मानव होकर मानव के ही चरणों में मैं रोया।

दिन बागों में बीता रात को पटरी पर मैं सोया।

कभी घुमक्कड़ यार-दोस्त से मिलकर कभी अकेले-

एक-एक दाने की खातिर सौ-सौ पापड़ बेले!

नागार्जुन के काव्य में सैद्धान्तिक आग्रह से इतर ऐसी कई आत्माभिव्यक्तियाँ उपस्थित हैं। 'रवि ठाकुर' कविता में नागार्जुन ने अपने जीवन के हालातों का हवाला देते हुए लिखा है-

पैदा हुआ था मैं-

दीन-हीन-अपठित किसी कृषक-कुल में

आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से

कवि! मैं रूपक हूँ दबी हुई दूब का

हरा हुआ नहीं कि चरने दौड़ते॥

जीवन गुजरता प्रतिपल संघर्ष में॥

जीवन का यह दुख और अभाव नागार्जुन की कविता में बार-बार उभरता है- सामाजिक तथ्य के रूप में नहीं बल्कि सघन अनुभव के रूप में। पिता और पति के रूप में अपने कर्तव्यों का सम्यक निर्वाह न कर पाने की व्यथा अपराध-बोध के रूप में छलककर कविता बन गयी है-

हृदय में पीड़ा, दृगों में लिये पानी-

देखते पथ काट दी सारी जवानी!

नागार्जुन के काव्य में व्यक्तिगत अभावों और संघर्षों का विस्तार सामाजिक अन्याय, गरीबी और शोषण तक होता है और उनकी कविता परिवर्तन और न्याय की चेतना के लिये पाठक के मन को, समाज को संस्कारित करती है। उनकी कविताओं में हिंसक क्रांति का स्वर भी सुनाई अवश्य देता है पर वह उनकी काव्यानुभूति का मूल भाव नहीं है।

इस प्रकार इस मत से सहमत हुआ जा सकता है कि जिंदगी का अभाव और संघर्ष ही नागार्जुन के काव्य-संसार की जलवायु है और विक्षोभ उनकी कविता का केंद्रीय स्वर है।

व्याख्या - भाग

1. सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।

लोचन अनंत उधारिया, अनंत दिखावनहार॥

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत दोहा हिन्दी की भक्तिकालीन संतकाव्यधारा के प्रतिनिधि कवि कबीर की रचनाओं के संग्रह कबीर ग्रंथावली के 'गुरु कौ अंग' से लिया गया है। संतकाव्य में गुरु के प्रति अनन्य कृतज्ञता ज्ञापित की गई है। यह दोहा भी इसी भावबोध से युक्त है।

व्याख्या: कबीर कहते हैं कि सतगुरु की महिमा अपार है, उसकी कोई सीमा नहीं है। उसने अपनी इस महिमा के कारण मुझ पर असंख्य उपकार किए हैं। उसने हमारी आँखें खोलकर हमें उस असीम ब्रह्म का, जो स्थान और काल से परे है, जिसका न कोई आदि है और अंत, उसका दर्शन करा दिया है अर्थात् उसने माया से आबद्ध जीव को ज्ञानरूपी दृष्टि प्रदान कर ब्रह्मानुभूति को संभव कर दिया है।

काव्य-सौंदर्य:

- भक्तिकाल का सतगुरु आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था के अध्यापक से भिन्न है। सतगुरु वह है जो हमारे भीतर अपर्याप्तता का बोध उत्पन्न कर हमारे अहंकार का नाश करता है और हमारे भीतर ज्ञान की प्यास पैदा करता है। ऐसे गुरु के प्रति आनुभूतिक संबंध महसूस करते हुए कबीर कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हैं और बार-बार उसकी महत्ता का बखान करते हैं।
- कबीर के इस भाव पर वैष्णवी भक्ति-चेतना का प्रभाव लक्षित होता है।

- संतकाव्यधारा का गुरु ब्रह्म को सिर्फ दिखाता है, केवल उसका ज्ञान देता है। शिष्य को यात्रा स्वयं करनी होती है।
- दूसरी पंक्ति में 'अनंत', 'अनंत' के प्रयोग में यमक अलंकार है।

2. "पीछे लागा जाई था, लोक वेद के साथि,

आगे तैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि॥

सतगुरु हमसूँ रीझकर, कह्या एक परसंग,

बरस्या बादर प्रेम का, भीज गया सब अंग॥"

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत काव्य पंक्तियाँ भक्तिकाल की संत काव्यधारा के शिखर कवि कबीरदास द्वारा रचित हैं। कबीरदास की रचनाओं का संकलन डॉ. श्यामसुंदर दास ने 'कबीर ग्रंथावली' नाम से किया है। इस संकलन में कबीर की कविताएँ विषयवस्तु के अनुसार विभिन्न खण्डों में विभाजित हैं। उपरोक्त पंक्तियाँ 'गुरुदेव को अंग' नामक खण्ड में से उद्धृत हैं।

प्रसंग: कबीर भारतीय साहित्य परंपरा के एकमात्र रचनाकार हैं जिन्होंने गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्व दिया है। इस दृष्टि से वे हर अन्य कवि तथा काव्य-परंपरा पर भारी पड़ते हैं। 'गुरुदेव को अंग' कबीर की उन साखियों का संकलन है जिसमें उनके गुरुभक्ति संबंधी भाव व्यक्त हुए हैं। प्रस्तुत साखियाँ ऐसे ही भावों को व्यक्त करती हैं।

व्याख्या: पहली साखी में कबीर शास्त्र-ज्ञान और गुरु-प्रदत्त ज्ञान का अंतर स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि पहले मैं लोगों द्वारा सुनी हुई बातों और शास्त्रों द्वारा बताए गए मार्ग को ही परम सत्य मानकर उनका अनुसरण कर रहा था। वस्तुतः यह अंधकार का मार्ग था जिस पर चलकर कोई उपलब्धि नहीं हो सकती थी। फिर मेरी भेंट सतगुरु से हुई जिन्होंने मुझे इस मार्ग की निरर्थकता समझाई। उन्होंने मुझ पर कोई मार्ग थोपा नहीं बल्कि मेरे हाथ में दीपक देकर स्वयं अपना सत्य खोजने की प्रेरणा दी।

दूसरी साखी में कबीर उस क्षण की अनुभूति व्यक्त कर रहे हैं जब गुरु ने उन्हें परम ज्ञान की उपलब्धि कराई। वे बताते हैं कि सतगुरु ने मेरे भक्तिभाव और जिज्ञासा आदि से प्रसन्न होकर मुझे परम ज्ञान दिया। परम ज्ञान की प्राप्ति इतनी आह्लादकारी थी कि यूँ लगा जैसे प्रेम का बादल फट पड़ा हो और अंग-अंग प्रेम की वर्षा में भीगकर सराबोर हो गया हो।

विशेष:

- इन साखियों में सतगुरु का अप्रतिम महत्व बताया गया है। ध्यातव्य है कि कबीर 'गुरु' नहीं, 'सतगुरु' का महत्व बताते हैं क्योंकि जहाँ गुरु का संबंध साधारण व शास्त्रीय ज्ञान से है, वहीं सतगुरु निःस्वार्थ भाव से जीवन के गहनतम रहस्यों का ज्ञान देता है।
- कबीर पर नाथों का गहरा प्रभाव है क्योंकि उनकी परवरिश नाथ परंपरा के माहौल में हुई है। गुरु-भक्ति का यह भाव संभवतः नाथों की प्रेरणा से भी उन्हें मिला है।
- कबीर मध्यकाल में होकर भी 'आधुनिक' कवि हैं क्योंकि वे शास्त्रवाद के विरुद्ध तर्क व अनुभव पर बल देते हैं।
- इन पंक्तियों में 'ज्ञान' को महत्व दिया गया है किंतु यह ज्ञान शंकराचार्य के अद्वैतवाद का शुष्क व नीरस ज्ञान नहीं है बल्कि ईश्वर के प्रेम की ओर उन्मुख करने वाला ज्ञान है।
- दूसरी साखी में प्रेम और भक्ति की गहरी मस्ती भावपूर्ण तन्मयता के साथ विद्यमान है। कबीर आरंभ में हठयोगी थे और भावनाओं के मार्ग को काम्य नहीं समझते थे किंतु आगे चलकर उन्होंने सूफियों से भावुकता और तन्मयता को सीखा और उसका चरम उदाहरण अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया।

कबीर साहित्य के संदर्भ में ये पंक्तियाँ इसलिए प्रासंगिक हैं कि ये कबीर के सबसे प्रिय भाव को अभिव्यक्त करती हैं। कबीर के संपूर्ण साहित्य में सबसे ज्यादा गहराई और प्रतिबद्धता उनके गुरुभक्ति संबंधी पदों में दिखती है जिनका साक्ष्य इन कविताओं में नज़र आता है।

ये कविताएँ आज के दौर के लिए भी प्रासंगिक हैं। आज, जबकि गुरु की हैसियत कम होती जा रही है, शिक्षा विक्रय की वस्तु बन गई है और आचरण की पवित्रता जैसे विचार उपभोक्तावादी संस्कृति के सामने दीन-हीन नज़र आने लगे हैं, कबीर की साखियाँ याद दिलाती हैं कि हर दौर में सच्चे मार्गदर्शक की ज़रूरत होती है, उसका रूपाकार चाहे युग के अनुसार कितना भी बदल जाए।

3. दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।

पूरा किया बिसाहना, बहुरि न आँवौं हट्ट॥

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत दोहा हिन्दी की भक्तिकालीन संतकाव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर का है और यह श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित 'कबीर-ग्रंथावली' के 'गुरुदेव को अंग' से उद्धृत है। संतकाव्य की एक प्रमुख विशेषता गुरु के प्रति अनंत कृतज्ञता का ज्ञापन है क्योंकि गुरु ही माया में आबद्ध व्यक्ति को ज्ञान का वह प्रकाश देता है जिसके माध्यम से साधक ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है। उपर्युक्त दोहे में भी कबीर ने ऐसे ही भाव को अभिव्यक्ति दी है।

व्याख्या: कबीर कहते हैं कि गुरु ने दीपक को तेल से भर दिया और उसमें ऐसी वर्तिका दी जो कभी समाप्त नहीं होती। इस प्रक्रिया को पूरा करने के बाद हमें दुबारा बाजार आने की जरूरत नहीं पड़ी।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर ने प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात कही है। तेल संवेदना को प्रतीकित कर रहा है। सच्चा गुरु शिष्य को सर्वप्रथम अनुभूति एवं संवेदना से भर देता है। गहन मानवीय संवेदना के बिना ज्ञान संभव नहीं है। इसके बाद गुरु शिष्य को ज्ञानरूपी वर्तिका देता है। वह उसकी अनुभूतिशीलता को ज्ञान से जोड़ देता है। यह ज्ञान कभी समाप्त नहीं होता। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार, उनकी ज्ञान की प्रक्रिया पूरी हुई और फिर संसार में आने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

हट्ट (बाजार) तृष्णा भाव को व्यंजित कर रहा है। जब तक तृष्णा रहेगी तब तक संसार में आना पड़ेगा। गुरु इसे समाप्त कर देता है।

4. "सतगुरु लई कमाँण करि बाँहण लागा तीर।

एक जु बाह्या प्रीति सँ भीतरि रह्या सरीर॥"

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत साखी श्यामसुन्दर दास द्वारा संकलित कबीर-ग्रंथावली के गुरुदेव का अंग से उद्धृत है। इस अंग में कबीर ने गुरु के प्रति अनंत कृतज्ञता की भावना ज्ञापित की है। इस साखी में भी अपनी इसी भावना का विस्तार करते हुए कबीर कह रहे हैं कि-

व्याख्या: सद्गुरु ने मुझे धनुष की प्रत्यंचा बनाकर ग्रहण कर लिया और मुझ पर ही तीर चलाने लगे। उनमें से उन्होंने एक तीर प्रेम का ऐसा चलाया जो मेरे शरीर के भीतर ही रह गया। कबीर के कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु ने उनके भीतर ब्रह्म-प्रेम का भाव जागृत कर दिया।

शिष्य का कमान होना, गुरु के प्रति विनम्रता की भी व्यंजना करता है। इसके अभाव में गुरु शिष्य का कल्याण नहीं कर सकता। साथ ही गुरु के पास भी तराशे हुए तीरों का होना अर्थात् उसका ज्ञान-संपन्न होना जरूरी है। अन्यत्र कबीर ने कहा है-

"पहिरे जड़तन बखतरी, चुभै न एकौ तीर॥"

साखी में कबीर ने रूपाकातिशयोक्ति अलंकार का कुशल प्रयोग किया है। इसमें माध्यम से उन्होंने सद्गुरु की दीक्षा विधि और शिष्य द्वारा उसके ग्रहण की सधी व्यंजना की है।

5. चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति।

जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति॥

संदर्भ: प्रस्तुत साखी श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित कबीर की वाणियों के संग्रह कबीर-ग्रंथावली के 'विरह का अंग' से उद्धृत है। इसमें कबीर ने चकवा-चकवी के माध्यम से प्रभु-विरह की स्थिति को स्पष्ट किया है।

भावार्थ: चकवी-चकनी पक्षी रात के समय बिछुड़ जाने पर पुनः सबेरा होने पर मिल जाते हैं। परंतु जो व्यक्ति प्रभु राम से बिछुड़ जाता है, उनको विस्मृत कर देता है, वह कभी भी, दिन हो या रात, पुनः प्रभु का सान्निध्य प्राप्त नहीं कर पाता।

विशेष:

- कबीर ने चकवा-चकवी के प्रसिद्ध काव्य-रूढ़ि का इस्तेमाल किया है। चकवा-चकवी पक्षी ऋषि शाप से रात्रि के समय बिलुडकर, प्रेम-भाव से विरत हो जाने के बाद भी सूर्योदय के पश्चात पुनः आपस में मिल जाते हैं। परन्तु जिस मनुष्य के मन में श्रीराम की अनुभूति ही नहीं हो, उसे प्रभु कृपा का सुयोग नहीं प्राप्त हो सकता है।
- प्रकारान्तर से इस साखी में कबीर यह कहना चाहते हैं कि ब्रह्मोपलब्धि के लिये तीव्र विरहानुभूति अनिवार्य है।
- प्रसिद्ध काव्य-रूढ़ि के प्रयोग के कारण कवि के अभिप्रेत की संप्रेषणनीयता काफी बढ़ गई है और वह सहज ही ग्राह्य हो उठा है।

6. यह तन जालौं मसि करुं, धूँ धुवां जाई सरगि।

मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अगि।

संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत दोहा श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित कबीर की वाणियों के संग्रह कबीर-ग्रंथावली के 'विरह कौ अंग' से उद्धृत है।

भावार्थ: कबीर की इस साखी में विरह-अग्नि में तप्त विरहिणी अपने को जलाकर राख करने के लिये तत्पर हो जाती है। वह कहती है कि प्रिय राम की करुणा-प्राप्ति के लिये मेरी कामना यहाँ तक है कि मैं अपनी देह को विरह की आग में जला-जलाकर राख कर दूँ। मेरे जलने से निकला धूँआ ऊपर आकाश में छा जाए। संभव है उस धुएँ को देखकर, अपनी जीवात्मा प्रिया को विरह में जलता हुआ जानकर प्रिय राम करुणा की बारिश से उस विरह-अग्नि को बुझाकर शांत कर दें। इस प्रकार विरहाग्नि से मुक्ति दिला दे।

विशेष:

- इन पंक्तियों में यह संकेतित है कि भक्ति का मार्ग बहुत आसान नहीं है और इसके लिये स्वयं को ब्रह्म-भक्ति में पूर्णतया लीन कर देने की आवश्यकता होती है।
- इस पंक्तियों में विरह-तीव्रता को ऊहात्मक रूप में अभिव्यक्ति मिली है। विराहाग्नि से उठे धुएँ को स्वर्ग तक पहुँचने-पहुँचाने में कल्पना ऊहात्मकता को छू लेती है।
- इन पंक्तियों की ऊहात्मकता सूफी-भाव से अभिप्रेरित है। जामसी ने भी ऐसी अभिव्यक्तियाँ की हैं।
- लोक परंपरा में ऐसा ही दोहा 'ढोला मारु रा दूहा' में मिलता है-

यह तन जारि मसि करुं, धूवाँ जाइ सरगि।

मुझ-प्रिय बदल होइ करि, बरसि बुझावै अगि॥

7. सब रंग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित।

और न कोई सुणि सकै, कै साई कै चित॥

संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत दोहा श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित कबीर की वाणियों के संग्रह कबीर-ग्रंथावली के 'विरह कौ अंग' से उद्धृत है।

भावार्थ: प्रस्तुत साखी में कबीर कहते हैं कि प्रिय के वियोग में विरही की स्थिति रबाब वाद्ययंत्र जैसी हो जाती है। जैसे वाद्ययंत्र के तारों को स्पन्दित कर बजाने से संगीत निकलता है, वैसे ही विरह में विरहिणी के शरीर की धमनियों में विरह भाव के कारण स्पन्दन उत्पन्न होने से संगीत बजे लगता है। किन्तु उस शरीर रूपी सारंगी से निकलने वाले विरह भाव रूपी संगीत स्वर को कोई अन्य नहीं सुन पाता है। उसकी अनुभूति तो सिर्फ विरही ही कर पाता है। यह विरह-संगीत या तो स्वयं विरही का हृदय सुन पाता है अथवा प्रिय-स्वामी ही उसको सुन पाता है।

विशेष:

- वाद्ययंत्र के माध्यम से विरहानुभूति की अभिव्यक्ति के कारण साखी में सौंदर्य एवं अनुभूतिप्रवणता गहरी हो उठी है।
- 'कै साई कै चित' कथन में अन्तः वीणा के सूक्ष्म स्वर को सुनने में विरही और प्रभु की एकात्मता की व्यंजना हुई है।

- साखी में सांगरूपक और विशेषोक्ति अलंकार का सहज एवं सुन्दर प्रयोग हुआ है।
- विरह द्वारा रबाब बजाने के प्रसंग में विरह भाव का मानवीकरण किया गया है।

8. विरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।

जिस घटि विरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥

संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत साखी श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित कबीर की वाणियों के संग्रह 'कबीर-ग्रंथावली' को 'विरह कौ अंग' से उद्धृत है। इस साखी में कबीर ने विरहानुभूति के महत्त्व को व्यंजित किया है।

भावार्थ: कबीर कहते हैं कि विरह को बुरा नहीं समझना चाहिये। विरह-भाव तिरस्कार करने योग्य नहीं है। यह तो सभी भावों में सर्वश्रेष्ठ भाव है। विरह-भावना के तप से, चित्त के सभी दोषों का निराकरण हो जाता है क्योंकि स्वर्ण भी आग में तप कर ही कुन्दन होता है। यह सत्य है कि जिस मनुष्य के हृदय में विरह-भाव का प्रवेश नहीं है, उस हृदय में सदैव शमशान घाट जैसा अंधेरा एवं वीरानी छाया रहती है। अर्थात् विरह रहित व्यक्ति मृतक समान संवेदनहीन होता है।

विशेष:

- प्रस्तुत साखी में कबीर ने ब्रह्मोपलब्धि के लिये विरहानुभूति के महत्त्व को अभिव्यक्ति दी है।
- कबीर ने विरह से रहित व्यक्ति को मृत कहकर विरह को जीवन की सार्थकता से जोड़ दिया है।
- सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है जिसके अन्तर्गत विभिन्न बोलियों के शब्द शामिल हैं।

9. अंष्ट्रियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।

जीभडियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥

संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत साखी श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित कबीर के वाणियों के संग्रह 'कबीर-ग्रंथावली' के 'विरह कौ अंग' से लिया गया है। इसमें कबीर ने विरहिणी की व्यग्र दशा का वर्णन किया है।

भावार्थ: अपने प्रिय के आगमन का मार्ग देखते-देखते विरहिणी की आँखें पथरा गई हैं। उसकी आँखों के चारों ओर कालिमा छा गई है क्योंकि प्रिय की प्रतीक्षा करते हुए उसकी नींद भी उड़ गई है। प्रभु को सामने न पाकर वह राम-राम का नाम लेकर अनवरत पुकार रही है और इसके परिणामस्वरूप उसकी जीभ में छाले पड़ गए हैं। प्रभु का वियोग ऐसा असहनीय है जहाँ बिना प्रभु-दर्शन के विरहिणी को चैन नहीं मिलता।

विशेष:

- इस साखी में विरहानुभूति की तीव्रता की प्रभावशाली व्यंजना हुई है।
- कबीर वैष्णवी भक्तिमार्ग के प्रभाव में कठिन एवं जटिल योगमार्ग से भक्तिमार्ग की ओर अग्रसर हुए थे। लेकिन वैष्णवी चेतना के विपरीत वे भक्तिमार्ग को बहुत आसान न मानकर कठिन मानते थे। वे मानते थे कि कठिन भक्ति-साधना के बाद ही ब्रह्मोपलब्धि संभव है।
- शब्द के दुहराव से पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार सुंदर बन पड़ा है और इससे अर्थ-व्यंजना तीव्र हो उठी है।
- आँखों में झाँई पड़ना, पंथ निहारना, जीभ में छाला पड़ना जैसे लोकजीवन में प्रयुक्त होने वाले मुहावरे साखी को बहुत संप्रेषणीय बना देते हैं।

10. इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यु जीव।

लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब सुख देखौं पीव॥

संदर्भ: प्रस्तुत साखी श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित कबीर की वाणियों के संग्रह 'कबीर-ग्रंथावली' के 'विरह कौ अंग' से उद्धृत है।

भावार्थ: कबीर कहते हैं कि इस शरीर को दीपक बनाकर, उसमें प्राण-तत्त्व रूपी बाती डालकर उसे अपने रक्त से पोषित उसी प्रकार करूँ जैसे तेल जलाकर प्रकाश किया जाता है। इसके बाद भी देखता हूँ कि कब प्रिय का दर्शन कर पाता हूँ। कबीर के अनुसार अध्यात्म की भाव-भूमिका में प्रभु की कृपा-प्राप्ति के लिये भक्त को स्वानुभूति के रूप में मोह-माया रूपी अंधकार को त्यागना होगा।

विशेष:

- प्रस्तुत साखी में प्रतीक्षा-भाव की मार्गिक व्यंजना की गई है।
- सांगरूपक का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
- ये पंक्तियाँ ब्रह्म के प्रति भक्त की पूर्ण समर्पण भावना की प्रभावशाली अभिव्यक्ति करने में सक्षम हुई हैं।

11. नैना नीझर लाइया, रहट बहे निस जामा।

पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कब रु मिलहुगे राम॥

संदर्भ: प्रस्तुत दोहा श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित कबीर की वाणियों के संग्रह कबीर-ग्रंथावली के 'विरह कौ अंग' से उद्धृत है।

भावार्थ: कबीर विरहिणी की मनोदशा को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि हे प्रभु राम, विरह से व्याकुल इस वियोगिनी को कब दर्शन देकर कृताक्ष करेंगे। इस वियोगिनी को आँसू रुकने का नाम नहीं ले रहे हैं। यह वैसा ही है जैसे दिन भर कुएँ से रहट पानी निकालता रहता है। प्रिय राम से मिलने के लिये यह जीवात्मा वैसे ही तड़प रहा है जैसे पपीहा पक्षी अपनी प्यास बुझाने हेतु स्वाति-बिंदु के लिये प्रिय मेघ को पुकारता रहता है।

विशेष:

- पंक्तियों में विरहानुभूति की तीव्रता की सुंदर व्यंजना हुई है।
- पपीहा की काव्यरूढ़ि का कबीर ने प्रभावकारी इस्तेमाल किया है।
- अविरल अश्रु-धारा का बिम्ब निझर तथा पुकार भरा स्वर-बिम्ब पपीहा एकनिष्ठ प्रेम-साधना की व्यंजना में पूर्णतया समर्थ सिद्ध हुए हैं।
- उपमा एवं रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
- रहट जैसे लोकजीवन से जुड़े यंत्र का प्रयोग अभिप्रेत को असरदार बनाने में सक्षम हुआ है।

12. जौ रोज़ तौ बल घटै, हँसौ तौ राम रिसाइ।

मनही माहि बिसूरणां, ज्यूँ घुण काठहि खाइ॥

संदर्भ: प्रस्तुत साखी श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित कबीर की वाणियों के संग्रह 'कबीर-ग्रंथावली' के 'विरह कौ अंग' से लिया गया है।

भावार्थ: प्रस्तुत साखी में कबीर हँसने एवं रोने की मनोदशा का वर्णन करते हुए उसकी अलग-अलग वैचारिक भूमिकाओं को स्पष्ट करते हैं। यदि मैं रोता हूँ तो बल क्षीण होता है और यदि हँसता हूँ तो प्रभु राम को अप्रसन्न करता हूँ कि सांसारिक मायामोह में लिप्त हो गया। इनके विपरीत यदि मन में भीतर ही भीतर दुःखी होते रहता हूँ तो यह शरीर को उसी प्रकार खोखला कर देगा जैसे घुन लकड़ी को अंदर से ही खा जाता है।

विशेष:

- कबीर वैष्णवी भक्तिमार्ग के प्रभाव में कठिन एवं जटिल योगमार्ग से भक्तिमार्ग की ओर अग्रसर हुए थे। लेकिन वैष्णवी चेतना के अनुसार वे भक्तिमार्ग को बहुत आसान नहीं मानते थे। वे मानते थे कि कठिन भक्ति-साधना के बाद ही ब्रह्मोपलब्धि संभव है।
- हँसना और रोना क्रमशः विलास एवं विरह की मानसिकता के द्योतक हैं। हँसना वहिर्मुखता को व्यंजित करता है जबकि रोना अंतश्चेतना को।
- अंतिम चरण में उपमा का सुंदर प्रयोग हुआ है।
- सघुक्कड़ी भाषा का प्रयोग हुआ है जिसमें विभिन्न बोलियों के शब्द मिश्रित रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

13. हँसि-हँसि कंत-न पाइये, जिनि पाया तिनि रोई।

जे हाँसे ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागानि कोई॥

संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत साखी श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित कबीर के वाणियों के संग्रह 'कबीर-ग्रंथावली' के 'विरह कौ अंग' से लिया गया है। इस साखी में कबीर ने ब्रह्मोपलब्धि के कठिन मार्ग के संबंध में अपना मत प्रकट किया है।

अर्थ: प्रस्तुत साखी में कबीर ने प्रेम-पंथ के स्वानुभूति प्रेम-सिद्धांत को स्पष्ट किया है।

भावार्थ: हँसते-खेलते, मौज-मस्ती में कोई अपने प्रिय अर्थात् प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकता। जिसने भी प्रभु-कृपा प्राप्त की है, वह विरह-वेदना की अनुभूति करते हुए ही अपने लक्ष्य तक पहुँचा है। यदि हँसते हुए ही प्रभु मिल जाए तो फिर संसार में कोई भी दुर्भाग्यशाली क्यों होगा।

विशेष:

- कबीर वैष्णवी भक्तिमार्ग के प्रभाव में योगमार्ग से भक्तिमार्ग की ओर तो आते हैं परंतु वे इसे सरल और सहज नहीं मानते हैं बल्कि इसकी जगह वे मानते हैं कि बहुत साधना के बाद ब्रह्म-प्रेम की उपलब्धि होती है।
- कबीर अपनी साखियों में लोकजीवन के प्रसंगों के माध्यम से अपनी बात कहते हैं। सुहागिनी का विपरीत शब्द दुहागिनी लोकजीवन का ठेठ शब्द है।
- साखी में अनुप्रास अलंकार का कुशल प्रयोग हुआ है जो इसे गति प्रदान में सफल हुआ है।
- कबीर ने विरह-चेतना की अनुभूति को इतनी गहराई एवं मार्मिकता से अंकित किया है कि सामान्य विरह-वर्णन से कबीर-के विरह-वर्णन की विलक्षणता अपनी मौलिकता में साकार दिखाई देने लाती है।
- कबीर की साखियों में रुदन या रोने की बात बार-बार आई है। रोना संवेदनशीलता का विशिष्ट लक्षण है।

14. काहे को रोकत मारग सूधो?

सुनहु मधुप! निर्गुन-कटक तें राजपंथ क्यो रूँधो?

कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै कही स्यामधन जू धौं।

बेद पुरान स्मृति सब ढूँढौ, जुवतिन जोग कहूँ धौं?

ताको कहा परेखो कीजै जानत छाछ न दूधो।

सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निबेरत उधो॥

संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पद हिन्दी की भक्तिकालीन कृष्णकाव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास के पदों के संग्रह 'भ्रमरगीत सार' से लिया गया है जिसका संपादन आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया गया है। कृष्णप्रेम में लीन गोपियों को समझाने आए उद्धव को निर्गुण ब्रह्म-साधना का उपदेश गोपियों को नहीं सुहाता और वे तरह-तरह से उद्धव के वचनों का खंडन करती हैं और उसे उलाहना देती हैं।

व्याख्या: इन पंक्तियों में गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, इस सगुणोपासना के सीधे और सरल राजमार्ग को तुम अपने निर्गुण ब्रह्मोपासना के काँटों से क्यों रूँध रहे हो? हे उद्धव, लगता है हमारे कार्यों में बाधा पहुँचाने के लिए तुम्हें या तो कुब्जा ने या श्री कृष्ण ने सिखाकर यहाँ भेजा है। युवतियों के लिए योग-साधना का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। तुम वेद, पुराण, स्मृति आदि सब ग्रंथों में खोजकर देख लो। हम लोग उसका क्या विश्वास करें जो मट्टा और दूध के अंतर को नहीं समझता अर्थात् जो मट्टे के तुल्य निस्सार निर्गुण ब्रह्मोपासना और दूध के समान मंगलकारी सरल सगुणोपासना के महत्त्व को नहीं जानता? सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव के प्रति कहती हैं कि मूलधन-स्वरूप श्रीकृष्ण और बलराम को तो अक्रूर जी पहले ही ले गए, अब उद्धव ब्याज वसूल करने के लिए आए हैं अर्थात् इतने कष्ट के बाद वे इन नीरस बातों द्वारा हमें कष्ट देने के लिए चले आए हैं।

काव्य-सौंदर्य

- इन पंक्तियों में सगुण भक्ति-पद्धति को प्रशस्त, खुली एवं सहज पद्धति बताया गया है।
- गोपियों ने उद्धव के ज्ञान की अनुभवशून्यता की बात की है जिसमें संबंधों और उसके आकर्षण की अनुभूति नहीं है।
- 'मूलधन' और 'ब्याज' जैसे प्रत्ययों के माध्यम से सूर ने तात्कालीन समाज में कृषकों की स्थिति की ओर भी संकेत किया है।

- ज्ञान अपनी अंतिम परिणामिता में कितना अमानवीय हो जाता है, इस ओर सूर संकेत करते हैं। उद्धव का ज्ञान क्रूर ज्ञान है। वह जीवन के निषेध पर टिका हुआ है।
- सूर ने निर्गुण मार्ग के विरोध में परंपरा (वेद, पुराण, स्मृति) का भी सहारा लिया है।
- सूर ने पशुचारण संस्कृति से छाछ, दूध जैसे उपमाएँ ली हैं।
- यह पद वक्रोक्ति और उपालंभ का उत्तम निदर्शन, प्रस्तुत करता है।
- कुल मिलाकर ये पंक्तियाँ जीवन में अनुभूतिपूर्ण संबंध-विधान के महत्त्व और आवश्यकता को प्रतिष्ठित करती हैं और इस रूप में अपनी प्रासंगिकता भी सिद्ध करती हैं।

15. बिलग जनि मानहु, ऊधो प्यारे!

वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे॥

तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।

तिनके संग अधिक छबि उपजत, कमलनैन मनिआरे॥

मानहु नील माट ते काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे।

ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम गुन न्यारे॥

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पद सूरदास के भ्रमरगीतसार (संपादक- आचार्य रामचंद्र शुक्ल) से लिया गया है। गोपियों के खीझने पर भी उद्धव योग और निर्गुण-ब्रह्म संबंधी अपना उपदेश जारी रखते हैं जिस पर गोपियाँ और अधिक झल्ला उठती हैं और उन पर तथा उनके स्वभाव पर फलियाँ कसना आरम्भ कर देती हैं।

व्याख्या: इस पद में गोपियाँ का क्रोध और व्यंग्य अपने चरम पर पहुँच गया है। वे उद्धव को कहती हैं कि हे उद्धव, तुम हमारी बात का बुरा मत मानना। तुम्हारी वह मथुरा नगरी ही काली है, अर्थात् वहाँ केवल काले मन वाले कपटी लोग ही रहते हैं। फिर वे प्रमाण देती हुई कहती हैं कि तुम भी काले-कपटी हो, यहाँ आकर कृष्ण के प्रेम का संदेश सुनाने के बजाय हमें ज्ञान और योग सिखा रहे हो, निर्गुण ब्रह्म की उपासना के लिए प्रेरित कर रहे हो। तुमसे पहले मथुरा से जो अक्रूर आए थे वे भी कपटी थे। वे छलपूर्वक यहाँ से श्रीकृष्ण और बलराम को लेकर चले गए। इन सबके बाद गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रति अपने रोष का इजहार करती हुई कहती हैं कि इतने काले-कपटी लोगों के बीच श्रीकृष्ण सर्वाधिक कपटी हैं और तुम लोगों के बीच मणिधारी सर्प के समान दिखते हैं जिसके काटने से प्राणों की रक्षा संभव ही नहीं। ऐसा लगता है कि इन सब को नील के घड़े से निकालकर यमुना के जल से धोया गया है, जिसके फलस्वरूप यमुना का जल भी काला पड़ गया है। सूर के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि श्याम का गुण ही बड़ा विलक्षण है, इसे कौन जान सकता है?

काव्य-सौंदर्य:

- गोपियों ने मानव-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उद्धव पर मार्मिक कटाक्ष किए हैं।
- इन पंक्तियों में वाग्वैदग्ध्य की उपस्थिति के कारण अभीष्टार्थ प्रभावशाली रूप में व्यक्त हुआ है।
- रूपक एवं अनुप्रास अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

16. उर में माखनचोर गड़े।

अब कैसेहू निकसत नहिं, ऊधो! तिरछे ह्वे जो अड़े॥

जदपि अहीर जसोदानंदन तदपि न जात छँड़े।

वहाँ बने जदुबंस महाकुल हमहिं न लगत बड़े॥

को बसुदेव, देवकी है को, ना जानै औ बूझै।

सूर स्यामसुन्दर बिनु देखे और न कोऊ सूझै॥

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पद भक्तिकालीन कृष्णभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास के पदों के संग्रह भ्रमरगीत सार (संपादक- आचार्य रामचंद्र शुक्ल) से लिया गया है। इस पद में गोपियाँ उद्धव से श्रीकृष्ण के प्रति अपने प्रेम करने की विवशता के कारणों को बता रही हैं।

व्याख्या: हमारे हृदय में माखनचोर श्रीकृष्ण ऐसे गड़ चुके हैं कि किसी प्रकार से निकल ही नहीं पा रहे हैं। यद्यपि वे जाति से अहीर अर्थात् ग्वाले हैं तो भी हमें प्रिय हैं। मथुरा जाकर वे भले ही यदुवंश के प्रतापी राजा बन गए हों, पर इसमें उनका बड़प्पन नहीं लगता है। हमें यह नहीं पता कि वसुदेव कौन है, देवकी कौन है। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव, हमें श्यामसुंदर के रूप को देखे बिना अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता अर्थात् हमें उनके बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता है।

विशेष:

- इन पंक्तियों में गोपियाँ इस बात को व्यंजित कर रही हैं कि प्रेम पूर्णतः भावना का विषय है जो स्वतः उत्पन्न हो जाता है; वह सोच-विचार कर नहीं किया जाता; वहाँ जाति, कुल, वंश, सामाजिक स्थिति आदि नहीं देखे जाते।
- इन पंक्तियों में गोपियों की अखंड एवं अनन्य प्रेमनिष्ठा की अभिव्यक्ति हुई है।
- वचन की भाव-प्रेरित वक्रता इन पंक्तियों में दिखाई दे रही है।
- 'तिरछे हो कर अड़ना' कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा को संकेतित कर रहा है।
- ब्रजभाषा का लचीलापन, मार्थुय और व्यंजकता इन पंक्तियों में देखी जा सकती है।

17. दूर करहु बीना कर धरिबो।

मोहे मृग नाही रथ हाँक्यो, नाहि न होत चंद को ढरिबो॥

बीती जाहि पै सोई जानै कठिन है प्रेमपास को परिबो।

जब तें बिछुरे कमलनयन, सखि, रहत न नयन नीर को गरिबो॥

सीतल चंद अगिनि सम लागत कहिए धीर कौन बिधि धरिबो।

सूरदास प्रभु तुम्हारे दरस बिनु सब झूठो जतननि को करिबो॥

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पद भक्तिकालीन कृष्णभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास के पदों के संग्रह भ्रमरगीत सार (संपादक- आचार्य रामचंद्र शुक्ल) से लिया गया है। कृष्ण के मथुरागमन के पश्चात विरह-विदग्ध राधा को गोपियों द्वारा वीणा बजाकर प्रसन्न करने की चेष्टा पर राधा के प्रत्युत्तर की अभिव्यक्ति इस पद में हुई है।

व्याख्या: राधा अपनी सखी से अनुरोध करती है कि हे सखी! वीणा को दूर रख दो, अर्थात् इससे मधुर संगीत मत निकालो क्योंकि चंद्रमा के रथ को खींचने वाले मृगों के ठहरने से रात लंबी होने लगी है और यह विरह-वेदना को और भी प्रदीर्घ बना रहा है। हे सखी, इस दुःख को जो झेलता है, वही इसकी पीड़ा को समझ सकता है। ईश्वर न करे कि कोई अन्य इस प्रेमजाल में फँसे। मेरी दशा तो यह है कि जबसे श्रीकृष्ण से वियोग हुआ है, हमारे आँसू हैं कि रुकते ही नहीं। ये लगातार अविरल निर्रर के समान हमेशा बहते रहते हैं। मुझे तो वियोग की दशा में चंद्रमा का शीतल प्रकाश भी अग्नि के समान तापदायक लगता है। अतः अब तुम ही बताओ, इस विकट और विषम परिस्थिति में मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूँ। सूरदास के शब्दों में राधा अपनी सखी से कह रही है कि यद्यपि तुम मेरे दुःख को कम करने के लिए लाखों प्रयत्न कर रही हो लेकिन इसका एकमात्र निदान श्रीकृष्ण का दर्शन है। इसके अतिरिक्त मेरे दुःख के शमन का अन्य कोई उपचार या प्रयास निरर्थक और बेकार है।

विशेष:

- इन पंक्तियों में विरह की गहराई और प्रेम की एकनिष्ठता की अभिव्यक्ति हुई है।
- विरहावस्था में आनन्ददायक वस्तुएँ भी दुख देती हैं। प्रस्तुत पद में इस काव्य-परंपरा का निर्वाह हुआ है।
- कवि ने प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण किया है।

- उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, रूपक और उपमा अलंकार का सुंदर प्रयोग हुआ है।
- चाँदनी रात में वीणा का ऐसा ही प्रभाव जायसी की निम्नांकित पंक्तियों में भी दिखाई देता है-
'गहै बीनु मकु रैन बिहाई। ससि वाहन तहँ रहे ओ नाई॥'

18. हरिमुख निरखि निमेष बिसारे।

ता दिन तें मनो भए दिगंबर इन नैनन के तारे॥
घूँघटपट छाँड़े बीथिन महँ अह्निसि अटत उधारे॥
सहज समाधि रूपरुचि इकटक टरत न टक तें टारे॥
सूर, सुमति समुझति, जिय जानति, ऊधो! बचन तिहारे।
करै कहा ये कहयों न मानत लोचन हठी हमारे॥

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पद भक्तिकालीन कृष्णभक्ति काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास के पदों के संग्रह भ्रमरगीत सार (सं. - आचार्य रामचंद्र शुक्ल) से लिया गया है। इस पद में गोपियों ने उद्धव से नेत्रों की विवशता के बहाने प्रकारान्तर से कृष्ण के प्रति अपने अन्नन्य प्रेम की अभिव्यक्ति की है।

वे उद्धव से कह रही हैं कि कृष्ण के अनुपम रूप-सौंदर्य का दर्शन कर हमारे नेत्र पलकें झपकाना विस्मृत कर बैठे हैं मानो इनकी पुतलियाँ दिगम्बर अर्थात् नंगी बन गई हैं। घूँघट को उतारकर ये नंगी ही दिन रात गलियों में घूमती रहती हैं। कृष्ण के सौंदर्य का ध्यान करते हुए ये सहज समाधि जैसी एकाग्र अवस्था में पहुँच जाती हैं। हे उद्धव! हम तुम्हारी बातें समझती हैं। हमारा हृदय तुम्हारी कल्याण-भावना को जानता है, किंतु हमारे ये हठी नेत्र हमारी बात नहीं मानते।

विशेष:

- प्रकारान्तर से सूर ने इस पद में निर्गुणोपासना का खंडन करते हुए सगुणोपासना की प्रतिष्ठा की है।
- ये पंक्तियाँ विरह की गहराई को दर्शाती हैं।
- ब्रजभाषा के माधुर्य, अलंकार-योजना, बिंब-विधान, गीतात्मकता आदि की दृष्टि से ये पंक्तियाँ उत्कृष्ट हैं।
- वचन की भावप्रेरित वक्रता इन पंक्तियों में दिखाई दे रही है।

19. हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।

समुझी बात कहत मधुकर जो? समाचार कछु पाए?
इक अति चतुर हुते पहिले ही, अरु करि नेह दिखाए।
जानी बुद्धि बड़ी, जुवतिन को जोग-सँदेस पठाए॥
भले लोग आगे के, सखि री ! परहित डोलत धाए।
वे अपने मन केरि पाइए जे हैं चलत चुराए॥
ते क्यों नीति करत आपुन जे औरनि रीति छुड़ाए?
राजधर्म सब भए सूर जहँ प्रजा न जायँ सताए॥

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पद कृष्णकाव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास का है और रामचंद्र शुक्ल द्वारा किए गए सूर के पदों के संग्रह भ्रमरगीत सार से उद्धृत है। गोपियों के पास श्रीकृष्ण ने योग-संदेशा भेजा है। इससे अब गोपियों के मन में किसी भी प्रकार की शंका नहीं रह गयी कि श्रीकृष्ण राजनीति के एक चतुर खिलाड़ी हैं। प्रस्तुत पद में उनके राजनैतिक दाँव-पेंच का संकेत किया गया है।

व्याख्या: इस पद में गोपियों ने श्रीकृष्ण पर व्यंग्य कसा है। गोपियाँ आपस में कह रही हैं कि जानती हो सखी, श्रीकृष्ण अब मथुरा जाकर राजनीतिशास्त्र के पंडित हो गए हैं। उन्होंने उद्धव के माध्यम से योग और निर्गुण ब्रह्म की ओर प्रेरित होने के लिए हमें जो संदेशा भेजा है, क्या उनसे श्रीकृष्ण के राजनीति में पारंगत होने का आभास नहीं मिलता है? एक तो श्रीकृष्ण

पहले से ही काफी चतुर थे और अब गोपियों से जैसा प्रेम व्यवहार कर रहे हैं, उनसे उनकी चतुराई नहीं झलकती! यहाँ व्यंजना यह है कि योग-संदेश को भेजकर तो वह स्वयं को काफी चतुर समझ रहे होंगे, लेकिन इससे उनकी अति चतुराई और अज्ञानता का ही पोल खुल रहा है। योग और युवतियों के बीच कोई सीधा संबंध बनता ही नहीं। वस्तुतः दोनों में वैषम्य का संबंध है। गोपियाँ आगे कहती हैं कि पहले के जमाने के लोग कितने भले और सज्जन हुआ करते थे कि घूम-घूमकर दूसरों के दुःख, पीड़ा को जानने का प्रयास करते थे और एक ये श्रीकृष्ण हैं, जो हमारे मन के सुख-चैन का हरण करते हैं। गोपियाँ अब सीधे-सीधे कृष्ण को लांछित करती हुई कहती हैं कि जो दूसरों की मर्यादा और रीति का ख्याल नहीं रखता, अर्थात् जो गोपियों को प्रेम-मार्ग से हटाकर योग-मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करते हैं, वो भला क्या स्वयं धर्म और नीति का पालन करेगा? सूर के शब्दों में गोपियों का कथन है कि राजा का धर्म और कर्तव्य को परखने की कसौटी तो यही है कि उसके राज में प्रजा को कोई कष्ट न हो, प्रजा दुखी न रहे।

यह पद सूरदास की वाग्विदग्धता तथा वाक्-चातुर्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह सूरदास के पूरे रचनाकर्म में विशिष्ट स्थान भी रखता है क्योंकि सूरदास पर अपने समय के यथार्थ का चित्रण न करने का आरोप लगता रहा है। यह पद इसका अपवाद है जहाँ सूरदास राजनीति के चरित्र एवं राजा के कर्तव्य की भी बात करते हुए दिखाई देते हैं। यह व्यंग्यगर्भित शैली का भी अच्छा उदाहरण है।

20. प्रकृति जोई जाके अंग परी।

स्वान पूँछ कोटिक जो लागे सूधि न काहु करी॥

जैसे काग भच्छ नहिं छाँडै जनमत जौन घरी।

धोये रंग जात कहु कैसे ज्यों कारी कमरी?

ज्यों अहि डसत उदर नहिं पूरत ऐसी धरनि धरी।

सूर होउ सो होउ सोच नहिं, तैसे हैं एउ री॥

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पद सूरदास के भ्रमरगीतसार (संपादक- आचार्य रामचंद्र शुक्ल) से लिया गया है। गोपियों के खीझने पर भी उद्धव योग और निर्गुण-ब्रह्म संबंधी अपना उपदेश जारी रखते हैं जिस पर गोपियाँ और अधिक झल्ला उठती हैं और उन पर तथा उनके स्वभाव पर पंक्तियाँ कसना आरम्भ कर देती हैं।

व्याख्या: इस पद में गोपियाँ ने उद्धव पर तीव्र प्रहार किए हैं। वे आपस में कहती हैं कि हे सखी जिस आदमी अथवा प्राणी का जो स्वभाव बन जाता है, जैसी उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति बन जाती है, वह आजीवन बनी रहती है, वह बदलती नहीं और प्रकारांतर से यही उसकी पहचान बन जाती है। अब कुत्ते की पूँछ को ही देखो, लाख प्रयास करने के बावजूद वह टेढ़ी-की-टेढ़ी ही है, आज तक सीधी नहीं हो पाई। कौवा अपने जन्म के बाद से ही अभक्ष्य पदार्थ खाने लग जाता है और काले कंबल को कोई कितना भी साफ करने का प्रयत्न ही क्यों न कर ले, वह कभी सफेद हो ही नहीं सकता। इसी तरह, सर्प को भी देख लो, किसी प्राणी को डँसने से यद्यपि उसकी क्षुधापूर्ति नहीं होती, उसका पेट नहीं भरता, तब भी वह अपने डँसने वाले स्वभाव को नहीं छोड़ता। इसी तरह की प्रकृति के ये उद्धव जी भी हैं, इन्होंने निर्गुण ज्ञान और योग की बातों की झक पकड़ी है, उसकी रट लगाये रहते हैं, इनकी भी यह आदत छूटने वाली नहीं है। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं है कि इसका क्या परिणाम होगा? ये तो बस यही समझते हैं कि जो होना है हो, हम अपनी निर्गुण कथा बंद नहीं करेंगे।

काव्य-सौंदर्य:

- गोपियों ने मानव-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उद्धव पर मार्मिक कटाक्ष किए हैं।
- इन पंक्तियों में वाग्वैदग्ध्य की उपस्थिति के कारण अभीष्टार्थ प्रभावशाली रूप में व्यक्त हुआ है।
- अर्थान्तर अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
- 'धोये....कमरी'- इस पंक्ति के भाव को कवि ने एक अन्य स्थल पर इस प्रकार व्यक्त किया है- 'सूरदास प्रभु कारी कामरि, चढ़े न दूजौ रंगा॥'

21. हमारे हरि हारिल की लकरी।

मन बच क्रम नंदनंदन सों उर यह दृढ़ करि पकरी॥

जागत सोवत, सपने सौतुख काह काह जकरी।

सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ज्यों करुई ककरी॥

सोई ब्याधि हमें लै आए देखी सुनी न करी।

यह तौ सूर तिन्हें लै दीजे जिनके मन चकरी॥

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पद आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित सूर के पदों के संग्रह भ्रमरगीतसार से उद्धृत है। इस पद में गोपियाँ उद्धव से श्रीकृष्ण के प्रेम को अपने लिये आत्यंतिक बता रही हैं।

व्याख्या: गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारा हृदय उस हारिल पक्षी के समान है जो हमेशा अपने चंगुल में एक लकड़ी पकड़े रहता है, जिसके अभाव में उसे भय होता है कि कहीं उसका प्राणान्त न हो जाए। हमारा हृदय भी उसी पक्षी के समान है जो सदैव श्रीकृष्ण में रमा रहता है और उनके प्रति यह निष्ठा केवल वाचिक अथवा वैचारिक स्तर ही सीमित नहीं है, बल्कि इसमें मन, वचन और कर्म तीनों शामिल हैं। इसलिए सोते, जागते और प्रत्यक्ष रूप में भी अर्थात् पूर्ण चेतन अवस्था में भी हम श्रीकृष्ण के नाम की जाप करते हैं। तुम्हारे योग की बातों को सुनकर मुँह का स्वाद ठीक उसी प्रकार कड़वा हो गया, जैसे किसी कड़वी ककड़ी को खा लेने से होता है। तुम तो हमें निर्गुणोपासना का वैसा रोग देने आए हो जिसके न रूप का पता है, न गुण का और जिसे किसी ने देखा तक नहीं है। हे उद्धव, अपने योग की शिक्षा उन्हें दो जिनका मन चंचल है, क्योंकि योग चंचल मन को शांत करने और एकाग्र करने में सहायक होता है। हमारा मन तो पहले से ही श्री कृष्ण के प्रेम और भक्ति में एकाग्र, एकचित्त है। अतः हमें किसी योग की आवश्यकता नहीं है।

श्रीकृष्ण को हारिल की लकड़ी के समान बताकर गोपियों ने उनके प्रति अपने प्रेम की गहनता और दृढ़ता का प्रतिपादन किया है।

व्याधि शब्द का प्रयोग कर सूर ने निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा का प्रहार किया है।

हारिल की लकरी, करुई ककरी जैसे प्रयोग लोक-संस्कृति से सूर की संपृक्ति को दिखाते हैं।

वर्तमान जीवन के टूटते हुए विखंडित होते संबंधों के परिप्रेक्ष्य में संबंधों की अनुभूति प्रवणता एवं अटूटता की प्रस्तावना के कारण यह पद आज भी प्रासंगिक है।

22. निरखत अंक स्यामसुंदर के बार बार लावति छाती।

लोचन जल कागद मसि मिलि कै है गई स्याम स्याम की पाती॥

गोकुल बसत संग गिरिधर के कबहुँ बयारि लगी नहिं ताती।

तब की कथा कहा कहाँ, ऊधो, जब हम बेनुनाद सुनि जाती॥

हरि के लाड़ गनति नहिं काहू निसिदिन सुदिन रासरसमाती।

प्राननाथ तुम कब घौ मिलोगे सूरदास प्रभु बालसँधाती॥

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित सूर के पदों के संग्रह, 'भ्रमरगीतसार' से अवतरित है। इस पद में सूर ने उद्धव के हाथों कृष्ण के पत्र को पाकर गोपियों के हृदय की स्थिति का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है।

व्याख्या: गोपियाँ श्रीकृष्ण के अक्षरों को देखकर भाव-विभोर हो उठीं और पत्र को बारंबार अपने हृदय से लगाने लगीं। उनकी आँखों से प्रेम के अश्रु बहने लगे और इस जल से पत्र भी भीग गया और उसकी स्याही भी श्याम वर्ण की हो गई। वे पूर्व-स्मृति में डूब गईं, वे कहने लगीं—जब श्रीकृष्ण हमारे साथ रहा करते थे तो हमें किसी प्रकार का दुःख नहीं सताता था। और उद्धव, हम तुमसे उस समय की बातें क्या-क्या कहें कि जब उनकी मधुर वंशी की धुन हमारे कानों में पड़ा करती थी तो हम घर के सारे काम-काज को छोड़कर उनकी ओर उन्मत्त दौड़ी चली जाती थीं। रात-दिन जब हम उनकी रासलीलाओं

में मग्न रहती थी तो वह समय हमारे लिए कितना मंगलमय, आनंददायक होता था, इसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। सूरदास के शब्दों में गोपियाँ इतना कहते-कहते अत्यंत भाव-विभोर हो उठीं और कहने लगीं कि हे बचपन के साथी कृष्ण अब कब तुम्हारा दर्शन होगा?

इन पंक्तियों में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम का अत्यन्त उत्कृष्ट और भावप्रवण वर्णन हुआ है। विशेषकर 'हैं गई स्याम स्याम की पाती' द्वारा कवि ने थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह दिया है।

स्याम स्याम में यमक अलंकार का सुंदर प्रयोग हुआ है।

'अंक' और 'स्याम' शब्दों के श्लेष-प्रयोग में सूर का काव्य-कौशल देखते ही बनता है। एक बार शब्दों का साधारण अर्थ (अक्षर और काला) लेने से जिस भाव की अधिकता सूचित हुई आगे उनका श्लेष अर्थ लेने से उसी भाव की और अधिकता व्यंजित हुई है।

23. आयो घोष बड़ो व्यापारी।

लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आन उतारी॥

फाटक दै कर हाटक माँगत भोरै निपिट जु धारी।

धुरही तें खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी॥

इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अजानी?

अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी॥

ऊधो जाहु सबार यहाँ तें बेगि गहरु जनि लावौ।

मुँहमाँग्यो पैहो सूरज प्रभु साहुहि आनि दिखावौ॥

संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पद भक्तिकालीन कृष्णकाव्य धारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास के पदों के संग्रह भ्रमरगीतसार (सं. आचार्य रामचंद्र शुक्ल) से लिया गया है।

इस पद में उद्धव को ज्ञान का विक्रय करने वाले व्यापारी के रूप में वर्णित किया गया है। गोपियों ने व्यंग्य भाव में उद्धव का उपहास किया है।

व्याख्या: गोपियाँ उद्धव के संबंध में आपस में कह रही हैं- देखो सखियों, ग्वालों की इस भूमि में एक बहुत बड़ा व्यापारी आया है। यह अपने साथ ज्ञान एवं योग के माल का भारी बोझ लादे यहाँ ब्रज में आकर उतरा है। यह हमें बिल्कुल भोला-भाला जानकर ज्ञान एवं योग जैसे निस्सार तत्त्व रूपी फटकन देकर श्रीकृष्ण-भक्ति रूपी सोना माँगने आया है। यह हमें श्रीकृष्ण की भक्ति छोड़कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने का आग्रह कर रहा है। भला इसके ऐसे नीरस ज्ञान का यहाँ कौन खरीददार मिलने वाला है। इसे शुरू से ही घाटा उठना पड़ा है, अतः ऐसे माल के भारी बोझ को सिर पर उठाए घूम रहा है। इसके कहने पर ऐसे खोटे माल को खरीदकर कौन अज्ञानी अपने आप को ठगवाए? ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो अपने घर के दूध को छोड़कर खारे कुएँ का जल पीएगा। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण की मधुर भक्ति को छोड़कर कौन शुष्क एवं कटु निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना चाहेगा। हे उद्धव, अगर तुम्हें अपना माल बेचना है तो शीघ्रताशीघ्र यहाँ से जाओ और बिना विलम्ब किये, उस महाजन (यानि श्रीकृष्ण) को लेकर यहाँ हमें दिखाओ, जिसने तुम्हें यह माल देकर भेजा है। फिर तुम्हें इसके बदले में मुँहमांगा दाम मिलेगा। तात्पर्य यह है कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश देने से आप हमारे दुःखों को नहीं हर सकते, आपका यहाँ आना भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा। यदि आप अपने पधारने का प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं, तो उसका एकमात्र उपाय श्रीकृष्ण की यहाँ साक्षात् उपस्थिति ही है।

विशेष:

- गोपियों की वाक्विदग्धता दर्शनीय है।
- 'ज्ञान-योग की खेप' में रूपक अलंकार का सुंदर प्रयोग हुआ है।
- प्रभु साहुहि में भी रूपक अलंकार है।

- पंक्तियों में प्रतीकात्मकता का खूबसूरत प्रयोग हुआ है।
- सूर ने इस पद में ज्ञानमार्ग का तीव्र खंडन किया है।

24. आए जोग सिखावन पाँड़े।

परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े॥
हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखैं ते राँड़े।
कहौ मधुप, कैसे समायेंगे एक म्यान दो खाँड़े॥
कहु षटपद, कैसे खैयतु है हाथि के संग गाँड़े।
काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत भाँड़े॥
काहे को झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाँड़े।
सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाँड़े॥

संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पद भक्तिकालीन कृष्णकाव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास के पदों के संग्रह भ्रमरगीतसार (सं. आचार्य रामचंद्र शुक्ल) से लिया गया है।

प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्वेग के ज्ञान का उपहास कर रही हैं। गोपियाँ उद्वेग को अव्यावहारिक मान रही हैं, जो सिर्फ ज्ञान का भार ढो रहे हैं।

व्याख्या: गोपियाँ उद्वेग पर व्यंग्य करती हुई आपस में कह रही हैं- हे सखी! ये पण्डित हमें योगशास्त्र की शिक्षा देने आ गए हैं यानि ऐसी मूर्खता ये ही कर सकते हैं। ये ज्ञानी उपदेशक पुराणों की शिक्षा को लादे वैसे ही घूम रहे हैं जैसे बनजारे व्यापार का माल लादे घूमते फिरते हैं। हमारी मर्यादा तो श्रीकृष्ण के शरण में ही है। यह योग तो वही सिखेगा, जो एकाकी है यानि जिसका कोई सहारा न हो। हे उद्वेग! तुम यह बताओ कि एक म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती हैं। हे भ्रमर (उद्वेग)! कोई हाथी के साथ गन्ने कैसे खा सकता है? हमें यह तो बताओ कि बिना मीठी रोटी, घी और दूध खाए मात्र हवा से (प्राणायाम से तात्पर्य है) किसी भूख मिट सकती है? कहने का तात्पर्य यह है कि योग-प्राणायाम के ज्ञान से क्या श्रीकृष्ण के दर्शन का सच्चा सुख प्राप्त किया जा सकता है। भला हमने कौन-सी ऐसी चोरी की है जिसके लिये तुम अपनी नीरस एवं कठोर बातों से हमें दण्ड दे रहे हो। हे उद्वेग! यह जान लो कि धनिया, धान और कुम्भाण्ड ये तीनों एक ही साथ (एक ही ऋतु में) नहीं उपजते। सूरदास कहते हैं कि गोपियाँ उद्वेग को स्पष्टतः कह देती हैं कि उनका निर्गुण उपदेश यहाँ व्यर्थ है, क्योंकि सगुणोपासना और निर्गुणोपासना एक साथ नहीं हो सकती। गोपियाँ तो सगुण भक्ति को समर्पित हैं, अतः उनपर निर्गुण ज्ञान का प्रभाव बिल्कुल नहीं पड़ने वाला।

विशेष:

- सूरदास ने इस पद में गोपियों के माध्यम से ज्ञान और योगमार्ग पर तीव्र प्रहार किया है और सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा की है।
- पूरे पद में वक्रोक्ति की छटा विद्यमान है।
- गोपियों द्वारा कृष्ण-प्रेम के परित्याग को असंभव बताने के क्रम में लोकजीवन के प्रसंगों का सूर ने रचनात्मक इस्तेमाल किया है।
- 'परमारथी पुराननि लादे' कथन में व्यंग्य भाव अति तीव्र हो उठा है।

25. जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।

यह व्योपार तिहारो ऊधो! ऐसोई फिरि जैहै॥
जापै लै आए हौ मधुकर ताके उर न समैहै।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै?
मूरी के पालन के केना को मुक्ताहल दैहै।
सूरदास प्रभु गुनहि छाँड़ि के को निर्गुण निरबैहै?

संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पद भक्तिकालीन कृष्ण काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास के पदों के संग्रह भ्रमरगीतसार (सं. आचार्य रामचंद्र शुक्ल) से लिया गया है।

गोपियाँ उद्धव के ज्ञान पर करारा कटाक्ष करती हुई कह रही हैं कि उनका यह ज्ञान यहाँ कोई भी ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखता।

व्याख्या: गोपियाँ उद्धव से कहती हैं: हे उद्धव, आपका यह ठगने का सौदा योग यहाँ ब्रज में नहीं बिकेगा। अर्थात् आपके इस अग्राह्य योग को ग्रहण कर पाने की क्षमता हममें नहीं है। तुम्हारा यह व्यापार ऐसे ही वापस चला जाएगा। हे उद्धव, आप जो यह आधा लेकर यहाँ आए हैं, उसमें आपको सफलता नहीं मिलने वाली। आप जिसके लिये यह लेकर आए हैं, उनके हृदय में इसके लिये कोई स्थान नहीं है। भला अंगूर जैसे फल को छोड़कर कड़वा नीम के फल को कोई अपने मुख से खाएगा। भला कौन वह मूर्ख होगा, जो मूली के पत्ते के बदले मोती देगा। निस्सार निर्गुण ज्ञान के बदले श्रीकृष्ण की माधुर्य भक्ति का त्याग कौन करेगा। अर्थात् यह कदापि संभव नहीं है कि श्रीकृष्ण की भक्ति की जगह निर्गुण ब्रह्म को अपनाया जाए। सूरदास गोपियों के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि भगवान के सगुण भक्ति का रूप ही श्रेष्ठ है, अतः निर्गुण भक्ति की ओर आकर्षण का प्रश्न ही कहाँ है।

विशेष:

- सूरदास ने इस पद में गोपियों के माध्यम से ज्ञान और योग मार्ग पर तीव्र प्रहार किया है और सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा की है।
- पूरे पद में वक्रोक्ति अलंकार की छटा विद्यमान है।
- पंक्तियों में प्रतीकात्मकता का सौंदर्य भी उपस्थित है। दाख और मुक्ताहल प्रेम और भक्ति के तथा निबौरी और मूली के पत्ते ज्ञान और योग-साधना के प्रतीक हैं।
- जोग ठगौरी में रूपक अलंकार का सुंदर प्रयोग हुआ है।
- इस पद में ब्रजभाषा का सौंदर्य देखते ही बनता है।

26. तुलसी बुझाई एक राम घनस्याम ही तें,

आगि बड़वागि तें बड़ी है आगि पेट की।

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: महाकवि तुलसीदास ने मध्यकाल में आमजन की आर्थिक समस्याओं को प्रथमतः कविता का विषय बनाया। प्रस्तुत प्रसंग कवितावली के उत्तरकाण्ड से लिया गया है तथा इसका सीधा संबंध ऐसे ही आर्थिक वर्णनों से है।

व्याख्या: प्रस्तुत पंक्तियों में तुलसीदास ने 'पेट की भूख' को समस्या पक्ष के रूप में तथा राम की भक्ति को समाधान-पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि पेट की आग या भूख संभवतः मानव जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या की तीव्रता को व्यक्त करने हेतु वे एक अतिशयोक्तिमूलक तुलना करते हैं कि जंगल की आग भी इसके समक्ष छोटी पड़ जाती है।

काव्य-सौंदर्य:

- गरीबी की समस्या के रूप में पहचान करना आधुनिक चिन्तन का लक्षण है किंतु तुलसी ने ठेठ मध्यकाल में युगद्रष्टा की नज़र से इसकी पहचान की।
- तुलसी ने इन पंक्तियों में समस्या तो लौकिक जीवन की ली है किंतु समाधान आध्यात्मिक दिखाया है। चेतना का यह द्वन्द्व मध्यकालीन मानसिकता का अनिवार्य परिणाम है।
- तुलसीदास मूलतः अवधी के कवि हैं पर ब्रजभाषा पर भी उनकी अद्भुत कद है जो इन पंक्तियों में स्पष्टतः दिखती है।
- 'घनस्याम' का मिथक मूलतः कृष्ण से जुड़ा है। वैयक्तिक प्रेम का यह मिथक तुलसी के यहाँ सामाजिक चेतना में ढल गया है।
- 'राम घनस्याम' में रूपक अलंकार है।

27. धूत कहौ, अवधूत कहौ, राजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।

काहू की बेटी सो बेटा न व्याहब, काहू की जाति बिगारौ न सोऊ।

‘तुलसी’ सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहौ कछू ओऊ।

माँग के खैबो मसीत को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ॥

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास की रचना कवितावली के उत्तरकांड से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में तुलसीदास राम के प्रति अपनी अनन्य भक्ति-भावना को व्यक्त करते हुए वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था एवं धर्म की दीवारों को तोड़ते हुए नजर आते हैं।

व्याख्या: तुलसीदास कहते हैं कि उन्हें चाहे कोई धूत कहे या अवधूत कहे; राजपूत कहे या जुलाहा कहे, मुझे किसी की बेटी से तो बेटे का ब्याह करना नहीं है, न मैं किसी से संपर्क रखकर उसकी जाति ही बिगाड़ूँगा। तुलसीदास तो श्रीराम का प्रसिद्ध गुलाम हैं, जिसकी जो रुचि हो वह कहे। मुझको तो माँग कर खाना और मसजिद में सोना है। किसी से न एक लेना है न दो देना है अर्थात् किसी से कुछ भी लेना-देना नहीं है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- भक्तिकालीन लोकजागरण को प्रखरता से वहन करती पंक्तियाँ हैं।
- ये पंक्तियाँ सामंतवादी मूल्यों को चुनौती देती नजर आती हैं।
- मुहावरेदार एवं सटीक भाषा का प्रयोग हुआ है।

28. किसबी किसान कुछ बनिक भिखारी भाट

चाकर, चपल नट, चोर, चार चेटकी।

पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,

अटन गहन बन अहन अखेटकी।

ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,

पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ कवि कुल शिरोमणि तुलसीदास द्वारा विरचित कवितावली के उत्तरकाण्ड के एक कवित्त से ली गई हैं।

व्याख्या: मजदूर, किसानों का समूह, वणिक, भिखारी, भाट, नौकर, चंचल नट, चोर, हलकारे और तमाशा करने वाले बाजीगर सभी पेट के लिए अनेक गुणों को सीखते हैं, पहाड़ों पर चढ़ते हैं और गहन वनों में जाकर, दिन-दिन भर वहाँ रहकर शिकार करते हैं। पेट के लिए ही वे ऊँचे-नीचे कर्म तथा धर्म-अधर्म करते हैं यहाँ तक कि पेट के लिए ही वे अपने बेटे और बेटी को भी बेच देते हैं।

काव्य सौंदर्य:

- कवि ने ‘भूख’ के प्रभावों का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है। पेट की भूख मिटाने के लिए बच्चों को बेचने की घटनाएँ आज भी हमारे देश में हो रही हैं।
- सामान्यतः तुलसी पर कुछ वामपंथी समीक्षकों द्वारा सामंतवादी मानसिकता का आरोप लगाया जाता है परंतु ये पंक्तियाँ तुलसी के गरीबों का समर्थन करने वाले पक्ष को दर्शाती हैं। संभवतः इसीलिए वामपंथी समीक्षा के शलाका पुरुष रामविलास शर्मा ने कहा है कि आज के सभी कवियों ने मिलाकर भी गरीबी पर उतना नहीं लिखा जितना अकेले तुलसी ने लिखा है।
- इन पंक्तियों में ‘कवित्त’ का प्रयोग हुआ है जो एक वार्णिक छंद है, अतः इन पंक्तियों में एक स्वाभाविक नादात्मकता है।
- वृत्तानुप्रास, छेकानुप्रास व अंत्यानुप्रास की छटा दर्शनीय है। संभवतः इसीलिए आचार्य शुक्ल ने कवियों को सलाह दी है कि वे अगर तुलसी से सीख पाएँ कि अनुप्रास कैसे लाना है तो अर्थन्यूनत्व के दोष से बच जाएँगे।

29. चढ़ा असाढ़ गँगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा।

धूम स्याम धौरे घन धाए। सेत धुजा बगु पाँति देखाए।

खरग बीज चमकै चहुँ ओरा। बुद बान बरिसै घन घोरा।

अद्रा लाग बीज भुईं लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई।

औनै घटा आई चहुँ फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी।

दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहि बेझ घट रहै न जोऊ।

पुख नछत्र सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह मंदिर को छावा।

जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारौ तिन्ह गर्वा।

कंत पियारा बाहिरें हम सुख भूला सर्वा।

उत्तर: संदर्भ: दिया गया काव्य-अवतरण भक्तिकाल की निर्गुण प्रेमाश्रयी काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि मलिक मुहम्मद जायसी की सर्वोत्कृष्ट रचना 'पद्मावत' से उद्धृत है। 'पद्मावत' की ख्याति जिन कारणों से है, उनमें सबसे महत्वपूर्ण है- इसमें व्यक्त प्रेम दर्शन और प्रेम की सघन अनुभूतियाँ। ये पंक्तियाँ इसी गहन प्रेम दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं।

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ 'पद्मावत' के 'नागमती वियोग खण्ड' से उद्धृत हैं। नागमती रत्नसेन की पत्नी है। रत्नसेन के पद्मावती की खोज में सिंहलद्वीप जाने पर विरह से उसकी दशा कितनी कातर है, यह दिखाने के लिए जायसी ने 'बारहमासा वर्णन' की प्रसिद्ध कथानक रूढ़ि का प्रयोग किया है। दी गई पंक्तियाँ इसी बारहमासा वर्णन से ली गई हैं, जिनमें आषाढ़ मास में नागमती की विरह दशा का वर्णन हुआ है।

व्याख्या: नागमती अपने विरह को अभिव्यक्त करते हुए कहती है कि आषाढ़ का महीना आ चुका है, आकाश में बादल इस प्रकार गरज रहे हैं मानो विरह ने मेरे ऊपर आक्रमण करने के लिए दुखों की सेना इकट्ठी कर ली है और युद्ध के नगाड़े बज रहे हैं। आकाश में धूमिल, काले और सफेद रंग के बादल इधर-उधर दौड़ रहे हैं। उनके बीच उड़ती हुई बगुलों की पंक्तियाँ ऐसी मालूम पड़ती हैं, जैसे श्वेत पताका फहरा रही हैं। बिजलियों का चमकना ऐसा लगता है, मानो शत्रु तीक्ष्ण बाण-वर्षा कर रहा है। आर्द्रा नक्षत्र आ गया है, खेत बोये जाने लगे हैं, किंतु प्रियतम के बिना मुझे कौन आदर दे। घटाएँ उमड़-धुमड़ कर मुझे कामोद्दीप्त कर रही हैं। हे स्वामी, तुम आकर इनसे मेरी रक्षा करो। ऐसे कठिन समय में मेढ़क, मोर, कोयल और पपीहे सभी शोर करके मेरी विरह-वेदना को इस कदर बढ़ा रहे हैं कि लगता है कि मेरे प्राण ही निकल जाएंगे। पुष्प नक्षत्र आ चुका है, किंतु मैं स्वामी के बिना अपने घर में अकेली हूँ। जब घनघोर वर्षा होगी तब कौन हमारे छप्पर की मरम्मत करेगा और हमारी सुरक्षा करेगा।

ऐसे सुहावने मौसम में जिन स्त्रियों के पति उनके घर में हैं, वे गर्व में फूली नहीं समा रही हैं। लेकिन, मेरे प्रियतम तो परदेश में हैं, इसलिए मैं अपना सारा सुख भूल चुकी हूँ।

विशेष:

- बारहमासा वर्णन की परंपरा दिखाई देती है।
- नागमती के वियोग की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसमें निहित गार्हस्थिकता, पवित्रता व सात्विकता में है जो 'पुख नछत्र सिर ऊपर आवा' जैसी पंक्तियों में नज़र आती है।
- इस विरह वर्णन की एक विशिष्टता यह भी है कि इसमें 'विशिष्ट-जन' और 'साधारण-जन' का अंतराल विलुप्त हो गया है। इसमें नागमती का 'रानीपन' नहीं, 'नारीपन' उभरा है जिसने इस विरह को साधारणीकरण की अद्भुत क्षमता प्रदान की है।
- प्रकृति के उपयोग की दृष्टि से ये पंक्तियाँ अत्यंत सुंदर हैं।
- ये पंक्तियाँ एक विशेष दृष्टि से देखने पर मध्यकालीन नारी की वास्तविक स्थिति उजागर करती हैं। नागमती का पति एक अन्य नारी की उपलब्धि हेतु सिंहलद्वीप गया है जबकि नागमती उसके वियोग में तड़प रही है।

- इन पंक्तियों की भाषा ठेठ अवधी है और इनमें निहित माधुर्य का एक बड़ा कारण ठेठ भाषा का अत्यंत सहज, स्वाभाविक प्रयोग है। इस दृष्टि से जायसी की अवधी तुलसी की अवधी से काफी अलग है क्योंकि तुलसी ने संस्कृत के शब्दों को अवधी के प्रवाह में ढाला है जबकि जायसी की अवधी लोक जीवन की अवधी है।
- छंद का प्रयोग कड़वक शैली का है जिसमें सात चौपाइयों के बाद एक दोहे का धत्ता दिया गया है।
- उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा दर्शनीय है जो लगभग हर पंक्ति में व्याप्त है।

30. जेठ जरै जग बहै लुवारा। उठे बवंडर धिकै पहारा।

बिरह गाजि हनिवंत होइ जागा। लंका डाह करै तन लागा।

चारिहुँ पवन झँकोरै आगी। लंका डाहि पलंका लागी।

दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन असि मँदी।

उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी।

उधजर भई माँसु तन सूखा। लागेउ बिरह काग होइ भूखा।

माँसु खाइ अब हाइन्ह लागा। अबहूँ आउ आवत सुनि भागा।

परबत समुंद मेघ ससि दिनअर सहि न सकहिं यह आगि।

मुहमद सती सराहिअै जरै जो अस पिय लागि।।

उत्तर: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की सूफी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि जायसी के प्रबंध काव्य 'पद्मावत' के 'नागमती वियोग खण्ड' से उद्धृत हैं। पद्मावत में जायसी ने 'प्रेम' को एक बड़े जीवन-मूल्य के रूप में चित्रित करते हुए अपनी प्रेम-दृष्टि को कई प्रसंगों के समावेश द्वारा व्यापकता प्रदान की है। इनमें सर्वप्रमुख प्रसंग राजा रत्नसेन के नागमती को छोड़कर चले जाने के बाद नागमती के वियोग का है। इन पंक्तियों में नागमती के विरह का साधारणीकरण प्रकृति का आलंबन लेकर किया गया है।

इन पंक्तियों में कवि कह रहा है कि ज्येष्ठ के महीने में सारी पृथ्वी जलने लगी। आँधी के बवंडर उठने लगे और तीव्र ताप के कारण पहाड़ भी दहकने लगे। विरह हनुमान की भाँति गर्जना करते हुए जागृत हो गया और लोगों के (नागमती के) शरीरों को लंका की भाँति दग्ध करने लगा। चारों पवन अपने झोंकों से इस विरह की आग को बढ़ाने लगे और उससे लंका ही नहीं अपितु पलंका तक जल उठी। इस विरहाग्नि में जलकर ही यमुना नदी का जल काला हो गया है। विरह की अग्नि धीमी-धीमी सुलगती आग की तरह अत्यधिक दुस्सह हुआ करती है। आग भड़क उठी है, जबकि अंधड़ भी चल रहा है और इस दुख में ग्रस्त होकर मैं मरी जा रही हूँ। विरहाग्नि में जलकर मैं अधमरी हो उठी हूँ और मेरे शरीर का सारा मांस सूख गया है। विरह रूपी काग मेरे मांस को उसी प्रकार खाए डालता है, जैसे वृक्षित कौआ मांस पर झपटा करता है। विरह-रूपी कौवे ने मेरे मांस का भक्षण करने के पश्चात् अब मेरी हड्डियों को खाना आरंभ कर दिया है। हे प्राणनाथ! आप अब भी आकर मुझे जीवित बचा लीजिए क्योंकि यह आपके आने का नाम सुनते ही भाग खड़ा होगा। नागमती की यह विरहाग्नि जो ज्येष्ठ माह की लुओं के रूप में प्रकट हो रही है, इसको पर्वत, समुद्र, बादल, चन्द्रमा और सूर्य में से कोई भी नहीं सहन कर सकता। कवि मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि सती-साध्वी नागमती की सराहना करनी चाहिए जो अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में इस विरहाग्नि को सहन कर रही है।

काव्य सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में विरहानुभूति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। इसी मार्मिकता के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी के विरह-वर्णन को 'हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु' कहा है।
- ये पंक्तियाँ गार्हस्थ्यक एवं एकनिष्ठ प्रेम का निदर्शन प्रस्तुत करती हैं।
- कवि ने इन पंक्तियों में षड्वर्णन की कथानक-रूढ़ि को अपनाते हुए जेठ मास का अत्यन्त जीवन्त चित्रण किया है।

- प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करते हुए कवि ने नागमती के विरह को सामान्य नारी के विरह के समान ही चित्रित किया है और ऐसा करके उसकी प्रभाव-क्षमता में अद्भुत अभिवृद्धि की है।
- जायसी ने इन पंक्तियों में लुवारा, बवंडर, दिनअर जैसे ठेठ अवधी के शब्दों का प्रयोग कर कविता को भाषिक मिठास से भर दिया है। इसी प्रवृत्ति के कारण जायसी की अवधी को 'अवधी का अरघान' कहा गया है।
- 'लंका छोड़कर पलंका जा पहुँचने' की लोकोक्ति का सफल प्रयोग किया गया है तथा उपमा एवं रूपक अलंकार के प्रयोग द्वारा काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि की गई है।

31. सुवा काल होइ ले गा पीऊ। पिउ नहिं लेत लेत बरु जीऊ।

भाएउ नरायन बावन करा। राज करत वलि राजा छरा।

करन बान लीन्हेउ कै छंदू। भारथ भाएउ झिलमिल आनंदू।

मानत भोग गोपीचंद भोगी। लै उपसवा जलंधर जोगी।

लेइ कान्हहि भा अकरर अलोपी। कठिन बिछोउ जिअहिं किमि गोपी।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की सूफी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि जायसी के प्रबंध काव्य 'पद्मावत' के 'नागमती वियोग खण्ड' से उद्धृत हैं। पद्मावत में जायसी ने 'प्रेम' को एक बड़े जीवन-मूल्य के रूप में चित्रित करते हुए अपनी प्रेम-दृष्टि को कई प्रसंगों के समावेश द्वारा व्यापकता प्रदान की है। इनमें सर्वप्रमुख प्रसंग राजा रत्नसेन के नागमती को छोड़कर चले जाने के बाद नागमती के वियोग का है। इन पंक्तियों में नागमती के विरह का वर्णन भारतीय लोककथाओं का आधार लेकर किया गया है।

व्याख्या: फिर नागमती सोचती है कि जो हीरामन तोता हमारे यहाँ आया था, वह तोते के रूप में साक्षात् काल ही था जो मेरे पति का हरण कर ले गया है। वह तोता मेरे प्रिय को मुझसे न लेता, भले ही मेरे प्राण ले लेता। फिर नागमती अपनी इस मान्यता के पक्ष में अनेक उदाहरण प्रस्तुत करती है कि जिस प्रकार विष्णु ने वामन का रूप धारण कर राजा बलि के राज्य का अपहरण कर लिया था; कर्ण ने ब्राह्मण का रूप धारण कर परशुराम से उसका ब्रह्मास्त्र वाण मांग लिया था; महाभारत युद्ध के दौरान देवराज इंद्र ने कर्ण से सूर्य द्वारा उसे प्रदत्त अलौकिक अक्षय कवच और कुंडल मांग लिया था, उसी प्रकार यह तोता मुझसे मेरा पति मांग ले गया। नागमती कुछ अन्य उदाहरण प्रस्तुत करती हुई कहती है कि भोग-विलास में मग्न राजा गोपीचंद को योगी जालंधर ने बहला-फुसलाकर भोगी से योगी बना दिया था, अक्रूर आतुर गोपियों से उनका कृष्ण छीनकर ले गए और उन्हें विरह की पीड़ा में तड़पने के लिए छोड़ दिया, किंतु कोई उन गोपियों को बताए कि कृष्ण से वियुक्त होकर वे कैसे जीवित रहें। इसी प्रकार, वह तोता मेरे पति को लेकर लुप्त हो गया। मैं भयंकर विरह पीड़ा में तड़प रही हूँ, अब मेरे प्राण कैसे बचेंगे?

काव्य सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में विरहानुभूति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। इसी मार्मिकता के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी के विरह-वर्णन को 'हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु' कहा है।
- ये पंक्तियाँ गार्हस्थिक एवं एकनिष्ठ प्रेम का निदर्शन प्रस्तुत करती हैं।
- कवि ने नागमती के विरह को सामान्य नारी के विरह के समान ही चित्रित किया है और ऐसा करके उसकी प्रभाव-क्षमता में अद्भुत अभिवृद्धि की है।
- भारतीय कथाओं का उपयोग सूफी काव्यधारा की विशेषता है जो इन पंक्तियों में भी दिखाई देती है।

32. दादुर मोर कोकिला पीऊ। कहिं बेझ घट रहै न जोऊ।

पुख नछत्र सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह मंदिर को छावा।

जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारी तिन्ह गर्वा।

कंत पियारा बाहिरें हम सुख भूला सर्व॥

उत्तर: संदर्भ: दिया गया काव्य-अवतरण भक्तिकाल की निर्गुण प्रेमाश्रयी काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि मलिक मुहम्मद जायसी की सर्वोत्कृष्ट रचना 'पद्मावत' से उद्धृत है। 'पद्मावत' की ख्याति जिन कारणों से है, उनमें सबसे महत्वपूर्ण है- इसमें व्यक्त प्रेम दर्शन और प्रेम की सघन अनुभूतियाँ। ये पंक्तियाँ इसी गहन प्रेम दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं।

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ 'पद्मावत' के 'नागमती वियोग खण्ड' से उद्धृत हैं। नागमती रत्नसेन की पत्नी है। रत्नसेन के पद्मावती की खोज में सिंहलद्वीप जाने पर विरह से उसकी दशा कितनी कातर है, यह दिखाने के लिए जायसी ने 'बारहमासा वर्णन' की प्रसिद्ध कथानक रूढ़ि का प्रयोग किया है। दी गई पंक्तियाँ इसी बारहमासा वर्णन से ली गई हैं, जिनमें आषाढ़ मास में नागमती की विरह दशा का वर्णन हुआ है।

व्याख्या: नागमती अपने विरह को अभिव्यक्त करते हुए कहती है कि आषाढ़ का महीना आ चुका है, आकाश में बादल इस प्रकार गरज रहे हैं मानो विरह ने मेरे ऊपर आक्रमण करने के लिए दुखों की सेना इकट्ठी कर ली है और युद्ध के नगाड़े बज रहे हैं। आकाश में धूमिल, काले और सफेद रंग के बादल इधर-उधर दौड़ रहे हैं। उनके बीच उड़ती हुई बगुलों की पंक्तियाँ ऐसी मालूम पड़ती हैं, जैसे श्वेत पताका फहरा रही हैं। बिजलियों का चमकना ऐसा लगता है, मानो शत्रु तीक्ष्ण बाण-वर्षा कर रहा है। आर्द्रा नक्षत्र आ गया है, खेत बोये जाने लगे हैं, किंतु प्रियतम के बिना मुझे कौन आदर दे। घटाएँ उमड़-धुमड़ कर मुझे कामोद्दीप्त कर रही हैं। हे स्वामी, तुम आकर इनसे मेरी रक्षा करो। ऐसे कठिन समय में मेढ़क, मोर, कोयल और पपीहे सभी शोर करके मेरी विरह-वेदना को इस कदर बढ़ा रहे हैं कि लगता है कि मेरे प्राण ही निकल जाएंगे। पुष्प नक्षत्र आ चुका है, किंतु मैं स्वामी के बिना अपने घर में अकेली हूँ। जब घनघोर वर्षा होगी तब कौन हमारे छप्पर की मरम्मत करेगा और हमारी सुरक्षा करेगा।

ऐसे सुहावने मौसम में जिन स्त्रियों के पति उनके घर में हैं, वे गर्व से फूली नहीं समा रही हैं। लेकिन, मेरे प्रियतम तो परदेश में हैं, इसलिए मैं अपना सारा सुख भूल चुकी हूँ।

विशेष:

- बारहमासा वर्णन की परंपरा दिखाई देती है।
- नागमती के वियोग की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसमें निहित गार्हस्थिकता, पवित्रता व सात्विकता में है जो 'पुख नछत्र सिर ऊपर आवा' जैसी पंक्तियों में नज़र आती है।
- इस विरह वर्णन की एक विशिष्टता यह भी है कि इसमें 'विशिष्ट-जन' और 'साधारण-जन' का अंतराल विलुप्त हो गया है। इसमें नागमती का 'रानीपन' नहीं, 'नारीपन' उभरा है जिसने इस विरह को साधारणीकरण की अद्भुत क्षमता प्रदान की है।
- प्रकृति के उपयोग की दृष्टि से ये पंक्तियाँ अत्यंत सुंदर हैं।
- ये पंक्तियाँ एक विशेष दृष्टि से देखने पर मध्यकालीन नारी की वास्तविक स्थिति उजागर करती हैं। नागमती का पति एक अन्य नारी की उपलब्धि हेतु सिंहलद्वीप गया है जबकि नागमती उसके वियोग में तड़प रही है।
- इन पंक्तियों की भाषा ठेठ अवधी है और इनमें निहित माधुर्य का एक बड़ा कारण ठेठ भाषा का अत्यंत सहज, स्वाभाविक प्रयोग है। इस दृष्टि से जायसी की अवधी तुलसी की अवधी से काफी अलग है क्योंकि तुलसी ने संस्कृत के शब्दों को अवधी के प्रवाह में ढाला है जबकि जायसी की अवधी लोक जीवन की अवधी है।
- छंद का प्रयोग कड़वक शैली का है जिसमें सात चौपाइयों के बाद एक दोहे का धत्ता दिया गया है।
- उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा दर्शनीय है जो लगभग हर पंक्ति में व्याप्त है।

33. फिर फिर चितु उत ही रहतु, टुटी लाज की लाव।

अंग-अंग-छबि-झौरैं मैं भयो भूरे की नाव॥

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत दोहा रीतिकाल के सर्वाधिक विख्यात कवि बिहारीलाल द्वारा रचित एकमात्र साहित्यिक कृति 'बिहारी सतसई' से उद्धृत है। बिहारी मूलतः शृंगार के कवि हैं। इस दोहे में नायक के प्रति नायिका के अनुराग की अभिव्यक्ति हुई है।

व्याख्या: अनुरागिनी नायिका अपनी सखी से नायक के प्रति अपने प्रेम को प्रकट करती हुई कह रही है कि जिस तरह रस्सी के टूट जाने पर नाव भंवर में पड़ जाती है, उसी प्रकार मेरे हृदय की लज्जा रूपी रस्सी टूट गई है, और उस नायक के प्रत्येक अंग की शोभा के समूह में पड़कर मेरा मन बार-बार नायक की ओर चला जाता है।

काव्य-सौंदर्य:

- बिहारी ने शृंगार के सहज-पक्ष को कविता का विषय बनाया है। उनके नायक-नायिकाएँ मध्यवर्ग के सामान्य युवक-युवतियाँ हैं। इसलिए उनके शृंगार-वर्णन में साधारणीकरण की अनूठी क्षमता है।
- बिहारी अनुभवों के कवि हैं। इस दोहे की अनुभाव-योजना भी उत्कृष्ट है।
- इस दोहे में बिहारी की सधी हुई, परिष्कृत और मंजी हुई ब्रजभाषा दिखाई देती है।
- इस दोहे में उपमा एवं रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

34. त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि, सकुचि, समाहि।

गली, अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि॥

उत्तर: संदर्भ- प्रस्तुत दोहा रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि बिहारी की रचना बिहारी सतसई से लिया गया है।

प्रसंग- प्रस्तुत दोहे में कवि ने एक काम-विदग्धा नायिका की अनुराग व्यंजक चेष्टाओं का वर्णन किया है। वह नायिका सभी से छिप कर नायक के प्रति अपने अनुराग को प्रकट करने में सफल हो जाती है। इस प्रकार के वर्णनों में बिहारी निश्चय ही अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय देते हैं। प्रस्तुत दोहे में नायिका की एक सखी दूसरी सखी से नायिका की इन अनुराग-व्यंजक चेष्टाओं का वर्णन कर रही है। या, फिर नायक इसका वर्णन कर रहा है।

व्याख्या- नायिका की अनुराग-व्यंजक चेष्टाओं का वर्णन करते हुए उस की एक सखी दूसरी सखी से कह रही है कि “उसने (नायिका ने) नायक के सामने आने पर लज्जा का प्रदर्शन किया और फिर सिर ढकने के बहाने हाथ ऊपर की ओर उठाया और इसी प्रक्रिया में नायक को अपनी त्रिबली और नाभि के दर्शन करा दिये (प्रत्यक्षतः तो उसने लज्जा का भाव प्रदर्शित किया किंतु वस्तुतः उसने नायक के प्रति अपने अनुराग को प्रकट करने के लिये अपनी त्रिबली और नाभि के दर्शन करा दिये)। इसके पश्चात् वह नायिका सखी की ओट होकर अर्थात् उसकी दृष्टि से बच कर और अपने प्रियतम के प्रति अपने को भली प्रकार व्यक्त करके गली में चली गई।”

काव्य-सौंदर्य:

- कवि ने प्रस्तुत दोहे में नारी-मनोविज्ञान का गहरा परिचय दिया है। नारी स्वभावतः लज्जाशील होती है, अतः वह अपने अनुराग को प्रत्यक्षतः व्यक्त करने में संकोच करती है। प्रस्तुत दोहे में नायिका ने अपनी काम-विदग्धता का परिचय दिया है। नायक के प्रति अपनी आसक्ति भी व्यक्त कर दी है (जिसे नायक समझ गया है) और वह सर्वथा निष्कलुष भी बनी रही है (सखी की दृष्टि से भी बच कर)।
- भावसाम्य की दृष्टि से बिहारी का ही एक अन्य दोहा है-
करु उठाइ धूँघट करत उझरत पट-गुझ रोटा।
सुख-मौटै लूटै ललन लखि ललन की लौटा॥
- अनुप्रास एवं स्वभावोक्ति अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

35. अजौ तर्यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक-रंग।

नाक-बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु कै संग॥

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।

दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता-रंग॥

संदर्भ: प्रस्तुत दोहे महाकवि बिहारीलाल द्वारा विरचित बिहारी सतसई से लिए गए हैं।

व्याख्या: पहले दोहे के दो अर्थ हैं एक अर्थ सौंदर्य उपादानों के संदर्भ में और दूसरा सत्संग की महिमा के बारे में। पहले अर्थ में कवि कह रहे हैं- तर्यौना (कर्ण आभूषण) कानों की सेवा करता हुआ आज तक अपनी ही स्थिति में पड़ा

हुआ है अर्थात् अमुख्य स्थान पर पीछे की ओर पड़ा है जबकि बेसर (नाक का आभूषण) मोती का साथ प्राप्त करके नासिका (मुख्य स्थान) पर विराजमान है। इस दोहे का दूसरा अर्थ ज्यादा महत्वपूर्ण है- निरंतर श्रुति अर्थात् वेदों का सेवन करने वाला मनुष्य भी बिना तरे ही रह गया जबकि महाअधम प्राणी (बेसरि) भी मुक्तों (मोतियों यहाँ मुक्त पुरुष के अर्थ में) का संग पाकर स्वर्ग में निवास पा गया।

दूसरे दोहे में नवयौवना नायिका के रूप का वर्णन किया गया है। नायिका ने अभी-अभी यौवन प्राप्त किया है इसलिए उसमें शिशुता की झलक है अर्थात् आचार व्यवहार में छोटे बच्चों सी सरलता है परंतु उसके शरीर से यौवन झलकने लगा है अर्थात् नायिका ने यौवन का सौंदर्य प्राप्त कर लिया है। इन दोनों के मिल जाने से नायिका में ताफता (एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जिसे बनाने में ताने व बाने में अलग-अलग रंग के धागे का प्रयोग होता है) कपड़े की भांति दीप्ति उत्पन्न हो रही है।

काव्य सौंदर्य:

- शब्दों की संगतराशी में बिहारी का कोई जवाब नहीं दोनों दोहों का एक-एक शब्द चुना हुआ है और उसकी जगह दूसरा शब्द नहीं रखा जा सकता।
- पहले दोहे में त्र्यौना, श्रुति, नाक व बेसरि में श्लेष अलंकार है। इसके प्रयोग से कवि ने दोहरा अर्थ सफलतापूर्वक साध लिया है।
- श्रुति सेवत में छेकानुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास की छटा एक साथ विद्यमान है।

36. कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।

भरै भौन में करत हैं, नैननु ही सों बात॥

तंत्रीनाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।

अनबूढ़े बूढ़े, तिरे जे बूढ़े सब अंग॥

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत दोहे रीतिकाल के सर्वाधिक विख्यात कवि बिहारीलाल द्वारा रचित एकमात्र साहित्यिक कृति 'बिहारी सतसई' से उद्धृत हैं।

प्रसंग: बिहारी रीतिवादी मानसिकता के कवि हैं जिसका सीधा परिणाम है कि उनके साहित्य में काव्य-प्रयोजन के तौर पर सुख और आनंद केंद्र में है, जबकि शृंगार उनकी रस-योजना के केंद्र में है। यही दोनों दृष्टिकोण संदर्भित दोहों में व्यक्त हुए हैं।

व्याख्या: पहले दोहे में बिहारी ने संयोग शृंगार के अंतर्गत अनुभाव-पक्ष का सुंदर विवेचन किया है। वे लिखते हैं कि किसी भरे हुए भवन में नायक और नायिका बैठे हैं। उनकी इच्छा है कि वे सभा से अलग हटकर बातचीत करें, किंतु सामाजिक दबाव के कारण उन्हें सभा में उपस्थित रहना पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में वे आँखों को ही जुबान बना लेते हैं और नेत्र-संकेतों से सारा संवाद करते हैं। नायक ने आँखों से ही नायिका से कुछ निवेदन किया (कहत), नायिका ने मना कर दिया (नटत), नायक इसी बात पर रीझ गया (रीझत), तो नायिका खीझ गई (खिझत)। कुछ समय के अंतराल के बाद पुनः नेत्र-संवाद कायम हुआ, नाराज़गी दूर हुई, दोनों की नज़रें मिलीं (मिलत), दोनों खिलखिलाकर हँसे (खिलत) और फिर नायिका को संकोच हो आया (लजियात) - संभवतः इसलिए कि सभा में उसे किसी ने ऐसा करते हुए देख न लिया हो।

दूसरे दोहे में बिहारी ने अपने काव्य-प्रयोजन की व्याख्या की है। वे लिखते हैं कि चाहे वाद्य-यंत्रों का संगीत हो (तंत्रीनाद), चाहे कविता से मिलने वाला रस हो (कवित्त रस), चाहे रसपूर्ण रागों के गायन का सुख हो (सरस राग) या चाहे शृंगारिक क्रीड़ाओं (रति रंग) का सुख हो- इनमें पूरी तरह डूब जाना ही समझदारी है। जो इनमें नहीं डूबते हैं (अनबूढ़े), वे नासमझ (बूढ़े) हैं, जबकि वे लोभ तर जाते हैं जो इन सुखों में पूरी तरह से डूब जाते हैं।

विशेष:

- बिहारी ने शृंगार के सहज-पक्ष को कविता का विषय बनाया है। पहले दोहे में भरी सभा में बैठे नायक-नायिका की चंचलताएँ बेहद स्वाभाविक हैं।

- बिहारी अनुभावों के कवि हैं। पहले दोहे में अनुभाव-योजना चरम स्तर को छूती है। सात शब्दों के वाक्य से सात चेष्टाओं की अभिव्यक्ति करवा लेना- वह भी एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि नायक और नायिका दोनों की चेष्टाएँ- यह बिहारी के ही बूते की बात है।
- बिहारी शब्दों की भाषा तक सीमित नहीं हैं, वे 'मौन की भाषा' और 'संकेतों की भाषा' की ताकत पहचानते हैं। दुनिया
- बिहारी का साहित्य संबंधी दृष्टिकोण 'उपयोगितावादी' है। उनकी नज़र में साहित्य हो या कोई अन्य कला- उसका प्रयोजन यही है कि वह व्यक्ति की ज़रूरतें पूरी करे।
- बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा की शुरुआत सूर ने बेहद सुंदर ढंग से की थी, जिसे बिहारी ने पूर्णता प्रदान की है। इनकी सी गढ़ी हुई, सधी हुई, परिष्कृत और मंजी हुई ब्रजभाषा किसी कवि के पास नहीं है।
- बिहारी का शिल्प गढ़ा हुआ शिल्प है, यूँ लगता है कि एक-एक शब्द को तराशकर कविता में पिरोया गया है। पहले छंद में 'त' ध्वनि की निरंतर आवृत्ति रोमांच पैदा करती है। समाहार-क्षमता ऐसी है कि पहले छंद के पहले वाक्य में सात क्रियाएँ एक साथ हैं, तो दूसरे छंद के पहले वाक्य में सारी कलाएँ एक साथ उपस्थित हैं।
- बिंबों की दृष्टि से बिहारी की कविता पाठक को सुखद आश्चर्य से भर देती है। उनकी हर पंक्ति चित्रों की शृंखला है, हर शब्द एक स्थिर चित्र है।
- दोहे में कितने अर्थ और शोभाकारक धर्म एक साथ भरे जा सकते हैं- इसका चरम निदर्शन प्रस्तुत दोहों में मौजूद है।

37. नैंक हँसो ही बानि तजि, लख्यौ मुहुँ नीठि।

चौका-चमकनि-चौंध में परति चौधि सी डीठि॥

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत दोहा जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा संग्रहित बिहारी रत्नाकर से उद्धृत है।

प्रसंग: रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि बिहारी ने काव्यशास्त्रीय मानदण्डों का अनुसरण करते हुए इस दोहे में नायक के संदर्भ में नायिका के मान एवं उपेक्षा-भाव को लक्षित कर उसकी सखी द्वारा उसे समझाने का वर्णन किया है।

व्याख्या: नायक परकीया नायिका के पास से स्वकीया नायिका के पास आया है। वह नायिका की दृष्टि में अपराधी है। नायिका उस पर हँसती है। यह देखकर उसकी सखी उससे कहती है-

तुम अपनी मुँह फाड़कर हँसने की आदत छोड़ दो। तुम्हारे अगले चार दाँतों की चमक इतनी तेज है कि नायक की आँखें चौंधियाँ जाती हैं जिससे उसकी आँखें ऊपर नहीं उठ पातीं। इस कारण वे तुम्हारे रूप-रस का सम्यक रूप से पान नहीं कर पाती हैं।

रचनात्मक सौंदर्य:

- रीतिकालीन शृंगारिकता का चित्रण कवि ने बखूबी किया है।
- बिंब-निर्माण तथा सधी एवं परिष्कृत ब्रजभाषा की दृष्टि से ये पंक्तियाँ उत्कृष्ट कोटि की हैं।
- इस दोहे में भाषा की वह समाहार-शक्ति देखते ही बनती है, जिसके लिए बिहारी जाने जाते हैं।
- दोहे की दोनों पंक्तियों के अंत में महाप्राण व्यंजन ध्वनि 'ठ' के प्रयोग से आकर्षक ध्वनि-मैत्री उत्पन्न हुई है।
- कवि ने व्याजोक्ति, काव्यलिंग और अनुप्रास अलंकार का सुंदर प्रयोग किया है।

38. भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ?

फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।

सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?

उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है॥

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ नवजागरण-चेतना से अनुप्राणित द्विवेदीयुग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-कृति 'भारत-भारती' के अतीत खण्ड से ली गई हैं। इन पंक्तियों में कवि ने भारत के उत्कर्ष का बखान किया है।

व्याख्या: वे कहते हैं कि धरती का गौरव तथा प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ है? वह स्थल गंगा जल तथा मनोहारी हिमालय पर्वत से युक्त भारतवर्ष है। सभी देशों में किस देश की सर्वाधिक उन्नति हुई है? वह देश भारतवर्ष है जो कि ऋषियों की भूमि है।

इन पंक्तियों पर नवजागरण चेतना का प्रभाव है। वर्तमान की दुरावस्था से लड़ने की प्रेरणा देने हेतु कवि ने अतीत गौरव का सहारा लिया है।

भारत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कवि की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना को दर्शाता है।

भाषा सहज, सरल एवं इतिवृत्तात्मक है।

द्विवेदी युगीन कविता की प्रमुख प्रवृत्ति तुकान्तता इन पंक्तियों में भी दिखाई दे रही है।

39. काम-मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम,

तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।

दुःख की पिछली रजनी बीच विकसिता सुख का नवल प्रभात,

एक परदा यह झीना नील छिपाये है जिसमें सुख गाता।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत काव्यांश छायावादी काव्यधारा के प्रतिनिधि रचनाकार जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग से लिया गया है। इन पंक्तियों के माध्यम से प्रसाद ने अपने जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त किया है। जलप्रलय में सब कुछ विनष्ट होने के बाद बचे हुए मनु अकेलेपन, अनास्था एवं अनिश्चय से घिरे हुए हैं। इसी मनःस्थिति में उनकी भेंट श्रद्धा से होती है जो उन्हें जीवन में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करती है।

व्याख्या: श्रद्धा मनु को समझाते हुए कहती है कि यह जगत काम के मंगलमय स्वरूप से सुशोभित है। वस्तुतः यह विश्व काम-चेतना का ही परिणाम है। इसलिए काम का तिरस्कार एक भूल है और यह असफलता की ओर ले जाने वाला है। वस्तुतः 'इच्छा' जो काम-चेतना का ही एक रूप है, इस जीवन को संचालित करती है और अर्थवान बनाती है।

दुःख को ही जीवन का सत्य मान लेने वाले मनु को श्रद्धा समझाती है कि सृष्टि परिवर्तनशील है और सुख एवं दुख जीवन के अनिवार्य क्रम हैं। जिस प्रकार रात्रि के आकाश के नीले परदे के पीछे प्रभात अपना शरीर छिपाए रहता है और समय आने पर उदित हो जाता है उसी प्रकार दुख के बाद सुख का भी आगमन होता है।

काव्य-सौंदर्य:

- इन पंक्तियों के माध्यम से प्रसाद ने प्रवृत्तिमूलक जीवन-दर्शन की प्रस्तावना की है जो कि इन्हें आधुनिक बनाती है।
- दुःख के बाद सुख के आने की बात आशावादी चेतना को प्रकट करती है।
- प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' में भी दाण्ड्यायन कहता है- 'मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाए रहता है, हम सब उसे नहीं समझ सकते।'।
- इन पंक्तियों में प्रसाद ने रूपक अलंकार का अत्यन्त कुशल प्रयोग किया है।
- इन पंक्तियों की भाषा तत्समी है जो कि छायावादी काव्य-भाषा की एक प्रमुख विशेषता है।

40. "रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त

तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त;

शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,

छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनन्दन!"

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: दी गई काव्य-पंक्तियाँ छायावाद के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि 'महाप्राण' निराला द्वारा 1936 ई. में रचित लंबी प्रबंधात्मक कविता 'राम की शक्तिपूजा' से ली गई हैं। प्रसंग सानु-सभा का है। राम ने अभी-अभी सभी को बताया है कि युद्ध में विजय संभव नहीं है क्योंकि रावण के आमंत्रण पर स्वयं देवी दुर्गा उसके पक्ष में आ गई हैं। इस निराशा को चीरते हुए अनुभवी सेनापति जाम्बवंत ने यह कथन राम के उद्बोधन हेतु कहा है।

व्याख्या: जाम्बवंत कहते हैं- हे रघुवर! अशुद्ध आचरण वाला रावण यदि शक्ति के प्रभाव से आपको परेशान कर सकता है; तो आप महाशक्ति की आराधना करके उसे अपने पक्ष में कर निश्चय ही उसकी मृत्यु का कारण बनेंगे। अतः इसके लिए आप इस शक्ति का ऐसा मौलिक चिन्तन कीजिए जो रावण के इस अन्याय का साथ देने वाली शक्ति से अधिक शक्तिशाली हो। इसलिए इस नवीन शक्ति का पूजन भी नवीन विधि से कीजिए तथा जब तक आपको पूर्णतः सिद्धि प्राप्त न हो जाए, तब तक आप युद्ध से अलग हो जाएँ।

काव्य-सौन्दर्य:

- ये पंक्तियाँ इस कविता में केंद्रीय महत्व रखती हैं। कविता में अमानिशा जैसी निराशा के कुहासे को चीरने वाली पंक्तियाँ यही हैं, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण सूत्र है- 'शक्ति की करो मौलिक कल्पना।'
- ये पंक्तियाँ जितनी राम-रावण युद्ध पर लागू होती हैं, उससे कहीं ज्यादा 1936 ई. के भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन व निराला के वैयक्तिक जीवन पर।
- निराला सृजनशील कवि हैं, इसलिए मौलिकता की शक्ति पहचानते हैं।
- इन पंक्तियों की भाषा अपनी प्रकृति में तत्समी है। भाषा में प्रवाह अद्भुत है।

प्रासंगिकता: ये पंक्तियाँ शाश्वत प्रासंगिकता धारण करती हैं। सत्य-असत्य का संघर्ष अलग-अलग मुखौटों में हर दौर में दिखाई पड़ता है। सत्य के पक्ष को असत्य से टकराने के लिए शक्ति की मौलिक कल्पनाएँ करनी ही पड़ती हैं।

41. शत घूर्णावर्त, तरंग- भंग उठते पहाड़,

जल राशि-राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़,

तोड़ता बन्ध-प्रतिसंध धरा, हो स्फीत-वक्ष

दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ आधुनिक हिन्दी कविता के छायावादी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की प्रसिद्ध लंबी कविता 'राम की शक्ति-पूजा' से उद्धृत हैं। युद्ध-भूमि से पराजय भावना से ग्रस्त होकर लौटे राम की आँखों से अश्रु की दो बूँदें टपक कर गिरती हैं। उन्हें देखकर पहले तो हनुमान भक्ति-भाव में रत होने के कारण विभिन्न कल्पनाएँ करते हैं, किन्तु यथार्थ का परिज्ञान होते ही वे क्रोध से भर उठते हैं।

व्याख्या: कवि इन पंक्तियों में कह रहा है कि जिस प्रकार प्रलय के समय सागर के भीतर सैंकड़ों भँवर चक्कर काटते हुए सागर का मंथन करते हैं, लहरें अपने आवेग से उठती-गिरती हैं, उन उत्ताल तरंगों के कारण सागर के वक्ष पर जल के पहाड़ उठते एवं गिरते हैं, उसी प्रकार तरह-तरह के प्रबल आवेग हनुमान के हृदय को उद्वेलित करने लगे। जिस प्रकार प्रलयकारी समुद्र अपने मार्ग के प्रत्येक अवरोध को दूर करता हुआ पृथ्वी को अपने स्फीत वक्ष में समाता हुआ उसे जलमग्न कर अपना विस्तार करता है और प्रतिपल वेग के साथ सम्पूर्ण दिशाओं को दिग्विजय करने के लिए बढ़ता जाता है उसी प्रकार हनुमान का वक्षस्थल भी अपने विराट व्यक्तित्व के गर्व से विस्तार पाने लगा।

काव्य-सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में शक्ति-चेतना का ओज चरम रूप में दिखाया गया है।
- निराला ने प्रकारान्तर से भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में आमजन विशेषकर क्रांतिकारियों की शक्ति का चित्रण किया है।

- तत्समी भाषा का अत्यन्त गतिशील एवं लयात्मक प्रयोग इन पंक्तियों को विशिष्ट बनाता है।
- समासिकता एवं ध्वनि-मैत्री का अत्यन्त कुशल प्रयोग किया गया है।

42. “धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन, जिसके लिए सदा ही किया शोध!
जानकी! हाय, उद्धार प्रिया का हो न सका।”
वह एक और मन रहा राम का जो न थका;

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ ‘निराला’ की महाकाव्यात्मक औदात्य से संपन्न लम्बी कविता ‘राम की शक्ति पूजा’ से ली गई हैं।

व्याख्या: कविता में ये पंक्तियाँ उस समय आती हैं जब राम का जप पूर्ण होने ही वाला था किंतु उसी समय दुर्गा साकार होकर पूजा के लिए रखा कमल का फूल उठा ले जाती हैं। इससे राम अत्यन्त व्यथित होकर स्वयं को धिक्कारने लगते हैं। वे कहते हैं कि इस जीवन को धिक्कार है जिसमें सदैव कठिनाइयाँ ही मिली हैं और उन सभी साधनों को भी धिक्कार है जिनका शोध मैं इन कठिनाइयों से उद्धार पाने के लिए करता रहा। अब प्रिया जानकी का उद्धार नहीं हो पाएगा। इस प्रकार राम विलाप करने लगे परंतु इस विलाप के बीच भी राम का एक और मन था जो थका नहीं था जो इस विकट समय में भी समाधान खोजने एवं संघर्ष करने के लिए तत्पर था।

काव्य सौंदर्य:

- सीता के लिए प्रिया का संबोधन है पत्नी का नहीं। निराला के राम जब सीता की मुक्ति के लिए प्रयास करते हैं तो वह केवल पत्नी की रक्षा का सामाजिक दायित्व नहीं है बल्कि प्रेयसी को प्राप्त करने की व्यक्तिगत आकांक्षा भी है।
- सीता इस कविता में केवल सूचित पात्र होते हुए भी इस कविता का केन्द्र बिन्दु हैं। राम का कभी न थकने वाला मन उस बिन्दु पर आकर जागता है जब उन्हें अहसास होता है कि उनकी प्रिय जानकी का उद्धार नहीं हो पाएगा।
- राम प्रतीकात्मक धरातल पर स्वाधीनता आंदोलन, आधुनिक मनुष्य, स्वयं कवि निराला आदि कई अर्थों का वहन कर रहे हैं।
- ‘एक और मन का न थकना’ पंक्ति विकट से विकट परिस्थितियों में भी मनुष्य की अदम्य जिजीविषा एवं संघर्ष-चेतना को व्यंजित कर रही है।

43. है अमानिशा, उगलता गगन घन अंधकार
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन चार,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल
भू-धर ज्यों ध्यान-मग्न, केवल जलती मशाल।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ छायावाद के प्रतिनिधि कवि निराला की कालजयी कविता - ‘राम की शक्ति-पूजा’ से ली गई हैं। ये पंक्तियाँ राम-रावण के बीच हुए पूरे दिन के युद्ध के बाद की हैं।

व्याख्या: राम के सैन्य शिविर के परिवेश का वर्णन करते हुए निराला कहते हैं कि अमावस्या की रात्रि है, मानो आकाश अंधकार को उगल रहा है। दिशाओं का पता नहीं चल रहा है। हवा गतिरुद्ध है। पृष्ठभूमि में स्थित समुद्र की गर्जना लगातार सुनाई दे रही है। पहाड़ ध्यानस्थ है। प्रकाश के नाम पर केवल एक मशाल जल रही है।

उपर्युक्त काव्यांश ‘राम की शक्ति-पूजा’ के सर्वाधिक रचनात्मक स्थलों में से एक है। अंधकार के असीमित विस्तार से मशाल के सीमित प्रकाश की टकराहट को कवि ने अपने काव्य-कौशल से अराजकता और अन्याय की बड़ी शक्ति से मानवीय आस्था की सीमित किन्तु दृढ़ प्रतिरोध के प्रतीक में रूपांतरित कर दिया है।

अंधकार निराला की कविताओं में बार-बार दिखाई देता है। यह अंधकार निराला के युग का भी है और उनके जीवन के संघर्ष का भी।

प्रतीकात्मकता एवं विराट संश्लिष्ट बिम्ब की सर्जना की दृष्टि से ये पंक्तियाँ विशिष्ट हैं।

44. अबे, सुन बे, गुलाब,

भूल मत जो पाई खुशबू, रंगोआब,

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,

डाल पर इतराता है केपीटलिस्ट!

कितनों को तूने बनाया है गुलाम,

माली कर रक्खा, सहाया जाड़ा-धाम।

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत काव्य-अवतरण हिन्दी के सर्वाधिक प्रयोगशील कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' द्वारा 1942 ई. में रचित लंबी कविता 'कुकुरमुत्ता' भाग-I से लिया गया है। ये पंक्तियाँ कुकुरमुत्ता के आरंभ में आई हैं।

व्याख्या: निराला कुकुरमुत्ता के माध्यम से गुलाब के आभिजात्य पर प्रहार कर रहे हैं। कुकुरमुत्ता गुलाब से कहता है कि अरे गुलाब। सुन, तू ये मत भूल कि तूने जो सुगंध एवं रंग रूप पाया है, वह तूने खाद का रक्त चूसकर प्राप्त किया है अर्थात् अभिजात वर्ग के प्रतीक गुलाब ने अपने विकास के लिए खाद अर्थात् निम्नवर्गीय समाज का खून पी-पीकर शोषण किया है। अरे अभिजात गुलाब, तू इस डाल पर इतरा रहा है अर्थात् अपने सौंदर्य एवं विकास पर घमंड कर रहा है। तूने कितने लोगों को गुलाम बनाया है। तूने अपनी देखभाल के लिए माली को रखा है, जिसने कठोर सर्दी-गर्मी को सहकर तेरी सेवा की है।

विशेष:

- ये पंक्तियाँ बेहद प्रतीकात्मक हैं। कुकुरमुत्ता जनसाधारण का प्रतीक है जबकि गुलाब अभिजात वर्ग का।
- यहाँ कुकुरमुत्ता को गुलाब की टक्कर में खड़ा करके निराला ने प्रकृति की साधारणता का पक्ष लिया है।
- इन पंक्तियों में मार्क्सवादी सौंदर्य बोध मुखर हुआ है क्योंकि गुलाब की खुशबू और रंगोआब को खाद अर्थात् संसाधनों पर निर्भर बताया गया है।
- इन पंक्तियों की भाषा-योजना चमत्कार पैदा करती है। फारसी, अंग्रेजी तत्सम और देशज शब्दों का प्रयोग हुआ है।
- ये पंक्तियाँ छंद के ढाँचे में न होकर भी लय से भरी हैं। तुक का प्रभावशाली प्रयोग किया गया है। 'व्यंग्य-शैली' इन पंक्तियों की प्रभाव-क्षमता का विस्तार कर रही है।

45. छीनता हो स्वत्व कोई, और तू त्याग-तप से काम ले यह पाप है।

पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ छायावादोत्तर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि रामधारी सिंह दिनकर की रचना 'कुरुक्षेत्र' के द्वितीय सर्ग से उद्धृत हैं। ये पंक्तियाँ महाभारत के युद्ध से व्यथित युधिष्ठिर को शर-शैया पर लेटे भीष्म द्वारा कही गई हैं।

व्याख्या: भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि यदि कोई स्वतंत्रता और स्वायत्तता का अतिक्रमण करे तो ऐसी स्थिति में इसे सहन कर लेने वाली त्याग और तप-भावना ही पाप-सदृश होती है। ऐसी स्थिति में युद्ध द्वारा शत्रु-शक्तियों को विजित कर लेना ही पुण्य का काम है।

ये पंक्तियाँ युधिष्ठिर के युद्ध-दर्शन का वहन कर रही हैं। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में महात्मा गाँधी ने अंग्रेजों से संघर्ष हेतु अहिंसा, सत्याग्रह जैसे मूल्यों पर बल देते हुए साधन की पवित्रता की भी बात कही थी। दिनकर इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार अन्यायी एवं अत्याचारी शत्रु का सामना करने के लिए हिंसा भी उचित है।

‘ओज’ दिनकर की कविता का एक प्रमुख गुण है जिसे अंतिम दो पंक्तियों में स्पष्टतः देखा जा सकता है।
लय एवं प्रवाह की दृष्टि से ये पंक्तियाँ उत्कृष्ट हैं।

46. ‘श्रेय नहीं कुछ मेरा, मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—

वीणा के माध्यम से अपने को मैंने, सब-कुछ को सौंप दिया था—

सुना आप ने जो वह मेरा नहीं, न वीणा का था:

वह तो सब-कुछ की तथता थी महाशून्य

वह महामौन अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय

जो शब्दहीन सब में गाता है।”

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ प्रयोगवाद तथा नयी कविता काव्यान्दोलनों के प्रस्तावक कवि अज्ञेय द्वारा रचित लंबी कविता ‘असाध्यवीणा’ से ली गयी हैं, जिसे अज्ञेय की कला-दृष्टि व जीवन-दृष्टि का निचोड़ माना जाता है। इन पंक्तियों के माध्यम से प्रियंवद स्पष्ट करता है कि वीणा के संगीत की अभिव्यक्ति में उसकी कोई भूमिका नहीं है।

व्याख्या: अभी जो संगीत व्यक्त हुआ है, उसमें वस्तुतः मेरा कोई श्रेय नहीं है। मैंने तो ‘शून्य-तत्व’ में समाहित हो स्वयं को परमतत्व के प्रति समर्पित कर दिया था। जो संगीत अभी आपने सुना, वह न तो मेरे द्वारा सृजित है और न ही वीणा के द्वारा; वस्तुतः वह तो परमतत्व की एक संक्षिप्त अभिव्यक्ति मात्र है। परमतत्व अर्थात् महाशून्य स्वयं तो मौन रहता है किंतु संसार की प्रत्येक ध्वनि उसी के मौन के भीतर से जन्म लेती है। परमतत्व को न खंडित किया जा सकता है, न परिवर्तित किया जा सकता है, और न ही पूर्णतः जाना जा सकता है— उसे सिर्फ अपने भीतर के मौन में महसूस किया जा सकता है।

विशेष:

- प्रियंवद के माध्यम से सृजन-शक्ति व सृजन-परंपरा के सम्मुख रचनाकार की लघुता प्रस्तुत की गई है।
- इन पंक्तियों पर जेन बौद्धमत, इलियट के ‘निर्वैयक्तिकता सिद्धांत’, ‘सृजनात्मक रहस्यवाद’ का स्पष्ट प्रभाव है।
- भाषा तत्सम और तद्भव पदावलियों के अनूठे मिश्रण से बनी है।
- छंद व तुक का अभाव है किंतु ‘आंतरिक लय’ की उपस्थिति सर्वत्र विद्यमान है।

47. मुझे स्मरण है: और चित्र प्रत्येक स्तब्ध, विजड़ित करता है मुझ को।

सुनता हूँ मैं पर हर स्वर-कम्पन लेता है मुझ को मुझ से सोख-

वायु-सा नाद-भरा मैं उड़ जाता हूँ।..

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन ‘अज्ञेय’ के काव्य संग्रह ‘आंगन के पार द्वार’ में संकलित उनकी अन्यतम रचना ‘असाध्य वीणा’ से ली गई हैं। इन पंक्तियों में अज्ञेय ने प्रियंवद द्वारा वीणा को साधने की प्रक्रिया का चित्रण किया है।

व्याख्या: वीणा को साधते हुए प्रियंवद वीणा से एकत्व का अनुभव करता है। जिस किरीट तरु से वीणा बनी है उस तरु के अनुभव में आये हर स्वर, हर कम्पन को वह महसूस करता है। इन अनुभवों के चित्र प्रियंवद को आश्चर्यचकित व स्तम्भित करते हैं। प्रियंवद विराट के सम्मुख अपनी लघुता के साथ-साथ उससे एकत्व का बोध भी प्राप्त करता है। इसलिए प्रारंभिक हैरानी के बाद वह पाता है कि केवल वही स्वरों को प्राप्त नहीं कर रहा बल्कि स्वर भी उसे प्राप्त कर रहे हैं और उसके भीतर के अहं-भाव को सोख रहे हैं। अहं के विलीन हो जाने पर प्रियंवद वायु के समान हल्का हो जाता है, उसे अहसास होता है कि उसके भीतर अनंत नादों का समुच्चय है। प्रियंवद के भीतर का यह अहसास इतना प्रबल है कि उसे ऐसा लगता है जैसे वह उड़ रहा है।

काव्य सौंदर्य:

- अज्ञेय ने इन पंक्तियों में व्यक्तित्व विलीनीकरण के प्रभाव को प्रस्तुत किया है। आगे प्रियंवद के माध्यम से यही प्रभाव पूरी सभा के पास पहुँचता है और राजा को भी अपना मुकुट शिरीश के फूल के समान हल्का लगता है।

- स्मृति और परंपरा अज्ञेय की काव्यानुभूति के महत्वपूर्ण अंश हैं। ये पंक्तियाँ इसे भी व्यंजित कर रही हैं।
- यह नए दौर की कविता है जिसमें तुक व छंद का अभाव है परंतु एक गहरी आंतरिक लय विद्यमान है।
- इन पंक्तियों में तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है। अज्ञेय के गद्य में तत्सम शब्दों की किंतु पद्य में तद्भव शब्दों की प्रधानता है।

48. पिस गया वह भीतरी औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच, ऐसी टूँजेडी है नीच!!

बावड़ी में वह स्वयं पागल प्रतीकों में निरंतर कह रहा

वह कोठरी में किस तरह अपना गणित करता रहा औ' मर गया...

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत पद्यावतरण गजानन माधव मुक्तिबोध के काव्य संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित कविता 'ब्रह्मराक्षस' से लिया गया है।

व्याख्या: मुक्तिबोध की इस कविता में भी मध्यवर्गीय व्यक्ति में अपना ऐतिहासिक उत्तरदायित्व (जन जागरण) न निभा पाने के कारण उत्पन्न आत्म-संघर्ष चित्रित हुआ है। ब्रह्मराक्षस के भीतर आत्मचेतस से विश्वचेतस होने का संघर्ष जीवन भर चलता रहा और वह इन्हीं भीतरी (आत्मचेतस) और बाहरी (विश्वचेतस) पाटों के बीच पिस गया। ब्रह्मराक्षस के विश्वचेतस बन पाने में असफलता का कारण उसकी इच्छा की कमी नहीं बल्कि स्थापित किए गए अत्यंत ऊँचे नैतिक मान थे। उन नैतिक मानों को प्राप्त करने की योजना वह अपनी कोठरी में ही बनाता रहा। इसका नतीजा यह हुआ कि वह समाज से जुड़ ही नहीं पाया और अब वही ब्रह्मराक्षस बावड़ी के भीतर बैठा अपनी यह कहानी 'पागल प्रतीकों' के माध्यम से कह रहा है।

काव्य सौंदर्य:

- मुक्तिबोध मार्क्सवादी थे किंतु उनकी यह कविता मार्क्सवाद के दायरों को तोड़ती है। मार्क्सवाद के अंतर्गत व्यक्ति का व्यक्तित्व पूरी तरह समाज की देन माना जाता है। ब्रह्मराक्षस का भी यही संघर्ष है कि उसका व्यक्तित्व पूरी तरह समाज का हो जाए। किंतु इस 'अतिरेकवादी पूर्णता' का स्वाभाविक परिणाम असफलता है। इस अव्यवहारिक नैतिक मानदण्ड को प्राप्त करने के प्रयास में ही ब्रह्मराक्षस की मृत्यु हो जाती है।
- इन पंक्तियों में आर्ट ऑफ रीडिंग का प्रयोग किया गया है क्योंकि मुक्तिबोध के समय तक कविता मुख्यतः पाठ्य विधा बन गई है।
- मुक्तिबोध को किसी तरह के शब्दों से परहेज नहीं है इन पंक्तियों में भी उन्होंने तत्सम, तद्भव व अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया है।

49. 'अरे भगाओ इस बालक को होगा यह भारी उत्पाती

जुलुम मिटाएंगे धरती से इसके साथी और संघाती

'यह उन सबका लीडर होगा नाम छपेगा अखबारों में

बड़े-बड़े मिलने आएंगे लद-लदकर मोटर-कारों में

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ आधुनिक हिन्दी कविता की प्रगतिवादी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि नागार्जुन की कविता 'हरिजन-गाथा' से उद्धृत हैं। 'हरिजनगाथा' नागार्जुन द्वारा 1977 ई. में रचित लंबी कविता है जो दलित वर्ग के प्रति उनकी संवेदनशीलता का सबसे प्रभावशाली दस्तावेज है। यह 1973 ई. में बिहार में हुए 'बेलछी हत्याकांड' से प्रेरित कविता है जिसमें सवर्णों द्वारा कुछ दलितों को जिन्दा जला दिया गया था। इन पंक्तियों में कवि ने निम्न वर्ग के लोगों द्वारा अपने शोषण एवं अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करने की शक्ति के प्रति आस्था व्यक्त की है।

व्याख्या: कवि कहता है कि एक निम्नवर्गीय दलित परिवार में जिस बच्चे ने जन्म लिया है वह बड़ा होकर दलित वर्गों का नेता होगा और अपने साथियों से मिलकर व्यवस्था-परिवर्तन कर देगा। ये पंक्तियाँ कवि की मार्क्सवाद के प्रति आस्था को व्यक्त करती हैं। वह इस मार्क्सवादी विचार में विश्वास रखता है कि क्रांति होगी और निम्नवर्ग में क्रांति करने की शक्ति है। मात्र उसे सही नेतृत्व की जरूरत है। इन पंक्तियों की भाषा प्रगतिवादी कविता की भाषा के अनुरूप ही अति सहज एवं सरल है।

50. जाने दो वह कवि-कल्पित था, मैंने तो भीषण जाड़ों में

नभ-चुंबी कैलाश शीर्ष पर, महामेघ को इंद्रानिल से

गरज-गरज भिड़ते देखा है, बादल को घिरते देखा है

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत काव्यांश आधुनिक हिन्दी कविता की प्रगतिवादी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि नागार्जुन की बहुचर्चित कविता 'बादल को घिरते देखा है' से उद्धृत किया गया है। नागार्जुन सामान्यतः अपनी कविताओं में मार्क्सवादी जीवन-मूल्यों के प्रक्षेपण के लिए जाने जाते हैं, किन्तु यह कविता जीवन-दृष्टि, सौंदर्य-बोध तथा काव्य-परंपरा के धरातल पर कुछ भिन्न है।

व्याख्या: नागार्जुन कालिदास द्वारा किए वर्णन को काल्पनिक बताते हुए लिखते हैं कि उन्होंने वास्तविकता में अत्यधिक ठंड के दिनों में हिमालय और वहाँ की प्राकृतिक स्थितियों को देखा है। उन्होंने देखा है कि गगनचुंबी कैलाश पर्वत के शीर्ष पर मेघ एवं तेज हवाएँ गरज-गरज कर टकराती रहती हैं।

ये पंक्तियाँ नागार्जुन के यथार्थबोध को दर्शाती हैं। सहज आनुभविक सौंदर्य का चित्रण करते हुए वे उससे जुड़ी कल्पनाओं का खंडन इन पंक्तियों में करते हैं। अपनी काव्य-संवेदना के बल पर नागार्जुन ने प्रकृति की विराट और आदिम गतियों को मानवीय अनुभव का हिस्सा बना दिया है।

शिल्प के धरातल पर ये पंक्तियाँ क्लासिक प्रतीत होती हैं। इनमें नाद और गति का तीक्ष्ण वेग है। दृश्य और श्रव्य बिंब का संलयन भी है।

51. बिन गोपाल बैरिन भई कुंजें।

तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजें॥

बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलें, अलि गुंजें।

पवन पानि घनसार सँजीवनि, दधिसुत किरन भानु भइं भुंजें॥

ए, ऊधो, कहियो माधव सौं, बिरह कदन करि मारत लुंजें।

सूरदास प्रभु को मग जोवत, अँखियाँ भई बरन ज्यों गुंजें॥

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत पद्यावतरण भक्तिकाल की कृष्णकाव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास के भ्रमरगीत से उद्धृत द्वारा रचित है।

प्रसंग: कृष्ण जब से अक्रूर के साथ मथुरा गए हैं, गोपियाँ उनके विरह में व्याकुल हैं। इन पंक्तियों में गोपियों का यही मनोभाव व्यक्त हुआ है।

व्याख्या: गोपियाँ कहती हैं कि गोपाल अर्थात् श्री कृष्ण के बिना वन, कुंज, बाग-बगीचे शत्रु के समान प्रतीत होते हैं। संयोग की अवस्था में ये लताएँ जो शीतलता प्रदान करती थीं वे ही अब भयंकर अग्नि-राशि के समान दिखती हैं। यमुना का बहना, पक्षियों का कलरव, कमलों का खिलना, भौरों का गुँजार आदि आज सब व्यर्थ है, निरर्थक है। अब उनकी कोई उपयोगिता शेष नहीं रह गई है; क्योंकि अब मंद-मंद बहती यमुना की कछारों पर श्री कृष्ण की रास लीला का मंचन नहीं रह गया है। उस समय ये सारी चीजें कितनी सुखद प्रतीत होती थीं। गोपियाँ आगे शीतलोपचार में प्रयुक्त होने वाली चीजों के बारे में गिन-गिनकर बताती हैं कि पवन, पानी, कर्पूर, सँजीवनी बूटी और चंद्र-किरणें आदि चीजें, जो शीतलता प्रदान करने की अपनी प्रकृति के लिये विख्यात हैं; वे सब चीजें भी अब सूर्य की ज्वाला के समान हमें जला रही हैं। फिर गोपियाँ उद्धव से आग्रह कर रही हैं कि हे उद्धव, श्रीकृष्ण से जाकर हमारी वियोग-दशा के बारे में बताना। उन्हें कहना कि जिस प्रकार कोई एक अपंग व्यक्ति को छुरी चुभा रहा होता है, उसी प्रकार आपके वियोग में हमारे पंगु मन को भी आपके वियोग की वेदना सता रही है। और हे उद्धव, उन्हें यह भी बताना कि उनके इंतजार में हमारी प्रतीक्षातुर आँखें गुंजा के समान लाल हो गई हैं।

काव्य-सौंदर्य:

- विरह की यह अवस्था बेहद दारुण, हृदयविदारक और मर्मस्पर्शी है। यहाँ प्रकृति उद्दीपन विभाव के रूप में है।
- ये पंक्तियाँ विरह की गहराई को दर्शाती हैं। कहा जाता है कि प्रेम की वास्तविकता संयोग के उत्सव में नहीं, वियोग के मार्मिक क्षणों में उभरती है।
- गोपियों ने प्रकृति को भिन्न-भिन्न रूपों में अपनी भावनाओं से जोड़ा है क्योंकि 'गोचारण समाज' का प्रकृति के साथ गहरा लगाव होना स्वाभाविक है।
- इस पद की अलंकार योजना अत्यंत श्रेष्ठ है। गौरतलब है कि इस पूरे पद में मूल भाव सिर्फ इतना है कि विरह में प्रकृति जानलेवा साबित हो रही है। इसी एक बात को हर पंक्ति में भिन्न-भिन्न उपमाएँ देकर कई तरीकों से कहा गया है।
- बिंब प्रभाव की दृष्टि से सूर का कोई सानी नहीं है। इस पद की हर पंक्ति अनुभूतिगत चित्रों की शृंखला नज़र आती है।
- ब्रजभाषा का माधुर्य सूर की लेखनी ने ही निखारा है- यह इन पंक्तियों को पढ़कर महसूस किया जा सकता है।
- इन पंक्तियों में 'गीत' का विधान लिया गया है पर भक्ति की तन्मयता ने उसे 'लीलापद' में रूपांतरित कर दिया है।

प्रासंगिकता: यह काव्यावतरण आज की दृष्टि से अत्यंत प्रासंगिक है। जैसे-जैसे सभ्यता आगे बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे मानव के मूल राग-विराग दबते जा रहे हैं; जीवन यांत्रिक होता जा रहा है। विरह की जो गहराई इनमें दिखाई पड़ती है, वह 'प्रेम' के सात्विक व मधुर भाव को जिलाए रखने की प्रेरणा देती है।

52. मेरे जाति-पाँति, न चहों काहू की जाति-पाँति,
मेरे कोऊ काम को, न हों काहूँ के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो 'तुलसी' के एक नाम को।
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
'साह ही को गोत गोत होत हैं गुलाम को'
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच, सोज कहा,
का काहू के द्वार परों? जो हों सो हों राम को॥

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास की रचना कवितावली के उत्तरकांड से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में तुलसीदास राम के प्रति अपनी अनन्य भक्ति-भावना को व्यक्त करते हुए वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था की दीवारों को तोड़ते हुए नजर आते हैं।

व्याख्या: मेरी न तो कोई जाति-पाँति है, और न ही मैं किसी की जाति-पाँति चाहता हूँ। कोई मेरे काम का नहीं है और न मैं किसी के काम का हूँ। मेरा लोक-परलोक सब श्रीराम के हाथ है। तुलसी को तो एकमात्र रामनाम का ही बहुत बड़ा भरोसा है। लोग अत्यंत ही अज्ञानी हैं-कहावत भी नहीं समझते कि जो गोत्र स्वामी का होता है, वही सेवक का होता है। संत हूँ या असंत, भला हूँ या बुरा, इसकी मुझे कोई परवाह नहीं है। मैं जैसा भी हूँ श्रीराम का हूँ। क्या मैं किसी के दरवाजे पर पड़ा हूँ?

रचनात्मक सौंदर्य:

- भक्तिकालीन लोकजागरण को प्रखरता से वहन करती पंक्तियाँ हैं।
- ये पंक्तियाँ सामंतवादी मूल्यों को चुनौती देती नजर आती हैं।
- तुलसीदास पर वर्णव्यवस्था का समर्थक होने का आरोप लगता रहा है। ये पंक्तियाँ उसका प्रत्याख्यान करती हैं।
- मुहावरेदार एवं सटीक भाषा का प्रयोग हुआ है।

53. भर भादों दूभर अति भारी। कैसें भरों रैन अँधियारी।

मँदिल सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डसा।

रहाँ अकेलि गहें एक पाटी। नैन पसारि मरों हिय फाटी।

चमकि बीज घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा।

बरिसै मघा झँकोरि झँकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी।

पुरबा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवास भई हों झूरी।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की सूफी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि जायसी के प्रबंध काव्य 'पद्मावत' के 'नागमती वियोग खण्ड' से उद्धृत हैं। पद्मावत में जायसी ने 'प्रेम' को एक बड़े जीवन-मूल्य के रूप में चित्रित करते हुए अपनी प्रेम-दृष्टि को कई प्रसंगों के समावेश द्वारा व्यापकता प्रदान की है। इनमें सर्वप्रमुख प्रसंग राजा रत्नसेन के नागमती को छोड़कर चले जाने के बाद नागमती के वियोग का है। इन पंक्तियों में नागमती के विरह का साधारणीकरण प्रकृति का आलंबन लेकर किया गया है।

व्याख्या: नागमती रत्नसेन के विरह में जल रही है। नागमती अपनी कथा सुनाती हुई कहती है कि जल से भरे इस भादो महीने को काटना मेरे लिये दूभर हो रहा है। मेरा घर सूना है, रातें अंधकारमय हैं, ऐसी स्थिति में प्रियतम के बिना मैं इन सूनी और अंधेरी रातों को कैसे काटूँ? मेरे प्रियतम कहीं दूर चले गए हैं और मेरी शय्या नागिन बनकर डँस रही है। मैं सेज की एक पाई को पकड़े उस पर अकेली पड़ी रहती हूँ। स्वामी की प्रतीक्षा में मैं अपने नेत्रों को फैलाए बाट देखती रहती हूँ और वेदना के कारण मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। बिजली चमक-चमक कर और बादल गरज-गरज कर मुझे डराते रहते हैं। विरह काल के समान डराता है। मेघा नक्षत्र के आने से बादल मूसलाधार बरस रहा है और मेरे नैनो से आँसू इस प्रकार बरस रहे हैं जैसे वर्षा ऋतु में मकान की ओरी से पानी चूता हो। भादों का महीना बीत गया है और फाल्गुनी नक्षत्र लग गया है। सारी पृथ्वी वर्षा जल से भर गई है। फिर आगे नागमती कहती है कि आक और जवासा के वृक्ष जिस प्रकार वर्षा ऋतु में झुलस कर सूख जाते हैं उसी प्रकार इस वर्षा ऋतु में झुलसकर मैं भी सूख गई है।

काव्य सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में विरहानुभूति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। इसी मार्मिकता के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी के विरह-वर्णन को 'हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु' कहा है।
- ये पंक्तियाँ गार्हस्थिक एवं एकनिष्ठ प्रेम का निदर्शन प्रस्तुत करती हैं।
- कवि ने इन पंक्तियों में षड्ऋतु-वर्णन की कथानक-रूढ़ि को अपनाते हुए भादौ ऋतु का अत्यन्त जीवन्त चित्रण किया है।
- प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करते हुए कवि ने नागमती के विरह को सामान्य नारी के विरह के समान ही चित्रित किया है और ऐसा करके उसकी प्रभाव-क्षमता में अद्भुत अभिवृद्धि की है।
- जायसी ने इन पंक्तियों में 'पुहुमि' जैसे ठेठ अवधी के शब्दों का प्रयोग कर कविता को भाषिक मिठास से भर दिया है। इसी प्रवृत्ति के कारण जायसी की अवधी को 'अवधी का अरघान' कहा गया है।

54. कुहुकि कुहुकि जसि कोइलि रोई। रक्त आँसु घुंघची बन बोई।

पै करमुखी नैत तन राती। को सिराव बिरहा दुखताती।

जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी। तहँ तहँ होइ घुंघचिन्ह कै रासी।

बुँद बुँद महँ जानहुँ झीऊ। कुंजा गुंजि करहिं पिउ पिऊ।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के सूफी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि जायसी के प्रबंध काव्य 'पद्मावत' के नागमती वियोग खंड से ली गई हैं। इस पद में जायसी ने नागमती की विरहावस्था का कारुणिक चित्रण किया है।

व्याख्या: जायसी बताते हैं कि जिस प्रकार कोयल कुहुकती फिरती है, उसी प्रकार वन-वन में नागमती रोती फिर रही है। उसके नेत्रों से गिरे हुए रक्त के आँसुओं ने मानो वन में गुंजा फल बो दिए हैं। रोते-रोते उसका मुख काला, नेत्र तथा शरीर लाल पड़ गए हैं। लेकिन विराट समस्या है कि विरह से तप्त इस शरीर को कौन शीतलता प्रदान करे? वन में इधर-उधर भटकती हुई नागमती जहाँ भी खड़ी होने जाती है, वहाँ-वहाँ उसकी आँखों से रक्त के आँसू टपकने के कारण घुंघचियों का ढेर-सा लग जाता है, जैसे उसके आँसुओं के एक-एक बूँद में प्राण हो और उन आँसू रूपी घुंघचियों में से पी-पी की पुकार उठ रही हो।

काव्य सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में विरहानुभूति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। इसी मार्मिकता के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी के विरह-वर्णन को 'हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु' कहा है।
- इस विरह वर्णन की एक विशिष्टता यह भी है कि इसमें 'विशिष्ट-जन' और 'साधारण-जन' का अंतराल विलुप्त हो गया है। इसमें नागमती का 'रानीपन' नहीं, 'नारीपन' उभरा है जिसने इस विरह को साधारणीकरण की अद्भुत क्षमता प्रदान की है।
- प्रकृति के उपयोग की दृष्टि से ये पंक्तियाँ अत्यंत सुंदर हैं।
- ये पंक्तियाँ एक विशेष दृष्टि से देखने पर मध्यकालीन नारी की वास्तविक स्थिति उजागर करती हैं। नागमती का पति एक अन्य नारी की उपलब्धि हेतु सिंहलद्वीप गया है जबकि नागमती उसके वियोग में तड़प रही है।
- इन पंक्तियों की भाषा ठेठ अवधी है और इनमें निहित माधुर्य का एक बड़ा कारण ठेठ भाषा का अत्यंत सहज, स्वाभाविक प्रयोग है। इस दृष्टि से जायसी की अवधी तुलसी की अवधी से काफी अलग है क्योंकि तुलसी ने संस्कृत के शब्दों को अवधी के प्रवाह में ढाला है जबकि जायसी की अवधी लोक जीवन की अवधी है।

55. पैदा हुआ अभिमान पहले चित्त में निज शक्ति का,

जिससे रूका वह स्रोत सत्वर शील, श्रद्धा, भक्ति का।

अविनीतता बढ़ने लगी, अनुदारता आने लगी,

पर-बुद्धि जागी, प्रीति भागी, कुमति बल पाने लगी।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पद्यखंड राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की प्रसिद्ध कविता 'भारत-भारती' के 'अतीत खंड' से उद्धृत है। कवि यहाँ अवनति के आरंभ के कारणों की व्याख्या तथा विस्तार के लक्षणों की चर्चा कर रहा है।

व्याख्या: गुप्त जी कहते हैं कि भारतवर्ष की अवनति का आरंभ तभी होने लगा जब स्वयं की शक्ति व बुद्धि का घमंड जनमानस के हृदय में वास करने लगा। घमंड व दंभ का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हमारी उन्नति के स्रोत, यथा शील, श्रद्धा, भक्ति आदि बंद हो गए और ये गुण अविनीतता व अनुदारता जैसे अवगुणों में पर्यवसित होने लगे। हमारे हृदय में स्नेह का अभाव होने लगा तथा कुबुद्धि प्रबल होने लगी। ये सब लक्षण स्पष्टतः अवनति के विस्तार के परिचायक हैं।

विशेष:

- आत्मालोचन के भाव की निरंतर उपस्थिति 'नवजागरण' की चेतना का संकेत है।
- यहाँ गुप्त जी अवनति के आंतरिक कारणों पर मंथन कर रहे हैं।
- गुप्त जी की भाषा तत्समीकृत तो है परंतु स्पष्ट एवं सहज है। इसका एक प्रमुख कारण इसकी अभिधात्मकता है।
- लय का निरंतर निर्वाह हुआ है। यहाँ पंक्ति-दर-पंक्ति के अतिरिक्त प्रत्येक पंक्ति में भी तुकबंदी विद्यमान है। यथा 'पर बुद्धि जागी, प्रीति भागी, कुमति बल पाने लगी।'
- गुप्त जी यहाँ कथावाचक शैली का प्रयोग करते हुए अवनति के आगमन और विस्तार का क्रमशः वर्णन कर रहे हैं।

56. जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल-
ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल।

विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पंदित विश्व महान,
यही दुख-सुख, विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत काव्यांश छायावादी काव्यधारा के प्रतिनिधि रचनाकार जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग से लिया गया है। इन पंक्तियों के माध्यम से प्रसाद ने अपने जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त किया है। जलप्रलय में सब कुछ विनष्ट होने के बाद बचे हुए मनु अकेलेपन, अनास्था एवं अनिश्चय से घिरे हुए हैं। इसी मनःस्थिति में उनकी भेंट श्रद्धा से होती है जो उन्हें जीवन में प्रवृत्त होने के लिये प्रेरित करती है।

व्याख्या: मनु की पीड़ादायक स्थिति को देखकर श्रद्धा कहती है कि तुम जिस दुख को अपने लिये अभिशाप समझ रहे हो और जिसे संसार की सम्पूर्ण विपत्तियों का उत्पादक मान बैठे हो, वह दुख भी तो परमेश्वर का एक रहस्यपूर्ण वरदान है, इस बात को तुम्हें कभी भी नहीं भूलना चाहिये।

दुख और सुख के वैषम्य से भरे हुए इस जगत के स्वरूप का बोध कराती हुई श्रद्धा मनु को कहती है कि इस संसार में सदैव एक स्थिति नहीं रहती है। यहाँ कभी सृष्टि होती है, कभी संहार, कभी उदय, तो कभी तिरोधान का कार्य चलता है। अतः यह महान विश्व इन्हीं विषम स्थितियों से उत्पन्न होने वाली पीड़ा में लीन होकर निरंतर गतिशील बना रहता है। इन्हीं विषम परिस्थितियों से सुख और दुख का भी विकास होता है। अतः सृष्टि के साथ-साथ विषमता ही सुख और दुख की भी जननी है और यह विषमता हमें किसी और से प्राप्त नहीं होती, अपितु यह भी तो उस महाचिति तथा विराट् शक्ति की ही माधुर्यपूर्ण देन है। जो हमें विश्व के उन्मीलन के साथ प्राप्त होती है।

काव्य-सौंदर्य:

- इन पंक्तियाँ के माध्यम से प्रसाद ने प्रवृत्तिमूलक जीवन-दर्शन की प्रस्तावना की है जो कि इन्हें आधुनिक बनाती है।
- दुःख-सुख दोनों की सहज स्वीकृति की बात आशावादी चेतना को प्रकट करती है।
- प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' में भी दाण्ड्यायन कहता है- 'मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाए रहता है, हम सब उसे नहीं समझ सकते।'।
- इन पंक्तियों की भाषा तत्समी है जो कि छायावादी काव्य-भाषा की एक प्रमुख विशेषता है।

57. न्यायोचित सुख सुलभ नहीं

जब तक मानव-मानव को,

चैन कहाँ धरती पर, तब तक

शान्ति कहाँ इस भव को?

“जब तक मनुज-मनुज का यह

सुख-भाग नहीं सम होगा,

शमित न होगा कोलाहल,

संघर्ष नहीं कम होगा।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर के प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग से उद्धृत हैं। इन पंक्तियों में दिनकर ने भीष्म के माध्यम से अपने समतावादी चिंतन को प्रस्तुत किया है।

व्याख्या: भीष्म के माध्यम से दिनकर कहते हैं कि धरती पर अशान्ति का एक बड़ा कारण विषमता है। जब तक धरती पर मनुष्य-मनुष्य के बीच न्यायोचित समता स्थापित नहीं होगी, जीवन को श्रेयस्कर बनाने वाले संसाधनों पर समान अधिकार नहीं होगा, तब तक यहाँ संघर्ष जारी रहेगा और अशान्ति बनी रहेगी।

इन पंक्तियों में दिनकर पर मार्क्स के साम्यवादी चिंतन का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। उन्होंने इन पंक्तियों में मार्क्सवाद के समतामूलक वितरण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

दिनकर के मानवतावाद को ये पंक्तियाँ बहुत अच्छी तरह व्यंजित करती हैं।

भाषिक प्रवाह और काव्य-लय की दृष्टि से ये पंक्तियाँ उत्तम हैं तथा कवि का सजग शब्द-चयन इन्हें विशिष्ट बनाने में सफल हुआ है।

खण्ड-ख

गोदान

प्रश्न: गोदान के मेहता-मालती संवाद से उभरने वाली वैचारिकता की प्रस्तुति कीजिए। (225 शब्द)

उत्तर: मेहता और मालती 'गोदान' की शहरी कथा के प्रमुख चरित्र हैं। मालती आत्मविश्वास से भरी हुई चंचल प्रवृत्ति की युवती है, जबकि मेहता दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर हैं। 'गोदान' में दो ऐसे प्रसंग हैं जहाँ मेहता और मालती के बीच विस्तार में बातचीत हुई है। उनके इन संवादों के माध्यम से प्रेमचंद ने अपनी प्रेम संबंधी वैचारिकता को बहुत ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है।

मेहता प्रेम को भावना नहीं बल्कि वस्तु के रूप में देखते हैं। वह प्रेम को अधिकारमूलक बताते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं 'प्रेम सीधी-सादी गऊ नहीं, खूंखार शेर है।' वह प्रेम को प्राप्त करने के लिए हिंसा के प्रयोग को भी जायज ठहराते हैं।

मालती की प्रेम दृष्टि मेहता के प्रेम संबंधी विचारों के ठीक विपरीत है। वह छायावादी प्रेम की मान्यताओं के अनुरूप प्रेम को 'देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु' मानती है। उसके लिए प्रेम दैहिक जरूरत नहीं बल्कि हृदय की कोमल और पवित्र भावना है। वह मेहता की तरह प्रेम को अधिकार की नहीं बल्कि त्याग, समर्पण और उपासना की वस्तु समझती है, और इसीलिए वह 'देवसेना' और 'सोफिया' की तरह विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा देती है। वह व्यक्तिगत हितों से परे विश्व कल्याण को अपने जीवन का लक्ष्य बनाती है।

स्पष्ट है कि मेहता-मालती संवाद के माध्यम से प्रेमचंद छायावादी प्रेम के प्रति अपनी निष्ठा को स्थापित करते हैं तथा प्रेम के 'प्लेटोनिक' स्वरूप को अपना वैचारिक समर्थन प्रदान करते हैं।

प्रश्न: 'गोदान' अपने समय के ही नहीं, भविष्य के भारत की भी तस्वीर है-इस कथन की परीक्षा कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: गोदान 1936 में लिखा गया हिन्दी का पहला महाकाव्यात्मक उपन्यास है जो अपने समय के सभी पहलुओं को अपने विस्तृत कलेवर में तो समेटता ही है भविष्य की ओर संकेत भी करता है। गोदान जिस समय लिखा गया उस समय भारतीय समाज एक दौरा पर खड़ा था। जहाँ एक ओर सामंतवाद और ग्रामीण अर्थव्यवस्था में टूटन की प्रक्रिया जारी थी तो दूसरी ओर औद्योगीकरण और शहरीकरण पर सवार होकर पूंजीवाद दस्तक दे रहा था। गाँव की पीढ़ी का काम की खोज में शहर जाना और नई पूंजीवादी दुनिया से परिचित होना, प्रेमचंद ने इस ऐतिहासिक संक्रमण का सटीक चित्रण गोदान में किया है और इस रूप में गोदान में उसके समय के भारत के साथ-साथ भविष्य के भारत का चित्र भी देखा जा सकता है।

1936 के भारत की दुविधाएँ गोदान में समग्र रूप से अभिव्यक्त हुई हैं। औद्योगीकरण के कारण गाँव के किसान शहरी मजदूर बनने लगे थे। शोषण यहाँ भी था किंतु वहाँ गाँव की तुलना में सामाजिक और आर्थिक मुक्ति की संभावना ज्यादा थी। यह पीढ़ी गाँव लौटने को तैयार नहीं थी। उपन्यास में इस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व गोबर करता है।

गोदान के जमींदार वर्ग (राय साहब) को भी यह अहसास था कि जल्दी ही आज़ादी मिल जाने पर उनके वर्ग की समाप्ति हो जाने वाली है।

उस दौर में सांस्कृतिक परिवर्तन भी गोदान में स्पष्ट झलकते हैं जिन्हें सामंतवादी संस्कृति से पूंजीवादी संस्कृति के संक्रमण के रूप में देखा जा सकता है। सामन्तवाद जिस मूल्य व्यवस्था को लेकर चलता है उसमें धर्म, बिरादरी, मरजाद, संयुक्त परिवार आदि की केन्द्रीय भूमिका होती है और व्यक्ति को उतना महत्व नहीं मिलता। इसके विपरीत पूंजीवाद अनिवार्यतः व्यक्तिवादी विचारधारा पर टिका होता है तथा व्यक्ति को सामाजिक रुढ़ियों और संस्थाओं से मुक्त करने वाले सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना करता है। गोदान में यह संक्रमण बेहद स्पष्ट है। होरी जहां धर्म, बिरादरी और मरजाद से चिपका हुआ है वहीं गोबर के लिए केवल धन महत्वपूर्ण है।

गोदान की इन युगीन परिस्थितियों में भविष्य के भारत की तस्वीर भी बेहद साफ देखी जा सकती है जो कुछ प्रसंगों में विशेष रूप से मुखर हो उठी है। गोदान में नारी चेतना के बीज स्पष्ट देखे जा सकते हैं जो आज पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं। गोदान में सिलिया के परिवार में उभरती हुई दलित चेतना आज सर्वत्र व्याप्त है। गोदान में दिखने वाला पूंजीवादी व्यक्तिवाद आज बाजारवादी उपभोक्तावाद तक पहुंच चुका है।

गोदान में लोकतंत्र की भावी वास्तविकताओं व पत्रकारिता के पतन का भी स्पष्ट चित्रण है। ओंकारनाथ का चरित्र न केवल उस समय के कुछ पत्रकारों से बल्कि आधुनिक समय के अधिकांश पत्रकारों से भी मेल खाता है। हमारी लोकसभा में अरबपतियों व करोड़पतियों की बढ़ती संख्या में लोकतंत्र के धनतंत्र में बदलने की प्रवृत्ति को देखा जा सकता है जिसका जिक्र मिर्जा खुर्शेद तथा मिस मालती के वाक्यों में मिलता है।

गोदान में भविष्य के भारत की तस्वीर झलकने का एक बहुत बड़ा कारण प्रेमचंद की वह दूरगामी दृष्टि थी जो किसी प्रवृत्ति के मूल उत्स को पकड़कर भविष्य में उसके विकसित रूप तक पहुंच सकती थी। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'गोदान' अपने समय के ही नहीं भविष्य के भारत की भी तस्वीर है।

प्रश्न: 'धनिया प्रेमचंद की सर्जनात्मक आँख है।' इस कथन के परिप्रेक्ष्य में 'धनिया' के चरित्र पर प्रकाश डालिए? (300 शब्द)

उत्तर: गोदान की धनिया एक ऐसी चरित्र है, जिसके माध्यम से प्रेमचंद होरी के जीवन-संघर्ष को रूपायित करते हैं। हम कह सकते हैं कि धनिया मूलतः प्रेमचंद की सर्जनात्मक आँख है जिसके माध्यम से वे होरी को एक करुण अंत की ओर ढकेलने वाली शक्तियों के क्रूर नैरतर्य को देखते हैं। धनिया के विद्रोह की हर कौंध होरी की करुण जिन्दगी के निमित्त कारणों को अनावृत्त कर देती है। इस रूप में धनिया होरी के संघर्ष और उसकी त्रासदी की अंतर्कथा ध्वनित करती है।

धनिया गोदान की सर्वाधिक तेजस्वी चरित्र है। वह अभाव की चेतना और पीड़ा का प्रतिरूप है। किसान की संस्कृति में अभाव की यातना की जितनी तस्वीरें हो सकती थीं, प्रेमचंद ने धनिया के माध्यम से व्यक्त की हैं। धनिया का चरित्र भारतीय किसान की दयनीयता का चित्रण करता है।

धनिया अपनी प्रकृति में विद्रोही चरित्र है। अभाव की चेतना उसमें विद्रोह का भाव उत्पन्न करती है। वह व्यवहारकुशल भी नहीं है। व्यवहारकुशलता का अभाव भी उसे विद्रोही चरित्र बनाता है। धनिया की चारित्रिक प्रकृति का संकेत प्रेमचंद ने उपन्यास के आरंभ में ही दिया है— "धनिया इतनी व्यवहार-कुशल न थी। उसका विचार था कि हमने जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें, उसके तलवे क्यों सहलायें।" व्यवहार कुशल न होना धनिया के व्यक्तित्व की ईमानदारी की मूल नींव है। जो बहुत व्यवहारकुशल है उसकी ईमानदारी भी बेइमानी पर आधारित होती है। व्यवहारकुशलता के अभाव के कारण धनिया विद्रोह करती है, सच बोलती है, व्यवस्था को ठीक से पहचान पाती है।

धनिया का चरित्र कई बिन्दुओं पर परंपरावादी दृष्टिकोण से भी युक्त है। सुहाग, दहेज-प्रथा एवं पारिवारिक संबंधों के ढाँचे के स्तर पर यह परंपरावाद देखा जा सकता है।

परिस्थितियों के तार्किक विश्लेषण की क्षमता, गहन संवेदनशीलता, करुणा, मानवतावादी दृष्टि, माधुर्य आदि भी धनिया के चरित्र की महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

कुल मिलाकर धनिया का चरित्र एक भारतीय किसान स्त्री का प्रतिनिधि चरित्र है।

प्रश्न: 'गोदान' के 'गोबर' की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: 'गोदान' का 'गोबर' सामंती एवं पूंजीवादी व्यवस्था के संक्रमणकाल में शोषण के दुष्चक्र में फँसे भारतीय किसान की नई पीढ़ी का प्रतिनिधि चरित्र है। इस उपन्यास में पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि चरित्र होरी की तुलना में उसके पुत्र गोबर की चारित्रिक विशेषताएँ बिल्कुल विपरीत दिखाई देती हैं। होरी का चरित्र जहाँ सामंती जीवन-मूल्यों से युक्त होकर यथास्थितिवादिता, मर्यादा-भावना, धर्मभीरुता, बिरादरी एवं पंचायत में आस्था, राजभक्ति, संयुक्त परिवार की पक्षधरता आदि विशेषताओं से युक्त दिखाई देता है, वहीं गोबर इन सबके प्रति विद्रोह-भावना से संवलित दिखाई देता है। वह शोषणपरक व्यवस्था को नियति के रूप में स्वीकार नहीं करता, बल्कि एक षडयंत्र मानता है।

गोबर मर्यादा-भावना से युक्त नहीं है। वह मर्यादा-निर्वाह का पूरी ताकत से विरोध करता है। वह होरी की दुर्दशा का मूल कारण इसे ही मानता है। गोबर की दृष्टि में मर्यादा पुरोहितों, जमींदारों, महाजनों का रचा षडयंत्र है। इसलिए गोबर जमीन का मोह छोड़कर शहरी मिल की मजदूरी में मर्यादा का कोई स्खलन नहीं समझता।

गोबर धर्मभीरु भी नहीं है। वह धर्म को शोषण का औजार मानता है। वह न तो पुनर्जन्म में विश्वास रखता है और न कर्मफलवाद को ही स्वीकार करता है। उसके अनुसार ये तो केवल 'मन को समझाने की बातें' हैं। यहाँ जिसके हाथ में लाठी है वह गरीबों को कुचल कर बड़ा आदमी बन जाता है।

गोबर बिरादरी और पंचायत में विश्वास नहीं करता है। उसकी धारणा है- "रुपये हो तो न हुक्का-पानी का काम है, न जात-बिरादरी का। दुनिया पैसे की है, हुक्का-पानी कोई नहीं पूछता।" गोबर में राजभक्ति की भावना भी नहीं है। इसकी जगह उसके मन में जमींदार 'रायसाहब' के प्रति उपेक्षा, घृणा और विद्रोह का भाव है।

गोबर परम्परागत मूल्यों, विश्वासों और रीति रिवाजों का अन्धानुगमन नहीं करता। झुनिया से अंतर्जातीय विवाह करके वह स्वच्छन्द प्रेम में अपनी आस्था ही नहीं प्रकट करता है, अपितु सीधे रूढ़िगत नैतिक मूल्यों पर भी प्रहार करता है। संयुक्त-परिवार में भी गोबर की कोई आस्था नहीं है।

कुल मिलाकर हम देख सकते हैं कि 'गोदान' का 'गोबर' शोषणपरक व्यवस्था की पहचान रखने वाला एक तार्किक एवं विद्रोही चरित्र है और इसलिए अपने पिता की पुरानी पीढ़ी की तुलना में अधिक प्रासंगिक एवं संभावनाशील चरित्र भी है।

प्रश्न: 'गोदान' उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं, जिनका एक-दूसरे के जीवन-क्रम से संपर्क बहुत कम है।' इस मत को प्रेरित करने वाले संभावित कारणों का निदर्शन कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: कई आलोचकों ने गोदान के कथानक में बिखराव की समस्या का जिक्र किया है। उनका मानना है कि गोदान में एक नहीं, दो स्वायत्त कथाएँ हैं- एक ग्रामीण जीवन की, दूसरी शहरी जीवन की। उनके अनुसार, प्रेमचंद इन कथाओं को जोड़ नहीं सके हैं, इसलिए गोदान का कथानक बिखर गया है।

रचना में बिखराव है या नहीं-इसका फैसला इस आधार पर होगा कि गाँव व शहर की कथाओं को जोड़ने के लिए प्रेमचंद ने किस प्रकार के संपर्क सूत्रों का नियोजन किया है। पहले यह देखना होगा कि संपर्क सूत्र कितने हैं, फिर यह कि संपर्क सूत्रों की आवृत्ति कितनी है; और यह भी कि संपर्क सूत्रों का गुणात्मक प्रभाव कैसा है?

गाँव व शहर की कथा को जोड़ने वाले तीन ही संपर्क सूत्र हैं- रायसाहब, गोबर और मेहता-मालती। कुल 86 पात्रों में से केवल तीन ही पात्रों का संपर्क सूत्र बन पाना निश्चित रूप से कम प्रतीत होता है। इसके बाद भी, यदि संपर्कों की आवृत्ति व गुणात्मक प्रभाव बेहतर होता तो कथानक बंध सकता था, पर ऐसा भी नहीं हुआ। जहाँ तक आवृत्ति का प्रश्न है, रायसाहब सिर्फ एक बार गाँव में दिखे हैं- धनुष यज्ञ के प्रसंग में। मेहता व मालती दो बार गाँव आए हैं- पहली बार धनुष-यज्ञ प्रसंग में और दूसरी बार घूमते हुए। गोबर दो बार गाँव से शहर गया और लौटा भी, लेकिन उसका भी आना-जाना इतना ज्यादा नहीं है कि सिर्फ उसके सहारे दोनों कथाएँ जुड़ जाएँ। जहाँ तक संपर्कों की गुणवत्ता का प्रश्न है वह भी कमजोर ही है। मेहता व मालती का गाँव में दोनों बार आना इस प्रकार हुआ है कि दोनों ही प्रसंग कथानक की ज़रूरत से नहीं उपजते

बल्कि थोपे हुए प्रतीत होते हैं। रायसाहब सिर्फ धनुष-यज्ञ के मौके पर गाँव में दिखे हैं पर वहाँ भी उनका ध्यान गाँव पर कम, अपने शहरी मेहमानों पर ज्यादा है। गोबर के माध्यम से ज़रूर कथाएँ कुछ हद तक जुड़ पाई हैं पर उसका प्रभाव भी कथानक को बहुत अधिक संभाल नहीं पाया है। यही वे कारण हैं जिनको लक्षित करते हुए नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा कि-

“गोदान के शहरी व ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं जिनका एक-दूसरे के जीवन-क्रम से बहुत कम संपर्क है।”

प्रश्न: ‘गोदान’ भारतीय किसान के पूरे जीवन-संघर्ष और इसमें उसके पराभव की करुण गाथा है। इस कथन के संदर्भ में ‘गोदान’ का विवेचन कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: भारतीय किसान प्रेमचन्द के संपूर्ण साहित्य का केन्द्र है, जिसकी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी समस्याओं, उसके जीवनानुभवों एवं परिस्थितियों को व्यापक रचनात्मक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का काम प्रेमचन्द ने किया। इसका सबसे सशक्त प्रमाण ‘गोदान’ है।

गोदान का केंद्रीय चरित्र होरी अपने समस्त गुण-दोष, अभाव और शक्ति के साथ भारत का सच्चा किसान है। होरी के जीवन से भारतीय कृषक की परम्पराओं, सांस्कृतिक विरासतों, उसकी रूढ़ियों और रीति-रिवाजों, उसकी कष्ट-कथाओं और अतृप्त अभिलाषाओं, जमींदार, महाजन, पुरोहित, पुलिस आदि वर्गों से उसके अनेक रूप-संबंधों की समष्टिगत व्यापक अभिव्यक्ति हुई है। इस अभिव्यक्ति के माध्यम से गोदान में प्रेमचन्द ने भारतीय किसानों के जीवन-संघर्ष की महाकाव्यात्मक, करुण एवं त्रासद कथा कही है।

भारतीय किसान के प्रतिनिधि चरित्र होरी का समय दम तोड़ती सामंती व्यवस्था और निरन्तर मजबूत होती पूंजीवादी व्यवस्था का संक्रांति काल है। ऐसे में किसान से मजदूर बनने की प्रक्रिया में अपनी किसानी अस्मिता के लिए किए गए संघर्ष और घटित त्रासदी को प्रेमचन्द ने पूरी सहानुभूति और तन्मयता से चित्रित किया है।

होरी सामंती-व्यवस्था का ठेठ भारतीय किसान है- व्यवस्था अनुगामी, मर्यादावादी और धर्मभीरु। जिसकी मान्यता है- “जब दूसरों के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।” भारतीय किसान का यह चरित्र उसके जीवन-संघर्ष को करुण बना देता है। यह कई रूपों में गोदान में दिखाई देता है।

गोदान में किसान के जीवन-संघर्ष का सर्वाधिक महत्वपूर्ण संदर्भ किसानों के आर्थिक शोषण के रूप में दिखाई देता है। यह शोषण पूंजीवादी और सामंती शक्तियों के गठजोड़ से घटित होता है। महाजनों की सूदखोरी, जमींदार के नजराने एवं लगान वसूली, पुरोहित वर्ग के कर्मकाण्ड एवं बिरादरी की क्रूर अमानवीयता इसके विभिन्न रूप हैं। इस आर्थिक शोषण ने किसान को ऋण के एक अन्तहीन आवर्त में कैद कर दिया है।

टूटते सपने और निरन्तर अकेले होते जाने की कारुणिक नियति गोदान में किसान के संघर्ष का महत्वपूर्ण पहलू है। होरी परिवेश की प्रतिकूलता में जिन्दगी के सभी मोर्चे पर संघर्ष करता हुआ दीखता है, लेकिन उसका संघर्ष व्यवस्था की अमानवीयता और क्रूरता के विरुद्ध नहीं, बल्कि उसके निर्वाह और पोषण के लिए है। वह हर समस्या के संदर्भ में अपनी पत्नी और पुत्र से टकराता है और अकेला पड़ता है।

इस प्रकार प्रेमचन्द ने होरी के जीवन-संघर्ष के तमाम पहलुओं पर अपनी नजर रखी है। होरी की मृत्यु भारतीय किसान की मृत्यु है जो पूंजीवादी और सामंती व्यवस्था के दोतरफे हमले में घटित होती है। भारतीय किसान अपने स्वप्नों, आकांक्षाओं के साथ खत्म हो जाता है। समग्रतः गोदान भारतीय किसान के किसान बने रहने के पूरे जीवन-संघर्ष और इसमें उसके पराभव की करुण और त्रासद महाकाव्यात्मक गाथा है।

प्रश्न: ‘गोदान मनुष्यों की नहीं मनुष्य की कथा है।’ इस कथन के औचित्य पर विचार करते हुए ‘होरी’ की चारित्रिक विशेषताओं को रेखांकित कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: सामान्यतः आलोचकों ने होरी-सहित गोदान के सभी चरित्रों को वर्ग-चरित्र माना है लेकिन विजयदेव नारायण साही ने इससे असहमति प्रकट करते हुए अपना मत दिया कि गोदान मनुष्यों की नहीं मनुष्य की कथा है; परिणामतः उसके चरित्र वर्ग-चरित्र नहीं, वैयक्तिक चरित्र हैं; वे सामान्य नहीं, विशिष्ट चरित्र हैं।

लेकिन, गोदान की चरित्र-योजना पर सूक्ष्मता से विचार करते हुए हम पाते हैं कि प्रेमचंद ने मूलतः उसमें वर्ग-चरित्रों की ही सर्जना की है, इसलिए साही जी एवं निर्मल वर्मा जैसे चिंतकों की मान्यता पूर्णतया उचित प्रतीत नहीं होती है। किन्तु, साथ ही यह भी सत्य है कि गोदान के चरित्र वर्गीय एवं विशिष्ट के संश्लेष हैं। 'होरी' का चरित्र इसका प्रमाण है जिसमें सार्वजनिकता के साथ-साथ वैयक्तिकता भी शामिल है।

गोदान का केन्द्रीय चरित्र होरी पारंपरिक नायकों के विपरीत एक साधारण मनुष्य है और भारतीय किसान का प्रतिनिधित्व करने वाला वर्ग-चरित्र है। वह अपने समय की पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधि है, फलस्वरूप सामंती संस्कृति के आधारभूत मूल्य उसके चरित्र में स्थित दिखाई देते हैं।

होरी पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधि-किसान है, जिसमें विद्रोह की शक्ति नहीं है। वह अपने को व्यवस्था के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है और शोषण को अपनी नियति के रूप में स्वीकार कर लेता है। वह मानता है कि 'जब दूसरों के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।'

'मर्यादा' होरी के जीवन की मूल धुरी है। उसके जीवन का संपूर्ण संघर्ष खेती में निहित अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए है। वह अपने शरीर पर सब कुछ झेलता है, किन्तु अपनी आस्था से नहीं डिगता।

होरी एक धर्ममीरु चरित्र है। धर्म के नाम पर वह किसी भी अत्याचार को विवेक को ताक पर रखकर सह लेता है। पुरानी पीढ़ी का होने के कारण होरी बिरादरी तथा पंचायत की भी उपेक्षा नहीं करता। लेखक के शब्दों में- 'बिरादरी उसके जीवन में वृक्ष की भाँति जड़ जमाये हुए थी और उसकी नसें उसके रोम-रोम में बिंधी थी।'

होरी में परम्परागत राजभक्ति की भावना भी भरी हुई है। रायसाहब के प्रति उसके मन में श्रद्धा-भाव है। वह उसके दुर्बल पक्षों को आलोचना की नहीं, सहानुभूति की आँखों से देखता है। भावुकता, मानवीयता, संयुक्त-परिवार में आस्था आदि होरी के चरित्र की अन्य विशेषताएँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि होरी की चारित्रिक विशेषताएँ उसे सामंती-व्यवस्था में स्थित किसान की अंतिम पीढ़ी का प्रतिनिधि चरित्र सिद्ध करती हैं जो मूलतः सामान्य किसान का प्रतिनिधि है, साथ ही उसकी कुछ अपनी विशिष्टताएँ भी हैं जो कि हर व्यक्ति में मौजूद होती हैं।

प्रश्न: प्रेमचंद द्वारा गोदान में शहरी कथा के समावेश के क्या कारण हो सकते हैं? संभावित कारणों में कौन-सा कारण आपको सर्वाधिक प्रबल प्रतीत होता है? (300 शब्द)

उत्तर: गोदान में ग्रामीण कथा के साथ शहरी कथा की उपस्थिति की विषयगत एवं शिल्पगत सार्थकता पर कई आलोचकों ने प्रश्नचिह्न उपस्थित किए हैं। जैनेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, गुलाब राय, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि ने शहरी कथा को उपन्यास के अंतर्गत अनावश्यक विस्तार, मूल अन्तर्वस्तु को धूमिल करने वाला, ग्रामीण कथा से असंबद्ध एवं आरोपित तथा उपन्यास के प्रभाव और कथा संगठन को क्षति पहुँचाने वाला बताया है। इस दृष्टि से उपन्यास का विवेचन करते हुए हम पाते हैं कि शहरी जीवन के चित्रण में प्रेमचंद का मन नहीं रमा है। उसमें घनता का अभाव है, विस्तार भी कम है, नगर-जीवन के तनाव एवं जटिलताएँ अनुपस्थित हैं, गाँव से वह अच्छी तरह संबद्ध नहीं है तथा उससे जुड़े कई ऐसे प्रसंग हैं जिनका कलागत औचित्य संदिग्ध है। किन्तु, इन सबके बावजूद हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रेमचंद जैसे बड़े रचनाकार ने, और वह भी अपनी रचनाशीलता के चरम पर, गोदान में ग्रामीण कथा के साथ शहरी कथा का भी समावेश किया है तो इसके कुछ ठोस कारण रहे होंगे।

गोदान में शहरी कथा के समावेश का एक कारण यह हो सकता है कि प्रेमचंद गोदान में गाँव और शहर को एक साथ रखकर भारतीय समाज का उसकी संपूर्णता में उद्घाटन करना चाहते हों। प्रेमचंद का लक्ष्य इसके माध्यम से बिखरते हुए गाँव और सँवरते हुए शहर के संक्रातिकाल की अभिव्यक्ति करना भी हो सकता है, जिसमें सामंतवाद खत्म हो रहा है और पूंजीवाद अपनी जड़ें जमा रहा है।

गाँव और शहर दोनों को साथ रखने के पीछे प्रेमचंद का उद्देश्य महाजनी सभ्यता के व्यापक प्रभाव का अंकन करना भी हो सकता है, क्योंकि गाँव और शहर दोनों ही इसकी गिरफ्त में हैं।

एक कारण यह हो सकता है कि इसके माध्यम से प्रेमचंद ग्राम-व्यवस्था के स्तंभों को गिरते हुए दिखाना चाहते हों ग्राम व्यवस्था के दो स्तंभों में से एक किसान गाँव में रहता है और दूसरा जमींदार शहर में रहता है।

यह भी हो सकता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में टूटते किसान और मजदूर बनती उसकी नयी पीढ़ी के शहरी पलायन तथा उसकी स्लमी जिन्दगी को दिखाने के लिए प्रेमचंद ने शहरी कथा का समावेश किया हो।

इनके अतिरिक्त शहरी कथा के आलोक में ग्रामीण जीवन की विषमता को तीव्रता में उभारना या फिर शहरी पात्रों के माध्यम से अपने विचारों की प्रस्तुति भी शहरी कथा के समावेश का कारण हो सकता है।

समग्रतः उपर्युक्त सभी कारण गोदान में शहरी कथा के समावेश के प्रेरक हो सकते हैं लेकिन इनमें से सबसे प्रबल कारण भारतीय समाज का समग्र चित्र प्रस्तुत करना प्रतीत होता है, विशेषकर भारतीय किसानों की जीवन का। इसके भीतर कई अन्य कारण स्वतः समाहित हो जाते हैं।

प्रश्न: 'गोदान' उपन्यास के 'होरी' और 'गोबर' की तुलना करते हुए बताइए कि आपके मत में इनमें से कौन संभावनाशील चरित्र है? (300 शब्द)

उत्तर: गोदान में 'होरी' और उसका पुत्र 'गोबर' दो पीढ़ियों के प्रतिनिधि चरित्र हैं। दोनों के विचारों, संस्कारों, जीवन-दृष्टि एवं जीवन-मूल्यों, मान्यताओं और विश्वासों के अंतर को देखने पर पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधि-होरी और नयी पीढ़ी का प्रतिनिधि-गोबर, दो छोरों पर अवस्थित दिखायी देते हैं। गोबर का व्यक्तित्व होरी के विरोध में है। सामंती संस्कृति के जिन आधारभूत मूल्यों को होरी अपनाता है, उन सभी मूल्यों के प्रति गोबर न केवल असंतोष व्यक्त करता है, वरन् उनके प्रति सक्रिय विरोध भी प्रकट करता है।

होरी स्वयं को व्यवस्था के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है और शोषण को अपनी नियति के रूप में स्वीकार कर लेता है- 'भगवान ने जब गुलाम बना दिया है तो अपना क्या बस है?' पर नयी पीढ़ी का प्रतिनिधि गोबर विद्रोह-भाव से भरा हुआ है। वह व्यवस्था को नियति के रूप में स्वीकार नहीं करता, बल्कि एक षडयंत्र मानता है।

मर्यादा होरी के जीवन की मूल धुरी है। वह अपनी जमीन और अपने घर की प्रतिष्ठा के लिए अपने को होम कर देता है। गोबर इस मर्यादा-निर्वाह का पूरी ताकत से विरोध करता है। वह होरी की दुर्दशा का मूल कारण इसे ही मानता है। वह जमीन का मोह छोड़कर शहरी मिल की मजदूरी में मर्यादा का कोई स्थलन नहीं समझता।

धर्म होरी के लिए आत्यंतिक है। धर्म के नाम पर वह कोई भी अत्याचार विवेक को ताक पर रखकर सह लेता है। वह अपनी दुर्दशा का कारण भी व्यवस्था को न मानकर पिछले जन्म के कर्म को मानता है। दूसरी ओर, गोबर न तो पुनर्जन्म में विश्वास रखता है और न कर्मफलवाद को ही स्वीकार करता है। उसके अनुसार ये तो केवल 'मन को समझाने की बातें हैं।' यहाँ जिसके हाथ में लाठी है वह गरीबों को कुचल कर बड़ा आदमी बन जाता है। गोबर धर्म को शोषण का औजार मानता है।

पुरानी पीढ़ी का होने के कारण होरी बिरादरी तथा पंचायत की उपेक्षा नहीं करता। पर गोबर बिरादरी और पंचायत में विश्वास नहीं करता। उसकी धारणा है- 'रुपये हो तो न हुक्का-पानी का काम है, न जात-बिरादरी का।' होरी में परंपरागत राजभक्ति की भावना भी भरी हुई है। रायसाहब के प्रति उसके मन में श्रद्धा भाव है। गोबर के मन में रायसाहब के प्रति उपेक्षा, घृणा और विद्रोह का भाव है।

गोबर होरी की तरह परंपरागत मूल्यों, विश्वासों और रीति-रिवाजों का अंधानुगमन नहीं करता। झुनिया से अंतर्जातीय विवाह करके वह स्वच्छंद प्रेम में अपनी आस्था ही नहीं प्रकट करता है, अपितु सीधे रुढ़िगत नैतिक मूल्यों पर भी प्रहार करता है।

इस प्रकार होरी और गोबर की तुलना करने पर हम पाते हैं कि गोबर का चरित्र अधिक प्रासंगिक तथा भविष्यानुकूल है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि होरी और गोबर में गोबर अधिक संभावनाशील चरित्र है।

प्रश्न: 'गोदान' नामकरण की सार्थकता पर विचार कीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: किसी भी रचना का नामकरण सार्थक तब माना जाता है जब वह रचना के मूल प्रतिपाद्य को पाठक के मन में अंकित कर सके। रचना पढ़ने से पहले यदि नाम जिज्ञासा पैदा करे, रचना पढ़ते समय कथानक के तंतुओं में अपनी उपस्थिति दर्ज कराता रहे और कथा के अंत में पाठक के मन पर पड़ने वाला प्रभाव उस नाम को ही उभारता हो तो नामकरण सफल माना जा सकता है।

गोदान शीर्षक की सार्थकता के कई कारण हैं। सर्वप्रथम, पूरी रचना गाय पर केंद्रित है। गाय वह प्रतीक है जिसके माध्यम से एक साधारण किसान के जीवन की आर्थिक-सामाजिक त्रासदी को व्यक्त किया गया है। कथानक का आरंभ एवं अंत इस बात का संकेत करता है। आरंभ में प्रेमचंद कहते हैं- "हर सरल गृहस्थ की भाँति होरी के मन में भी गऊ की लालसा चिरकाल से संचित चली आ रही थी।"

कथानक की शुरुआत एवं अंत ही नहीं, बल्कि उपन्यास की संपूर्ण संरचना किसी न किसी रूप में गाय से ही जुड़ी है। गोदान कृषक जीवन की गाथा है जहाँ आर्थिक एवं सामाजिक संदर्भ अलग-अलग नहीं होते, बल्कि आपस में जुड़े होते हैं। गाय इन आर्थिक-सामाजिक स्थितियों व आकांक्षाओं का प्रतीक बन गयी है। गाय के प्रति होरी के मन में दो भाव हैं- आर्थिक व सामाजिक-

1. आर्थिक इच्छा: "कुछ नहीं तो चार पाँच सेर दूध होगा बछवे भी अच्छे बैल निकलेंगे। 200 से कम की गोई न होगी।"

2. सामाजिक इच्छा: "गऊ से ही तो द्वार की शोभा है। सबरे गऊ के दर्शन हो जायें तो क्या कहने।"

गाय की यह इच्छा मात्र होरी की नहीं है बल्कि हर कृषक की है और गाय न खरीद पाने की मजबूरी भी केवल उसकी नहीं है, हर किसान की है। जमींदार एवं साहूकार वर्ग ने धर्म, मरजाद और बिरादरी के माध्यम से एक ऐसी व्यवस्था बुनी है जिसमें किसान सिर्फ ज़िंदा रह सकता है, आकांक्षाएँ पूरी नहीं कर सकता। इस आर्थिक अभाव एवं गाय की आकांक्षा के अंतर्विरोध के कारण गोदान की त्रासदी निर्मित होती है।

होरी आर्थिक अभाव के बावजूद गाय की व्यवस्था करता है। इसी गाय की ईर्ष्या के कारण हीरा उसे जहर देता है और होरी का जीवन संकटग्रस्त होने लगता है। गाय को लाने की प्रक्रिया में ही गोबर झुनिया से मिलता है, झुनिया घर छोड़ कर आती है और पंचायत में जुर्माना होता है। इसी का अगला चरण यह भी है कि गोबर नज़र न मिला पाने के कारण शहर भागता है और धीरे-धीरे शहर का ही हो जाता है। कुल मिलकर होरी की त्रासदी के सारे सूत्र कहीं तार्किक रूप में, तो कहीं संयोग से गाय की महत्वाकांक्षा से ही जुड़ते हैं।

स्पष्ट है कि संपूर्ण कथानक गाय की आकांक्षा पर केंद्रित है किंतु गाय पर केंद्रित होना 'गोदान' की धारणा का पर्यायवाची नहीं है। प्रेमचंद ने इसे 'गोदान' ही क्यों कहा- इसका उत्तर उपन्यास की परिणति में खोजा जा सकता है। यहाँ प्रतीकात्मक स्तर पर 'गोदान' की धारणा संपूर्ण मरजाद, बिरादरी और परंपरा को व्यक्त करती है और धनिया के माध्यम से प्रेमचंद ने इसी पर चोट करवायी है। इस दृष्टि से रचना एक त्रासद अंत के बावजूद एक सुंदर संभावना छोड़कर खत्म होती है कि बेहद गरीब व्यक्ति दमनमूलक धार्मिक परंपराओं का विरोध किस प्रकार कर सकता है-

हीरा ने रोते हुए कहा- "भाभी, दिल कड़ा करो, गो-दान करा दो, दादा चले।"

और कई आवाज़ें आई- गो-दान करा दो, अब यही समय है।' धनिया यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठंडे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली- महाराज, घर में गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गो-दान है।"

इस प्रकार गोदान का कथानक गाय की आकांक्षा से शुरू हो कर 'गो-दान' की विडंबनापूर्ण मांग पर समाप्त होता है। रचना के अंत में गो-दान की परंपरा होरी की त्रासदी को और गहरा बनाती है। इस दृष्टि से यह नामकरण सचमुच पूरी रचना के घनीभूत प्रभाव को धारण करने में सक्षम है। अतः यही इस उपन्यास का सर्वाधिक उपयुक्त नाम है।

प्रश्न: 'गोदान पर छायावादयुगीन नारीत्व परिकल्पना, प्रेमदर्शन एवं रोमांटिक दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रभाव है।' इस कथन की समीक्षा कीजिये। (300 शब्द)

उत्तर: प्रेमचंद का उपन्यास गोदान एक यथार्थवादी उपन्यास है किंतु कई बिन्दुओं पर उस पर तदयुगीन छायावादी चेतना का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है।

छायावाद भावनाओं की केन्द्रीयता का युग है और इसकी यही मूल सोच नारी तथा प्रेम जैसे विषयों में परिलक्षित होती है। छायावाद की आदर्श नारी वह है जो बेहद पवित्र, अहंकार-शून्य, अधिकार-शून्य, ममता और दया से भरी है।

नारीत्व की यही परिकल्पना गोदान के मि. मेहता के कथनों में और श्रीमती गोविन्दी के जीवन में दिखाई पड़ती है। मि. मेहता कहते हैं- "मेरे जेहन में औरत वफा और त्याग की मूर्ति है जो अपनी बेजबानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिल्कुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है।" गोविन्दी भी अपने जीवन में इन्हीं मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

गोदान में छायावाद का प्रेम संबंधी दृष्टिकोण भी दिखता है जो अपनी मूल प्रकृति में अत्यंत रोमांटिक है। यह प्रेम जीवन की दैहिक जरूरतों से असंबद्ध है, कल्पनाओं की दुनिया को समर्पित है। ये कवि उस 'प्लेटोनिक प्रेम' की खोज में रत हैं जो आत्माओं के मध्य होता है, जिसमें शरीर का पक्ष पूर्णतः अनुपस्थित होता है, भोग चेतना या यौन चेतना अत्यंत अपवित्र या निकृष्ट मानी जाती है, जिसमें प्रेयसी प्रेयसी न होकर श्रद्धेय हो जाती है। स्वाभाविक है कि इस श्रद्धामूलक प्रेम में विवाह की इच्छा नहीं होती बल्कि नायक एवं नायिका एक आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि रखते हुए मानवता की सेवा को ही जीवन का सारतत्व समझते हैं।

यही दृष्टिकोण गोदान में मालती के माध्यम से दिखाया गया है। मि. मेहता ऐसी नारी की खोज में हैं जो स्वार्थी न होकर विश्व कल्याण की चेतना में युक्त हो। आरंभ की मालती ऐसी नहीं है किन्तु व्यक्तित्व परिवर्तन के बाद वह अत्यंत आध्यात्मिक और मानवतावादी हो उठती है, विश्व कल्याण में ही सुख महसूस करती है और अपनी गृहस्थी बसाने जैसा भाव उसके मन से लुप्त हो जाता है। प्रेमचंद लिखते हैं "मालती नारीत्व के उस ऊँचे आदर्श पर पहुँच गई थी जहाँ वह प्रकाश के एक नक्षत्र सी नजर आती थी। अब वह प्रेम की वस्तु नहीं, श्रद्धा की वस्तु थी।"

स्पष्ट है कि प्रेमचंद ने छायावाद के नारी और प्रेम संबंधी रोमांटिक दृष्टिकोण का पर्याप्त उपयोग किया है। किंतु, इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है कि प्रेमचंद का अपना दृष्टिकोण यही था। यह दृष्टिकोण शहर के चुनिंदा चरित्रों में ही व्यक्त हुआ है। गाँव के अधिकांश चरित्र प्रेम की उस परिभाषा को प्रस्तावित करते हैं जो गार्हस्थिक-चेतना से निर्मित होती है। धनिया, सोना, रूपा, झुनिया, सिलिया-ये सभी नारियाँ पारिवारिक जीवन और गार्हस्थिक प्रेम की हिमायती हैं। अतः छायावाद की रोमांटिक दृष्टि गोदान का एक पक्ष मात्र है, एकमात्र पक्ष या केंद्रीय भाव नहीं है।

प्रश्न: क्या आप इस मत से सहमत हैं कि गोदान महाकाव्यात्मक उपन्यास है? तर्कपुष्ट उत्तर दीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: गोदान हिन्दी का पहला महाकाव्यात्मक उपन्यास माना जाता है। महाकाव्यात्मक उपन्यास का पहला लक्षण है कि वह किसी सीमित स्थान से न बंधा हो अर्थात् अपने पूरे समाज को धारण करने में सक्षम हो। प्रेमचंद की कोशिश है कि गोदान किसी गाँव विशेष से न बंध जाए। वे लिखते हैं- "सेमरी और बेलारी दोनों अवध प्रांत के गाँव हैं। जिले का नाम बताने की जरूरत नहीं।" प्रेमचंद का स्पष्ट संकेत है कि भारत का हर गाँव सेमरी या बेलारी है और उस गाँव में रहने वाला हर साधारण किसान होरी है। इस अर्थ में गोदान पूरे राष्ट्रीय जीवन को धारण करने वाला उपन्यास बन जाता है।

गोदान की महाकाव्यात्मकता का एक प्रमाण यह भी है कि इसमें तत्कालीन भारत की लगभग सभी स्थितियों और समस्याओं का जीवंत चित्रण हुआ है। प्रेमचंद ने सामाजिक जीवन में धर्म, बिरादरी, मरजाद जैसी समस्याओं के साथ-साथ नारी आंदोलन (सरोज इत्यादि), दलित आंदोलन (सिलिया का परिवार), दहेज समस्या (सोना और रूपा), अनमेल विवाह की समस्या (नोहरी, रूपा), वेश्यावृत्ति (मेहता-खुर्शेद का संवाद) तथा सांप्रदायिकता (झुनिया के पति की मौत) आदि समस्याएँ दिखाई हैं। उन्होंने आर्थिक समस्याओं के अंतर्गत गरीबी और ऋण (होरी व अन्य किसान) जैसी समस्याओं के

अतिरिक्त लगान की अधिकता, बेरोजगारी (शहरी मजदूर) तथा कार्य-स्थल पर होने वाले अलगाव व शोषण का विस्तृत चित्रण किया है। उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक स्थितियों का भी प्रस्तुतीकरण किया है, जैसे- थानेदार और पंचायत द्वारा किसानों का शोषण, जमींदार (राय साहब) द्वारा शोषण, लोकतंत्र का अमीर वर्ग तक सीमित होना इत्यादि। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गोदान में अपने समय की सभी सामाजिक-राजनीतिक स्थितियाँ सघन रूप में चित्रित हैं।

गोदान की महाकाव्यात्मकता का एक अन्य प्रमाण यह है कि यह तत्कालीन समाज के सभी वर्गों के चरित्रों का एलबम है। ग्रामीण और शहरी जीवन के लगभग सभी वर्गों के प्रतिनिधि चरित्र इसमें मौजूद हैं।

गोदान शिल्प और प्रभाव की दृष्टि से भी महाकाव्यात्मक उपन्यास की संज्ञा का अधिकारी है। गाँव और शहर की समानांतर कथाएँ रखकर प्रेमचंद ने ग्रामीण जीवन के साथ शहरी जीवन को भी समेट लिया है। चरित्र योजना में उन्होंने ऐसी स्वाभाविकता रखी है कि चरित्र कठपुतलियाँ नहीं बने हैं, बल्कि यथार्थपरक होने के कारण सामाजिक जीवन के यथार्थ को सचमुच प्रतिबिंबित करते हैं।

गोदान का प्रभाव उत्कर्षमूलक है, जो महाकाव्यात्मक रचना की एक बड़ी विशेषता मानी गई है। गोदान को पढ़ने से पहले का पाठक उसे पढ़ने के बाद ठीक वही नहीं रहता वह अपनी चेतना में गुणात्मक अंतर महसूस करता है, होरी और होरी जैसे किसानों के प्रति संवेदना से भर उठता है।

स्पष्ट है कि गोदान महाकाव्यत्व के सभी तत्वों को धारण करता है। यही कारण है कि इसे हिन्दी का पहला महाकाव्यात्मक उपन्यास होने का गौरव हासिल है।

प्रश्न: कुछ आलोचकों की राय है कि गोदान में व्यक्त होने वाला यथार्थवाद मार्क्सवाद से प्रेरित समाजवादी यथार्थवाद है। आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं? युक्तियुक्त विवेचन कीजिये। (300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी के कुछ आलोचकों का मत है कि गोदान में व्यक्त होने वाला यथार्थ मार्क्सवादी यथार्थ है। वस्तुतः गोदान में कई जगह ऐसे प्रसंग नजर भी आते हैं जहाँ मार्क्सवाद परिलक्षित होता है।

मार्क्सवादियों की प्रबल मान्यता समाज के आर्थिक ढांचे पर केंद्रित होती है जिसमें वह समानता के आदर्श की स्थापना पर बल देते हैं; गोदान की मुख्य समस्या भी आर्थिक अभाव तथा उसी से जुड़े अन्य दुष्चक्रों की है।

सामंती संरचना तथा पूंजीवादी सभ्यता में किसान एवं मजदूर का शोषण भी प्रेमचंद होरी तथा गोबर के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

मिर्जा खुशीद द्वारा कहा जाना कि "जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं दरअसल वह पूंजीपतियों के हाथों का उपकरण मात्र है।" भी मार्क्सवाद के उदार लोकतंत्र विरोधी धारणा का प्रमाण है।

कुछ आलोचक तो मेहता और मालती के विवाह न करने के निर्णय को 'लिविंग रिलेसनशिप' कहते हैं जो मार्क्सवादी विचारधारा में विवाह के स्थान पर देखा जाता है।

यह बात सच है कि मार्क्सवाद का प्रभाव 'गोदान' पर है किंतु प्रेमचंद इससे पहले भी किसान और मजदूरों के शोषण को प्रेमाश्रम, रंगभूमि जैसे उपन्यासों में उठाते आए हैं। इसी प्रकार मेहता-मालती का विवाह न करना आध्यात्मिक प्रेम का उदाहरण है जो मार्क्सवाद के विरुद्ध है। गोबर का सूदखोर हो जाना, मजदूरों की हड़ताल का विफल हो जाना इत्यादि प्रसंग ऐसे हैं जहाँ परंपरागत मार्क्सवाद का उल्लंघन हुआ है।

निष्कर्षतः गोदान पर मार्क्सवाद का प्रभाव तो है पर उसे मार्क्सवाद से प्रेरित मानना उचित नहीं है।

दिव्या

प्रश्न: "ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के पीछे यशपाल की विशेष रचना-दृष्टि रही है; 'दिव्या' के आधार पर इस रचना-दृष्टि की आलोचना कीजिए। (225 शब्द)

उत्तर: हर रचनाकार किसी विशिष्ट उद्देश्य से ऐतिहासिक कथावस्तु का चयन करता है। कुछ रचनाकार इतिहास को

उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखते हैं तो, कुछ रोमानी नज़रिये से। किंतु, यशपाल का इतिहास को देखने और समझने का नज़रिया थोड़ा अलग है। वह इतिहास को विश्वास की नहीं विश्लेषण की वस्तु मानते हैं, और यही विश्लेषणपरक दृष्टिकोण 'दिव्या' में शुरू से अंत तक उपस्थित है।

'दिव्या' में इतिहास तथ्यों के स्तर पर नहीं बल्कि वातावरण के तौर पर मौजूद है। उन्होंने ऐतिहासिक आवरण के भीतर नारी की दयनीय स्थिति और राज्य के शोषक स्वरूप जैसी आज की समस्याओं को उठाया है। यशपाल के शब्दों में यह अतीत के मंथन और मनन से भविष्य के संकेत खोजना है।

यशपाल की ऐतिहासिक रचना-दृष्टि का एक महत्वपूर्ण पक्ष है- उनका मानववादी दृष्टिकोण। उनका स्पष्ट रूप से मानना है कि- 'मनुष्य भोक्ता नहीं कर्ता है।' अर्थात् मनुष्य अपनी नियति का गुलाम नहीं बल्कि अपने भाग्य का विधाता है। 'दिव्या' के कई चरित्र (दिव्या, मारिश आदि) इस कथन की पुष्टि करते हैं।

वस्तुतः, यह यशपाल की ऐतिहासिक रचना-दृष्टि का ही परिणाम है जिसने 'दिव्या' को देश काल की सीमाओं से मुक्त कर दिया है।

प्रश्न: 'दिव्या' ऐतिहासिक नहीं, ऐतिहासिक परिवेश की कथा है- विवेचन कीजिए। (225 शब्द)

उत्तर: 'दिव्या' के प्राक्कथन में यशपाल ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि- " 'दिव्या' इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है।" 'दिव्या' के कथानक में बौद्धकालीन परिवेश तो अवश्य है, किंतु लेखक ने इस वातावरण का चयन ऐतिहासिक तथ्यों को स्थापित करने के उद्देश्य से नहीं किया है। दरअसल, दिव्या में ऐतिहासिक ढाँचे में कल्पना के रंग नहीं भरे गए हैं बल्कि काल्पनिक चित्रों को ऐतिहासिक वातावरण के रंगों से भरा गया है।

ऐतिहासिक परिवेश का निर्माण करने के लिए यशपाल ने कुछ ऐतिहासिक चरित्रों और स्थलों को कथावस्तु में स्थान दिया है। पुष्पमित्र, मिलिंद तथा पतंजलि बौद्धकालीन इतिहास सम्मत चरित्र हैं, जबकि सागल व मथुरा वे बौद्धयुगीन नगर हैं जिनका उल्लेख इस उपन्यास में किया गया है। सागल तथा मथुरा की कला के केंद्र के रूप में प्रसिद्धि और दास प्रथा का प्रचलन भी इतिहास सम्मत तथ्य है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक आधारों के बावजूद दिव्या ऐतिहासिक परिवेश की कथा है, न कि ऐतिहासिक कथा; क्योंकि 'दिव्या' के प्रमुख चरित्र (दिव्या, मारिश आदि) काल्पनिक हैं तथा प्रायः सभी घटनाएँ रचनाकार की सृजनशीलता की देन हैं। इसके अतिरिक्त जो चरित्र ऐतिहासिक हैं, वे या तो गौण चरित्र हैं या प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

अतः स्पष्ट है कि दिव्या में इतिहास तथ्यों से ज्यादा वातावरण के रूप में मौजूद है, और बौद्धकालीन शब्दावली के प्रयोग से यह परिवेश और अधिक प्रभावशाली बन गया है।

प्रश्न: 'दिव्या' में यशपाल का वैचारिक हस्तक्षेप उपन्यास के रचना-कौशल का अतिक्रमण करता है- इस मत का विश्लेषण प्रस्तुत कीजिए। (225 शब्द)

उत्तर: यशपाल प्रगतिवादी रचनाकार हैं और मार्क्सवादी मूल्यों में उनकी गहरी निष्ठा है। 'दादा कॉमरेड', 'पाटी कॉमरेड' जैसे उपन्यासों में उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता खुलकर जाहिर की है। 'दिव्या' में मार्क्सवादी मान्यताएँ विद्यमान तो अवश्य हैं, किंतु उनका स्थूल प्रक्षेपण नहीं हुआ है बल्कि वे कथानक में घुली हुई हैं।

आलोचकों का एक वर्ग, यशपाल द्वारा मार्क्सवादी विचारधारा के प्रक्षेपण को औपन्यासिक रचना-कौशल का अतिक्रमण मानता है। इस वर्ग का आरोप है कि मार्क्सवादी मूल्यों की स्थापना के मोह ने कथानक के सहज विकास और चरित्रों के स्वतंत्र व्यक्तित्व को नुकसान पहुँचाया है। कुछ आलोचकों ने तो यहाँ तक कहा है कि 'मारिश' के मुखौटे के पीछे खुद यशपाल हैं।

किंतु, यदि हम सूक्ष्मता से विश्लेषण करें तो उपयुक्त दावे बेबुनियाद नज़र आते हैं। 'दिव्या' में यशपाल ने उन्हीं मार्क्सवादी मूल्यों को प्रक्षेपित किया है जो उपन्यास के रचनाकाल के संगत हैं, जैसे- परलोकवाद का खंडन, वर्णव्यवस्था के विषमतामूलक चरित्र पर चोट आदि। इसके अतिरिक्त कई स्थानों पर मार्क्सवादी मान्यताओं से विचलन भी नज़र आता है, उदाहरणतः धर्मस्थ देवशर्मा का व्यवहार चेतना की वर्गीय व्याख्या के अनुरूप नहीं है।

दरअसल, यह हस्तक्षेप उपन्यास के रचना-कौशल का अतिक्रमण नहीं, बल्कि उपन्यास को सार्वभौमिक व सार्वकालिक बनाने का प्रयास है।

प्रश्न: 'दिव्या' उपन्यास में इतिहास किस रूप में उपस्थित है? विवेचनात्मक उत्तर दीजिए। (225 शब्द)

उत्तर: यशपाल जानते थे कि ऐतिहासिक आधार होने के कारण दिव्या के संबंध में यह प्रश्न जरूर उठेगा कि इसमें इतिहास की प्रामाणिकता का कितना ध्यान रखा गया है? इसीलिए उन्होंने प्राक्कथन में स्पष्ट लिखा- 'दिव्या इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है।'

प्राक्कथन में वर्णित इस कथन से स्पष्ट है कि दिव्या में कल्पना प्राथमिक है व इतिहास गौण। लेखक ने काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण का रंग दिया है, न कि ऐतिहासिक चित्र में कल्पना का रंग।

उपन्यास में केवल तीन ऐतिहासिक चरित्र हैं और वे तीनों ही संकेत के रूप में आए हैं, न कि चरित्र बनकर। उनके नामों के उल्लेख से रचनाकार ने ऐतिहासिक वातावरण पैदा करने में सफलता प्राप्त की है। इसमें प्रमुख रूप से दो नगरों सागल व मथुरा का उल्लेख है। ये दोनों स्थल जिस प्रकार उपन्यास में आए हैं, वैसे ही ऐतिहासिक वर्णनों में उपलब्ध होते हैं।

रचना में ऐतिहासिक वातावरण बनाए रखने के लिए यशपाल ने एक और युक्ति का प्रयोग किया है जो प्रायः ऐतिहासिक कथानक लेकर चलने वाले सभी साहित्यकार करते हैं। यह है- ऐतिहासिक संदर्भ के अनुकूल भाषा का प्रयोग।

अतः हम देखते हैं कि दिव्या उपन्यास में इतिहास का प्रयोग तथ्यों के स्तर पर बहुत कम है। यहाँ इतिहास केवल वातावरण के स्तर पर है। इसके पीछे यशपाल का ऐतिहासिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है। उनकी दृष्टि में इतिहास विश्लेषण की वस्तु है जिस पर यथार्थवादी ढंग से चिंतन होना चाहिए। प्राक्कथन में वे लिखते हैं- 'इतिहास विश्वास की नहीं, विश्लेषण की वस्तु है। इतिहास मनुष्य का अपनी परंपरा में आत्मविश्लेषण है।'

प्रश्न: दिव्या उपन्यास में 'दिव्या' के चरित्र पर प्रकाश डालिए। (300 शब्द)

उत्तर: दिव्या एक ऐतिहासिक उपन्यास है और ऐतिहासिक उपन्यास प्रायः चरित्रों को स्वतंत्र विकास का अवसर प्रदान नहीं करता। किंतु, यशपाल के यहाँ कथावस्तु ऐतिहासिक होने के बावजूद चरित्रों की प्रधानता स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। दिव्या न केवल चरित्र प्रधान उपन्यास है बल्कि नायिका प्रधान भी है।

उपन्यास में किसी चरित्र के बेहतर होने का आधार यह है कि वह स्वतंत्र चरित्र हो, उसके निर्णय रचनाकार द्वारा थोपे हुए नहीं बल्कि परिस्थितियों के अनुसार लिए गए हों; वह केवल अच्छा या बुरा न हो अपितु सहज मानव हो; वह समय व स्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील व गतिशील हो; आंतरिक तथा बाह्य संघर्षों से जूझता हो तथा अपनी नियति को स्वयं तय करने के लिए प्रयत्नशील हो।

दिव्या स्थिर नहीं, गतिशील चरित्र है। आरम्भ की दिव्या और अंत की दिव्या व्यक्तित्व की दृष्टि से भिन्न है। आरंभिक दिव्या उच्च कुल, उच्च वर्ण की एक सुंदर, कोमल, भावुक तरुणी है जिसके लिए जीवन का सारतत्व नृत्य, संगीत व भावनाएँ हैं, जिसे जीवन की वास्तविक कठिनाइयों का ज़रा सा भी अनुमान नहीं है।

यह कोमल भावुक दिव्या अब जीवन की कठोर वास्तविकताओं से परिचित होती है और दासी के रूप में जीवन जीने लगती है। अंशुमाला के रूप में वह मथुरा की अत्यंत प्रसिद्ध नर्तकी बनती है। अन्ततः मल्लिका की विरासत संभालने के लिए वह सागल लौटती है और यहीं एक नाटकीय घटनाक्रम में उसका वह व्यक्तित्व उभरता है जो परतंत्र नहीं, स्वतंत्र है।

इस बिन्दु पर दिव्या का जो नया व्यक्तित्व उभरता है वह उस नारी का है जिसने वास्तविक जीवन को समस्याओं, जैसे नारी-पुरुष विभेद तथा नारी के वस्तुकरण को सिर्फ समझा नहीं बल्कि अपने ऊपर झेला है। दिव्या की सूक्ष्म जीवन दृष्टि देख पाती है कि यह सारा धन और सम्मान तो नारी के स्वत्व की कीमत मात्र है। दिव्या जानती है कि आध्यात्मिकता जीवन से पलायन है। उसका स्पष्ट चिंतन है कि "नारी का धर्म निर्वाण नहीं, सृष्टि है।"

यह दिव्या उस नारी का प्रतीक है जो धन, सत्ता और अध्यात्म की निरर्थकता तथा अपने स्वत्व की कीमत को पहचान चुकी है। दिव्या का अंतिम चयन उसके स्वत्व के अनुकूल है। वह मारिश को चुनती है जिसके पास न राजप्रासाद के सुख हैं, न निर्वाण के सुख का मिथ्या आश्वासन किंतु सहज जीवन के सुख-दुःख को सहजतापूर्वक जीने का विश्वास है। यह निर्णय करते ही दिव्या भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' व जैनेन्द्र की 'मृणाल' से आगे बढ़ जाती है क्योंकि वह अपनी नियति स्वयं निर्धारित करती है। उपन्यास के प्राक्कथन का यह वाक्य मानो दिव्या के चरित्र की व्याख्या करता है- "मनुष्य भोक्ता नहीं, कर्ता है। अपने विश्वास और विधान के सम्मुख ही मनुष्य विवशता अनुभव करता है और स्वयं ही वह उसे बदल भी देता है।"

प्रश्न: क्या 'दिव्या' उपन्यास में यशपाल मार्क्सवादी विचारधारा को प्रक्षेपित करने में सफल हुए हैं?

(300 शब्द)

उत्तर: यशपाल प्रगतिवादी रचनाकार हैं, इसलिए वे घोषित रूप से मार्क्सवादी विचारधारा का समर्थन करते हैं। किन्तु, दिव्या में मार्क्सवाद की स्थूल प्रस्तुति नहीं है। कारण यह है कि उपन्यास का कथानक बौद्धिकाल से संबंधित है जिसमें मार्क्सवाद का प्रक्षेपण स्थूल रूप में नहीं किया जा सकता। इसके बावजूद, मार्क्सवाद के मूल्यों का प्रक्षेपण सूक्ष्म स्तर पर रचना में हुआ है और कई स्तरों पर दिखायी पड़ता है।

मार्क्सवाद भौतिकवादी दर्शन है इसलिए वह शरीर से भिन्न किसी आत्मा, प्रकृति से भिन्न किसी ईश्वर तथा इहलोक से भिन्न किसी परलोक में विश्वास नहीं करता। जब लोकायत दर्शन का प्रतिनिधि चरित्र मारिश अपने भौतिकवादी विश्वास व्यक्त करता है तो स्पष्टतः प्रतीत होता है कि मार्क्सवाद के मूल्य प्रक्षेपित किए जा रहे हैं।

मार्क्सवाद समतामूलक दर्शन है जो हर प्रकार की विषमता का विरोध करता है। इस उपन्यास में दो-तीन प्रकार की विषमताएँ दिखाई गई हैं जिनमें सबसे भयावह स्थिति दासों तथा दासियों की है। मार्क्स की मान्यता है कि आदिम साम्यवाद के तुरंत बाद मनुष्य के इतिहास में सबसे ज्यादा अमानवीय अवस्था आई जिसमें दास प्रथा दिखाई पड़ती है। यह व्यवस्था सर्वाधिक अमानवीय इसलिए थी क्योंकि इसमें शोषित वर्ग अर्थात् दास वर्ग के पास अपने शरीर या संतानों का भी अधिकार नहीं था। यशपाल ने रचना के कई प्रसंगों में दास-दासियों की स्थिति का मर्मभेदी वर्णन किया है।

उपन्यास में जो विषमताएँ दिखाई गई हैं, उनमें से एक वर्णगत या जातीय विषमता भी है। पृथुसेन इस उपन्यास का सर्वाधिक योग्य व सक्षम व्यक्ति है किन्तु उसका अवर्ण होना उसकी सारी योग्यताओं पर भारी पड़ता है।

मार्क्सवाद की धारणा है कि राज्य वर्ग विभेद को संरक्षण प्रदान करने के लिए शोषक वर्ग द्वारा निर्मित उपकरण मात्र है। न्याय की धारणा वस्तुनिष्ठ नहीं होती बल्कि शक्तिशाली वर्ग के दृष्टिकोण से तय होती है। धर्मस्थ देव शर्मा जो कि सागल की न्यायिक प्रणाली के सर्वोच्च स्तम्भ हैं, इसी दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

"इतने समय पर्यन्त न्याय की व्यवस्था देते रहने से मैं यही समझ पाया हूँ कि न्याय व्यवस्थापक के अधीन है।"

मार्क्सवाद विवाह व्यवस्था को भी एक विशिष्ट अर्थ में विषमतामूलक मानता है। मार्क्सवाद की धारणा है कि उच्चवर्ग दमन की चाहे जितनी भी शक्ति अर्जित कर ले, वास्तव में शक्ति का मूल स्रोत साधारण जन ही होता है। ये बातें भी उपन्यास में दिखाई देती हैं।

मार्क्सवाद एक प्रकार का मानववादी दर्शन है और इस उपन्यास में मानववादी दृष्टिकोण शुरु से अंत तक व्यक्त हुआ है। मार्क्स की एक प्रसिद्ध धारणा है- 'प्रेक्सिस' जिसका तात्पर्य है कि मनुष्य स्वयं ही अपनी स्थितियों को बदल सकता है। इस रचना के केन्द्र में यही दृष्टि है। प्राक्कथन में यशपाल लिखते हैं- "अपने विश्वास और विधान के सम्मुख ही मनुष्य विवशता अनुभव करता है और स्वयं ही वह उसे बदल भी देता है।" यह कथन मानो उपन्यास का सार तत्व है। जिस वर्णव्यवस्था, कुलव्यवस्था और विवाह व्यवस्था के सम्मुख दिव्या विवशता अनुभव करती है अंततः उसी को बदल भी देती है।

सम्पूर्ण चर्चा से स्पष्ट है कि 'दिव्या' उपन्यास में यशपाल की रचना दृष्टि मार्क्सवादी मूल्यों से वंचित नहीं है। वस्तुतः कोई भी रचनाकार रचना में अपने वैचारिक व्यक्तित्व का प्रक्षेपण करता ही है। अंतर सिर्फ प्रक्षेपण की शैली व मात्रा का

होता है। यशपाल के कुछ अन्य उपन्यासों जैसे- दादा कॉमरेड, पार्टी कॉमरेड आदि में मार्क्सवादी प्रक्षेपण सीधे तौर पर दिखता है जबकि दिव्या में मूल्यों के सूक्ष्म स्तर पर। यही कारण है कि मार्क्सवादी प्रभावों के बावजूद उपन्यास के आस्वादन की प्रक्रिया सहज बनी रही है, उस पर विचारधारा थोपी हुई प्रतीत नहीं होती।

प्रश्न: 'दिव्या' उपन्यास में अभिव्यक्त नारी-संबंधी चिन्तन पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: दिव्या मूलतः नारी समस्या पर केंद्रित उपन्यास ही है। यशपाल ने इस उपन्यास में नारी की समस्या और इसके समाधान पक्ष पर बहुआयामी चिंतन किया है। उन्होंने कई ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है जो नारी समस्या के संबंध में एक विशेष दृष्टिकोण का निर्वाह करते हैं। इन सभी चरित्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया से समस्या संश्लिष्ट रूप में उभरती है।

एक महत्वपूर्ण चरित्र है प्रेस्थ। प्रेस्थ के माध्यम से यशपाल उस भोगवादी नजरिये को उभारते हैं जो नारी को पुरुष के लिए सिर्फ भोग की वस्तु मानता है। यह दृष्टिकोण सिर्फ प्रेस्थ के माध्यम से ही नहीं दिखाया गया है बल्कि कुछ अन्य चरित्रों जैसे माताल वृक के माध्यम से भी प्रस्तुत हुआ है।

नारी के संबंध में दूसरा दृष्टिकोण बौद्ध धर्म के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। दरअसल, यह दृष्टिकोण सिर्फ बौद्धों का नहीं बल्कि चार्वाकों के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिकों का है। ये सभी दर्शन नारी को त्याज्य मानते रहे हैं। उपन्यास में बौद्ध धर्म को इसलिए दिखाया गया है ताकि यशपाल दिखा सकें कि जो बौद्ध धर्म वर्ण-संबंधी मामलों में अत्यधिक क्रांतिकारी था, नारी के संबंध में वह भी कैसे यथास्थितिवादी मानसिकता का शिकार है।

नारी के संबंध में तीसरा दृष्टिकोण रुद्रधीर के माध्यम से व्यक्त हुआ है जो वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था के अनुरूप है। वर्णाश्रम व्यवस्था न केवल वर्ण विभेद को प्रश्रय देती है अपितु लिंगभेद को भी। नारी की भूमिका सिर्फ वंश बढ़ाने तक ही सीमित हो जाती है।

इन सभी दृष्टिकोणों के विरुद्ध यशपाल ने नारी स्वतंत्रता को दिव्या के माध्यम से प्रस्तावित किया। उनका अपना दृष्टिकोण मुख्यतः मारिश के माध्यम से व्यक्त हुआ है। उसका दृष्टिकोण किसी भी तरह की आध्यात्मिकता से रहित भौतिकवादी दृष्टिकोण है। मारिश की स्पष्ट मान्यता है कि नारी का उद्देश्य निर्वाण न होकर सृष्टि की प्रक्रिया में अपना दायित्व निभाना है जो दायित्व उसे स्वयं प्रकृति ने दिया है।

मारिश का मानना है कि नारी को त्याज्य मानना प्रकृति के नियमों को उपेक्षा करना है। प्रकृति ने सृष्टि की निरंतरता के विचार से नारी को आकर्षण दिया है ताकि पुरुष उसके प्रति आकर्षित होकर सृष्टि की प्रक्रिया में योगदान दे। जब दिव्या स्वतंत्र होने के लिए वेश्या बनने का निर्णय कर लेती है तो मारिश स्पष्टतः बताता है कि वेश्या होना स्वतंत्रता नहीं, बल्कि भयानक परतंत्रता है।

मारिश अकेला व्यक्ति है जो नारी की पराधीनता के मूल कारण की पड़ताल करता है। कई लोग दावा करते हैं कि नारी की पराधीनता नारी व पुरुष के जैविक अंतरों के कारण है, इसलिए प्रकृति ने ही नारी को पराधीन बनाया है। मारिश इस कुतर्क को अच्छी तरह जानता है और दिव्या को समझाता है कि यह प्राकृतिक नहीं, सामाजिक समस्या है-

“नारी प्रकृति के विधान से नहीं, समाज के विधान से भोग्य है। प्रकृति में और समाज में भी स्त्री और पुरुष अन्योन्याश्रय हैं।”

मारिश के माध्यम से यशपाल बताते हैं कि नारी एक सहज व्यक्ति के रूप में अस्तित्व चाहती है जिसके अधिकार और दायित्व अपने पुरुष साथी के समकक्ष हों। वह ऐसा समतामूलक व समरसतामूलक संबंध चाहती है जिसमें पुरुष व नारी एक दूसरे को आश्रय देते हुए मिल-जुलकर जीवन के संघर्षों में सहभागी हों। यही दृष्टिकोण उपन्यास की अंतिम पंक्तियों में व्यक्त हुआ है।

प्रश्न: 'दिव्या' उपन्यास के महत्व पर प्रकाश डालिये।

(300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिवादी उपन्यासकार यशपाल का उपन्यास 'दिव्या' कई कारणों से हिन्दी उपन्यास की विकास यात्रा में महत्व रखता है।

दिव्या के महत्त्व का सर्वप्रमुख कारण इसमें इतिहास का रचनात्मक उपयोग है। इस रचना में इतिहास की जटिलताओं व स्थूलताओं में न उलझते हुए यशपाल ने मात्र परिवेश के स्तर पर इतिहास को ग्रहण किया है और उसके प्रति उपयोगितावादी दृष्टि अपनाते हुए उस समय की कई सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है और उनके माध्यम से अपने समय की समस्याओं को भी अभिव्यंजित किया है। इस रूप में दिव्या इतिहास की नई संभावनाओं का संकेत देता है।

दिव्या में यशपाल अपनी मार्क्सवादी विचारधारा को थोपने से भी बचे हैं। उन्होंने इसमें मार्क्सवादी जीवनमूल्यों का सूक्ष्म प्रक्षेपण किया है। इस कारण विचारधारा के कारण औपन्यासिक शिल्प अतिक्रमित नहीं हुआ है।

दिव्या का सर्वाधिक महत्त्व उसकी स्त्री-दृष्टि के कारण है। यशपाल के पहले भी प्रेमचंद और जैनेन्द्र अपने उपन्यास में नारी-प्रश्न उठा चुके थे। लेकिन नारी को ठोस सामाजिक संदर्भों में प्रस्तुत करने का काम यशपाल ने दिव्या के माध्यम से किया। मधुरेश के शब्दों में- “दिव्या में स्त्री न ही लेखक के नियतिवादी जीवन दर्शन के आगे लाचार है और न ही गांधी-दर्शन के नाम पर उन नैतिक आग्रहों के जो उसकी सारी प्रतिरोध क्षमता को बाधित करते हैं।” दिव्या में पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के स्त्री-विरोधी दृष्टि के रेखांकन के साथ-साथ उसके प्रति विरोध और परिवर्तन का स्वर भी मौजूद है।

प्रश्न: ‘दिव्या’ उपन्यास में मारिश के नारी-संबंधी दृष्टिकोण को प्रकट कीजिये। क्या यह दृष्टि उपन्यासकार यशपाल की नारी-दृष्टिकोण का भी प्रतिनिधित्व करती है? तार्किक उत्तर दीजिये। (300 शब्द)

उत्तर: दिव्या मूलतः नारी समस्या पर केन्द्रित उपन्यास ही है। यशपाल ने इस उपन्यास में नारी की समस्या और इसके समाधान पक्ष पर बहुआयामी चिंतन किया है। उन्होंने कई ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है जो नारी समस्या के संबंध में एक विशेष दृष्टिकोण का निर्वाह करते हैं। इन सभी चरित्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया से समस्या संश्लिष्ट रूप में उभरती है। इन चरित्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र मारिश है।

मारिश चार्वाक दर्शन का समर्थक है, इसलिये उसका दृष्टिकोण किसी भी तरह की आध्यात्मिकता से रहित भौतिकवादी दृष्टिकोण है। वह पारंपरिक मान्यताओं पर चोट करते हुए कई सूक्ष्म बातें कहता है। मारिश की स्पष्ट मान्यता है कि निर्वाण जैसे काल्पनिक सुख मनुष्य को सिर्फ झूठा देते हैं। नारी का उद्देश्य निर्वाण न होकर सृष्टि की प्रक्रिया में अपना दायित्व निभाना है जो दायित्व उसे स्वयं प्रकृति ने दिया है। वह अंशुमाला को समझाते हुए कहता है- “भद्रे, नारी सृष्टि का साधन है। सृष्टि की आदि शक्ति का क्षेत्र वह समाज व कुल का केन्द्र है।”

मारिश का मानना है कि नारी को त्याज्य मानना प्रकृति के नियमों को उपेक्षा करना है। प्रकृति ने सृष्टि की निरंतरता के विचार से नारी को आकर्षण दिया है ताकि पुरुष उसके प्रति आकर्षित होकर सृष्टि की प्रक्रिया में योगदान दे। वह दिव्या की नृत्य-कला की प्रशंसा इन शब्दों में करता है- “भद्रे, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखार मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।” जब दिव्या स्वतंत्र होने के लिये वेश्या बनने का निर्णय कर लेती है तो मारिश स्पष्टतः बताता है कि वेश्या होना स्वतंत्रता नहीं बल्कि भयानक परतंत्रता है।

मारिश अकेला व्यक्ति है जो नारी की पराधीनता के मूल कारण की पड़ताल करता है। कई लोग दावा करते हैं कि नारी की पराधीनता नारी व पुरुष के जैविक अंतरों के कारण है, इसलिये प्रकृति ने ही नारी को पराधीन बनाया है। मारिश इस कुतर्क को अच्छी तरह जानता है और दिव्या को समझाता है कि यह प्राकृतिक नहीं, सामाजिक समस्या है-

“नारी प्रकृति के विधान से नहीं, समाज के विधान से भोग्य है। प्रकृति में और समाज में भी स्त्री और पुरुष अन्योन्याश्रय हैं।”

वस्तुतः दिव्या में मारिश की नारी-दृष्टि यशपाल की नारी-दृष्टि का ही प्रक्षेपण है। मारिश के माध्यम से यशपाल बताते हैं कि नारी और पुरुष का संबंध वस्तुतः कैसा होना चाहिए। नारी को न तो निर्वाण जैसे मिथ्या सुख चाहिए और न ही उसे कुलवधू जैसे दिखावटी सम्मान चाहिए। वह सीरो की तरह अधिकाधिक पुरुषों का भोग भी नहीं चाहती और न ही माताल वृक्क जैसी निगाह रखने वाले व्यक्तियों के हाथों भोग्या होना चाहती है। वह एक सहज व्यक्ति के रूप में अस्तित्व चाहती है जिसके अधिकार और दायित्व अपने पुरुष साथी के समकक्ष हों। वह पुरुष को अपना आश्रय मानकर बोझ नहीं बनना चाहती न ही उसे साध्य मानकर अपना व्यक्तित्व खोना चाहती है। वह ऐसा समतामूलक व समरसतामूलक संबंध चाहती है जिसमें पुरुष व नारी एक दूसरे को आश्रय देते हुए मिल-जुलकर जीवन के संघर्षों में सहभागी हों। यही दृष्टिकोण उपन्यास की अंतिम पंक्तियों में व्यक्त हुआ है।

मैला आँचल

प्रश्न: 'रेणु का कथा शिल्प कहा आंचलिक जाता है जो एक माने में ठीक है, पर उपन्यास की दृष्टि में सम्पूर्ण जातीय जीवन एक साथ समोया हुआ है।' यदि ऐसा है तो क्या हम मान सकते हैं कि 'गोदान' के बाद की कथा 'मैला आँचल' कहता है? (300 शब्द)

उत्तर: हिन्दी में 'मैला आँचल' की व्यापक स्वीकृति एक आंचलिक उपन्यास के रूप में है। लेकिन कुछ आलोचकों का मानना है कि यह उपन्यास आंचलिक होते हुए भी आंचलिकता की सीमाओं का अतिक्रमण करता है और राष्ट्रीय जीवन को अपने भीतर समाहित करता है। ऐसे आलोचकों में रामस्वरूप चतुर्वेदी भी शामिल हैं जो मानते हैं कि 'रेणु का कथा शिल्प आंचलिक कहा जाता है जो एक माने में ठीक है, पर उपन्यास की दृष्टि में सम्पूर्ण जातीय जीवन एक साथ समोया हुआ है।'

आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी की इस मान्यता के संबंध में प्रश्न यह उठता है कि आंचलिक चित्रण से समूच जातीय जीवन का अंकन कैसे होता है? 'अंचल' से ध्वनि निकलती है कि उसके निवासी रहन-सहन, रूढ़ि-संस्कारों में एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। तब यह स्पष्ट है कि एक अंचल के सदस्यों में एक-दूसरे से सादृश्य जितना अधिक होगा, उतना ही एक अंचल दूसरे अंचल से भिन्न होगा। इस हिसाब से एक अंचल का चित्रण दूसरे अन्य अंचलों के चित्रण से भिन्न होगा, और यों 'मैला आँचल' को सिर्फ मेरीगंज या कि पूर्णिया अंचल की कथा होकर रह जाना चाहिए था। पर 'मैला आँचल' सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र के जातीय जीवन का अंकन करता है। इसमें अंचल के व्यौरों का चित्रण जितना विस्तृत है वहाँ के जीवन का संवेदनात्मक अंकन उतना ही सूक्ष्म है। मेरीगंज और वहाँ के चरित्रों में भारत का कोई भी गाँव या व्यक्तित्व झलकता हुआ दिखाई दे सकता है।

एक अर्थ में यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'गोदान' के बाद की कथा काल-क्रम और रचना-विधान दोनों दृष्टियों से 'मैला आँचल' कहता है। 'गोदान' प्रेमचन्द की अंतिम कृति है, 'मैला आँचल' रेणु की पहली। दोनों उपन्यास अपने-अपने कथा-स्तरों पर समूचे जातीय जीवन को एकबारगी चित्रित करते हैं। सुन्दर और भदेस जो हमारे ग्रामीण जीवन के एक-दूसरे से जुड़े अनिवार्य पक्ष हैं, रेणु के कथा-साहित्य में बराबर उभरते हैं। 'मैला आँचल' का शीर्षक भी यही व्यंजना देता है। और यह मैला आँचल तो सचमुच धरती का है।

वस्तुतः जैसे 'गोदान' जातीय जीवन का उपन्यास है, वैसे ही 'मैला आँचल' भी है। 'गोदान' प्रतिनिधिक ढंग से ग्रामीण जीवन का चित्रण करता है और 'मैला आँचल' आंचलिक ढंग से। 'गोदान' जहाँ 1936 तक के भारत की कथा कहता है, वहीं 'मैला आँचल' उसके बाद से लेकर अपने रचनावर्ष तक की कथा कहता है।

प्रश्न: आंचलिक उपन्यास परंपरा में 'मैला आँचल' की सर्वश्रेष्ठता के कारणों का विवेचन कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: मैला आँचल निर्विवाद रूप से हिन्दी की आंचलिक उपन्यास परंपरा की शिखर-रचना है। मौलिकता, सृजनशीलता व प्रयोगशीलता का ऐसा रचनात्मक विस्फोट साहित्य जगत में यदा-कदा ही देखने को मिलता है।

मैला आँचल की सर्वश्रेष्ठता का मूल आधार इसकी भाषा-शैली में है। जितनी प्रयोगशीलता रेणु ने दिखाई है, उतनी किसी ने नहीं। विशेषतः लोकगीतों व लोक-संगीत का प्रयोग, संस्कृत व अंग्रेजी शब्दों का लोक-प्रचलित विकृत रूप प्रस्तुत करने की कला तथा सुरंगा-सदाब्रिज जैसी प्रसिद्ध लोक-कथा के समानांतर फुलिया-खलासी की कथा को खड़ा करने का साहस- ये कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो अतुलनीय हैं।

यूँ तो हर आंचलिक उपन्यास की कोशिश होती है कि अंचल का महत्त्व कथानक में सर्वोच्च हो, किंतु अंचल के नायक हो जाने की आदर्श स्थिति जिस तरह मैला आँचल में उपलब्ध हो सकी है, वैसी और कहीं नहीं। यदि रामदरश मिश्र, शैलेश मटियानी व शिवप्रसाद सिंह के आंचलिक उपन्यासों को देखें तो मैला आँचल की यह विशेषता स्वतः प्रकट होती है। और तो और, स्वयं रेणु द्वारा रचित 'परती परिकथा' में भी अंचल का नायकत्व इतनी सहजता से नहीं उभरता।

आंचलिक उपन्यासकार की जिम्मेदारी होती है कि वह यथार्थ को बिना किसी वैचारिक पूर्वाग्रह के यथारूप पेश करे। रेणु जैसे समाजवादी लेखक के लिए तटस्थ होना आसान नहीं था। किन्तु रेणु ने उपन्यास की भूमिका में जो प्रतिज्ञा की है- "इसमें फूल भी हैं, शूल भी... सुंदरता भी है, कुरूपता भी"- उसे पूरी तरह निभाया है।

अंचल के सांस्कृतिक पक्षों का चित्रण जिस खूबसूरती के साथ रेणु कर सके हैं, वैसा कोई और नहीं।

मैला आंचल में एक और खास बात है जो इसे परंपरा में सबसे बेहतर बनाती है। इसमें आंचलिकता व राष्ट्रीयता जैसे विरोधी प्रतीत होने वाले तत्वों में जैसा महीन संतुलन साधा गया है, वह भी लाजवाब है। जहाँ गोदान जैसे राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास आंचलिक नहीं हो पाते तथा अधिकांश आंचलिक उपन्यास (जैसे- उदयशंकर भट्ट कृत 'सागर, लहरें और मनुष्य' तथा रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूँ') राष्ट्रीय जीवन का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते; वहीं मैला आंचल आंचलिक वातावरण के भीतर से भी राष्ट्रीयता की पर्याप्त अनुभूति कराने में समर्थ है।

इन आधारों पर यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि मैला आंचल ही आंचलिक परंपरा का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। सच तो यह है कि मैला आंचल ने ही आंचलिक उपन्यासों के लिए कसौटियाँ गढ़ी हैं जिन पर खरा उतरने के लिए आज तक आंचलिक-लेखक रचनात्मक संघर्ष कर रहे हैं।

प्रश्न: आंचलिक होते हुए भी मैला आंचल अपनी आंचलिकता का अतिक्रमण करता है और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य का साक्षात्कार करता है। आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं? (225 शब्द)

उत्तर: पहली नज़र में आंचलिकता और राष्ट्रीयता परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। आंचलिकता स्थान विशेष से जुड़े रहना चाहती है जबकि राष्ट्रीयता उसका अतिक्रमण कर संपूर्ण क्षेत्र को अपनी परिधि में शामिल कर लेना चाहती है। किंतु, सच तो यह है कि समर्थ रचनाकार अपने रचना कौशल से इन विरोधी अवधारणाओं में भी सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। 'रेणु' का 'मैला आंचल' ऐसा ही एक उपन्यास है।

'रेणु' ने इस उपन्यास के प्राक्कथन में मैला आंचल को आंचलिक उपन्यास के रूप में प्रमाणित करते हुए लिखा है- 'यह है मैला आंचल, एक आंचलिक उपन्यास।' इस उपन्यास में उन्होंने अंचल के भौगोलिक तथा सांस्कृतिक पक्ष को विशेष महत्व दिया है। रेणु ने अंचल के भूगोल को इतनी खूबसूरती से पेश किया है कि पाठक के दिमाग में पूरे अंचल का नक्शा खिंच जाता है। इस उपन्यास के हर पृष्ठ पर कोई न कोई गीत, नृत्य या सांस्कृतिक उत्सव (विदापत नृत्य आदि) इसकी आंचलिकता के रंग को प्रगाढ़ करते हैं।

मेरीगंज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ विशिष्ट न होकर देश के अन्य क्षेत्रों जैसी ही हैं। मेरीगंज गाँव का जातिगत विभाजन, अंधविश्वास और स्त्रियों की दयनीय दशा आम तौर पर देश के हर गाँव की समस्या है। इसी प्रकार गरीबी और जहालत, किसानों का शोषण, राजनीतिक पार्टियों में बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार, गांधीवादी मूल्यों का पतन भी क्षेत्रीय समस्याएँ न होकर राष्ट्रीय समस्याएँ हैं।

दरअसल, रेणु ने प्राक्कथन में मेरीगंज को 'पिछड़े गाँवों का प्रतीक' मानकर स्पष्ट कर दिया है कि यह उपन्यास आंचलिक होते हुए भी राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य का साक्षात्कार करता है।

प्रश्न: मैला आंचल की भाषा-शैली पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: आंचलिक उपन्यास के रूप में मैला आंचल की सफलता का सबसे महत्वपूर्ण कारण उसकी भाषा-शैली को ही माना जाता है। रेणु ने भाषा के स्तर पर अद्भुत प्रयोगशीलता का परिचय देते हुए नई सृजनात्मक उपलब्धि की है जिसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

- मैला आंचल में सामान्यतः देशज भाषा का प्रयोग किया गया है क्योंकि आंचलिक संस्कृति में देशज शब्दावली केंद्र में होती है। इसके अतिरिक्त, तद्भव शब्दावली का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है। उदाहरण के लिए- "तहसीलदार साहब की बेटी कमली जब गमकौआ साबुन से नहाने लगती है तो सारा गाँव गम-गम करने लगता है।"
- अंग्रेजी के बहुत से शब्दों का प्रयोग किया गया है परंतु रेणु उन शब्दों को भी आंचलिक तेवर के साथ लाए हैं। उदाहरण के लिए- भैंसचरमन (Vice Chairman), रायबरेली (Library), पुलोगराम (Programme)।

- उपन्यास में कहीं-कहीं मानक भाषा का प्रयोग हुआ है जिसमें न सिर्फ तत्सम शब्दावली बल्कि संस्कृत की परिनिष्ठित शब्दावली भी आई है। तत्सम भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है-

“वेदांत भौतिकवाद सापेक्षवाद मानवतावाद हिंसा से जर्जर प्रकृति रो रही है।

- रेणु ने आंचलिक शैली का निर्वाह करते हुए लोकगीत तथा लोक संगीत के तत्व को उपन्यास में काफी अधिक स्थान दिया है। भउजिया के गीत, बिदापत के नृत्य और जाट-जट्टिन के खेल जैसे प्रसंगों में बहुत से लोकगीत आए हैं।
- आंचलिक भाषा शैली की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता होती है- मुहावरेदार भाषा का प्रयोग। मैला आँचल में जगह-जगह पर ऐसी भाषा दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए-

“माघ का जाड़ा तो बाघ को भी ठण्डा कर देता है।”

- आंचलिक भाषा शैली की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है- शब्दों में निहित ध्वन्यात्मकता या नादात्मक क्षमता का प्रयोग। उदाहरण के लिए-

(क) डिम-डिमिक-डिमिक

(ख) गिड़ गिड़ गिड़ धा, गिड़धा गिड़धा

- रेणु ने प्रतीकात्मक भाषा का भी काफी प्रयोग किया है। कहीं-कहीं उनकी भाषा में प्रतीक और अप्रस्तुत इस प्रकार शामिल हो जाते हैं कि गद्य में पद्य की सुंदरता उत्पन्न होने लगती है। मैला आँचल का डॉ. प्रशांत ऐसी ही भाषा में कहता है-

“मैं प्यार की खेती करना चाहता है। आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएँगे।”

- रेणु ने न सिर्फ अंचल के भूगोल के सुंदर बिंब बनाए हैं बल्कि विभिन्न चरित्रों को भी बिंबों में उतार दिया है। उदाहरण के लिए-

“गणेश की नानी! बुढ़ापे में भी जिसकी सुंदरता नष्ट नहीं हुई, जिसके चेहरे की झुर्रियों ने एक नई खूबसूरती ला दी है। सिर के सफेद बालों के घुँघराले लट। होंठों की लाली ज्यों की त्यों है।”

- आंचलिक जीवन में हास्य और व्यंग्य की उपस्थिति क्षण-क्षण महसूस की जा सकती है। रेणु ने हास्य-व्यंग्य का बहुत अधिक प्रयोग किया है।
- रेणु ने भाषा-शैली के स्तर पर एक विशेष प्रयोग चेतना प्रवाह शैली का किया है। रेणु ने कमली की मनःस्थिति दिखाने के लिए इस शैली का प्रयोग किया है।

स्पष्ट है कि मैला आँचल की भाषा-शैली आंचलिकता के तत्व को पूरी तन्मयता से धारण करती है। यदि मैला आँचल आज तक सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास माना जाता है तो उसका एक बड़ा कारण यह भाषा-शैली ही है।

प्रश्न: नायकत्व की दृष्टि से ‘मैला आँचल’ पर विचार कीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: मैला आँचल के प्रकाशन को जिन कारणों से हिन्दी उपन्यासों के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना होने का गर्व प्राप्त है, उनमें सबसे महत्वपूर्ण है- नायक की परंपरागत परिभाषा का ध्वस्त होना। प्राचीन काल के साहित्य से ही भारतीय परंपरा में उदात्त नायकों की एक सुदीर्घ परंपरा चली आ रही थी जिसे रेणु से पहले प्रेमचंद ‘होरी’ जैसे साधारण पात्र के माध्यम से लोकतांत्रिक बना चुके थे। मैला आँचल इससे अगले स्तर की क्रांति है, जहाँ यह नियम भी टूट गया कि रचना का नायक कोई मानवीय चरित्र ही होगा। ग्रामीण अंचल को नायक बना दिये जाने की क्रांतिकारी पहल मैला आँचल की रचना-प्रक्रिया में गहराई से गुंथी है।

नायक के निर्धारण की समकालीन कसौटी यही हो सकती है कि पूरी रचना का कथानक किस चरित्र के इर्द-गिर्द बुना गया है, किसके चरित्र के विविध पक्षों को उभारने का प्रयास लेखक ने किया है, कौन सा चरित्र पाठक के मन में गहराई से धँस जाता है इत्यादि।

यदि कोई समीक्षक मैला आँचल में किसी मानवीय चरित्र को नायक का दर्जा देना चाहे तो संभवतः डॉ. प्रशांत, बावनदास या कालीचरण पर विचार करेगा। थोड़े से विश्लेषण से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि इनमें से कोई भी अपने महत्व

या प्रभाव में मेरीगंज का मुकाबला करने में समर्थ नहीं है। उदाहरणस्वरूप, बावनदास जिंदगी भर कोशिश करता रहा कि इस अंचल के यथार्थ को बदलकर खूबसूरत बना सके, किंतु अंततः अंचल का कठोर यथार्थ ही उस पर भारी पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई। कालीचरण का क्रांतिकारी तेवर पाठक को आकर्षित करता है, किंतु रचना के अंतिम हिस्से तक पहुँचते-पहुँचते उसका महत्व कम हो जाता है। किंतु, वह भी अंचल की तुलना में कमजोर है, यह उसने खुद ही माना है।

इन सभी मानवीय चरित्रों की तुलना में यदि मेरीगंज को देखें तो नायकत्व का अर्थ ज्यादा खुलता है। लेखक ने भूमिका में ही घोषणा कर दी है कि इस उपन्यास का कथानक घटनाओं और चरित्रों से नहीं, बल्कि 'पूर्णिया' अंचल से निर्मित हुआ है-

“यह है मैला आँचल, एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया xxxxx मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को- पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर- इस उपन्यास कथा का क्षेत्र बनाया है।”

पूरे उपन्यास में यही घोषणा साकार होती हुई नज़र आती है। मेरीगंज के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की हर छोटी-बड़ी घटना पूरे व्यौरों के साथ उपस्थित है। इतना ही नहीं, पाठक स्वयं को मेरीगंज में ही महसूस कर सके, इसलिये सांस्कृतिक और भौगोलिक वर्णनों की बाढ़ सी नज़र आती है। ये सभी वर्णन अंचल को ही प्रधान-चरित्र के रूप में खड़ा करते हैं।

इसलिये, यह मानने में कोई हर्ज नहीं कि मैला आँचल ने नायक की धारणा पूरी तरह बदल डाली है। यूँ, नायक की एक ठोस पहचान यह भी है कि रचना के आस्वादन के बाद वह पाठक की चेतना में घर कर जाता है, उसके मनोजगत का प्रभावी अंग बन जाता है। इस दृष्टि से भी देखें तो मानना होगा कि मैला आँचल पढ़ने के बाद जो चरित्र पाठक के मन को आलोड़ित-स्पर्दित करता है, उसकी स्मृतियों का स्थायी हिस्सा बन जाता है- वह 'मेरीगंज' ही है।

प्रश्न: 'मैला आंचल' के नामकरण पर विचार करें। क्या आप इस उपन्यास का इससे बेहतर नाम सुझा सकते हैं? (300 शब्द)

उत्तर: किसी भी रचना का नामकरण कई आधारों पर हो सकता है, जैसे चरित्रमूलक (जैसे दिव्या), घटनामूलक (आषाढ़ का एक दिन) या स्थितिमूलक (भारत दुर्दशा, महाभोज)।

सर्वश्रेष्ठ नामकरण वह होता है जो रचना के समग्र प्रभाव को पाठक की चेतना में मूर्त बना सके। इस दृष्टि से मैला आँचल अत्यंत प्रभावी नामकरण है क्योंकि नाम सुनते ही उस अंचल का सम्पूर्ण दृश्य आँखों के समक्ष तैर जाता है जिसका विस्तृत अंकन इसमें किया गया है।

मैला आँचल नामकरण के दोनों शब्द अत्यंत सारगर्भित हैं। रेणु ने 'आँचल' शब्द का प्रयोग दो कारणों से किया है:

(क) आँचल शब्द का पहला अर्थ 'अंचल' से संबंधित है और यह इसलिये प्रासंगिक है क्योंकि रेणु ने घोषित रूप से मैला आँचल को आंचलिक उपन्यास के तौर पर लिखा है। भूमिका का पहला ही वाक्य है- “यह है मैला आँचल, एक आंचलिक उपन्यास।” चूँकि रेणु की योजना यही थी कि मैला आँचल के माध्यम से उपन्यासों का एक नया रूप- आंचलिक उपन्यास- स्थापित हो, इसलिये नामकरण में आँचल शब्द का प्रयोग बेहद प्रासंगिक है।

(ख) 'आँचल' शब्द का एक दूसरा अर्थ भी सक्रिय है। ध्यातव्य है कि इसका नाम 'मैला अंचल' नहीं, 'मैला आँचल' है और इसके पीछे रेणु की निश्चित योजना है। आँचल शब्द माँ के आँचल की ममता को व्यक्त करता है। व्यक्ति जिस ज़मीन पर पला-बढ़ा होता है, उसके प्रति उसके मन में माँ के ममत्व जैसा भाव हो, अर्थात् वह अपनी मिट्टी को माँ जैसा आदर दे- यह स्वाभाविक ही है।

अब, दूसरा प्रश्न यह है कि नामकरण में 'मैला' शब्द का प्रयोग रेणु ने क्यों किया? वस्तुतः इसके पीछे रेणु की प्रतिबद्धता है। वे अपने अंचल को पूरी तटस्थता के साथ दिखाते हैं, किंतु जानते हैं कि इस अविकसित और पिछड़े अंचल में मैलेपन की मात्रा सुंदरता की तुलना में कहीं ज्यादा है। वे इस मैलेपन को दूर करने की चेतना से भरे हैं। मैला आँचल के अंत में भी यह प्रतिबद्धता डॉ. प्रशांत के इन शब्दों में उभरती है-

“ममता, मैं फिर काम शुरू करूँगा— यहीं, इसी गाँव में xxxxx मैं साधना करूँगा, ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आँचल तले।”

स्पष्ट है कि मैला आँचल नामकरण के पीछे रेणु की अत्यंत सजग योजना विद्यमान है।

- प्रश्न यह भी है कि अगर इस उपन्यास का यह नाम न होता तो क्या होता?

(क) यदि नाम अंचल पर ही आधारित होता तो ‘मेरीगंज’ या ‘मेरीगंज की दुनिया’ जैसा कोई नाम हो सकता था, किंतु यह नाम कमजोर होता। एक तो यह नाम सिर्फ एक विशिष्ट गाँव तक सीमित हो जाता जबकि भूमिका की घोषणा के अनुसार रेणु ने मेरीगंज को पिछड़े गाँवों के प्रतीक के तौर पर रखा है। दूसरे, इस नाम में ‘मैला’ शब्द से व्यक्त होने वाला भाव अव्यक्त रह जाता। तीसरे, आँचल शब्द में छिपा ममत्व भी इसमें व्यक्त न हो पाता।

(ख) चरित्रमूलक नामकरण असंभव था, क्योंकि कोई केंद्रीय चरित्र है नहीं और यदि है तो स्वयं ‘मेरीगंज’ है।

(ग) घटना आधारित नामकरण भी अप्रासंगिक होता क्योंकि घटनाएँ इतनी ज्यादा और वैविध्यपूर्ण हैं कि किसी एक घटना को नामकरण का आधार बनाने से असंतुलन पैदा हो जाता।

अतः ‘मैला आँचल’ ही सर्वश्रेष्ठ नामकरण है। प्रतीत होता है कि लेखक ने उपन्यास की अंतर्वस्तु से न्याय करने वाला नाम रखने के लिये एक लंबी वैचारिक उलझन का सामना किया होगा, और उसके बाद ही रचना के मर्म को साकार कर देने वाला इतना गहरा और ठोस नाम रखने में सफलता पाई है।

प्रश्न: मैला आँचल में निहित रेणु की राजनीतिक चेतना का उद्घाटन कीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: रेणु हिंदी उपन्यास यात्रा में ऐसे पहले महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं जिन्होंने सामाजिक यथार्थवाद की परंपरा में राजनीति को उपन्यास का प्रमुख विषय बनाया। सामाजिक यथार्थवादी परंपरा यद्यपि प्रेमचंद के समय में विकसित हो चुकी थी पर उसमें राजनीतिक पक्षों का प्रायः अभाव था। रेणु ने मैला आंचल में न केवल राजनीति को रचना के केन्द्र में रखा बल्कि तत्कालीन भारत के संपूर्ण राजनीतिक परिदृश्य का आलोचनात्मक मूल्यांकन भी किया।

मैला आंचल का पहला संस्करण 1954 में आया था व लेखनकाल 1952 के आस-पास है। यह वह समय था जब देश को आज़ादी मिली ही थी और आम आदमी आज़ादी से जुड़े हुए सपनों की उम्मीदों में खोया हुआ था। रेणु स्वाधीनता संग्राम के दौर से ही समाजवादी विचारधारा से जुड़े थे तथा जयप्रकाश के लोकतांत्रिक समाज की अवधारणा में उनकी गहरी आस्था थी। देश के आम आदमी का इस आज़ादी से मोहभंग बाद में हुआ किंतु समाजवाद को समझने वाले यह समझ चुके थे कि वे असली लड़ाई हार चुके हैं। रेणु खुद मानते थे कि देश की असली समस्या भूमि के उपयुक्त वितरण की है और नए उभरने वाले नेतृत्व में ऐसी कोई सभावना उन्हें नहीं दिखाई दी। इस रूप में प्रायः माना गया है कि रेणु एक मोहभंग की मानसिकता से गुजर रहे थे। उन्हें आज़ादी निरर्थक लगती थी व लोकतंत्र में शामिल दल कुछ अंतरों के साथ झूठे प्रतीत होते थे। इसी मनोभूमि में मैला आंचल की रचना हुई है व आमतौर पर यही मानसिकता रचनाकार में भी दिखाई देती है।

यह बात प्रमाणित है कि लोकतांत्रिक समाजवाद का जन्म कांग्रेस की कोख से हुआ था व रेणु के अपने परिवार कांग्रेस से संबंधित था। वे कम्युनिस्ट पार्टी की हिंसक नीतियों को प्रायः गलत मानते थे लेकिन कुछ विशेष स्थितियों में उन्हें उपयुक्त मानने को तैयार थे। इस संबंध में एक विशेष प्रसंग ध्यातव्य है रेणु ने एक स्थान पर साफ लिखा है:

“मैला आंचल का चलित्तर कर्मकार यही नक्षत्र मालाकार है।”

नक्षत्र मालाकार क्रांतिकारी युवक था जिसका वास्तविक नाम नच्छत्र माली था। 1947 में जब पूर्णिया में भयानक अकाल पड़ा था तो इसने व्यापारियों द्वारा दबाए गए अनाज को बलपूर्वक खुलवाया था। जयप्रकाश ने खुद इसका नामकरण नक्षत्र मालाकार रखा था। यहाँ तक रेणु इस व्यक्ति का बेहद आदर करते थे किंतु यह व्यक्ति जब अकाल समाप्त होने पर भी ऐसे ही काम करता रहा तथा किसी भी व्यक्ति के सी.आई.डी. से संबंधित होने पर उसके नाक कान काटने लगा तो उनका मोहभंग इस स्थिति से भी हुआ। बाद में नक्षत्र मालाकार को सपा से निकाल दिया गया था। मुक्तिबोध ने भी इस बात का वर्णन किया है कि समाजवाद की सद्भावनाएं एक सीमा के बाद कैसे सीमाएं बनने लगती हैं।

उपन्यास में बावनदास की मृत्यु भारतीय राजनीति के नए अध्याय की शुरुआत है। बावनदास उन सभी मूल्यों का प्रतीक है जिन पर चलते हुए गांधी जी ने आजादी प्राप्त की है। ऐसे व्यक्ति की काबरा जैसे अपराधी तस्कर के हाथों मृत्यु होना अपने आप में महत्वपूर्ण है। देखने की बात यह है कि काबरा कांग्रेस का पदाधिकारी है। तथा आजादी के बाद देश में कांग्रेस ही सत्ताधारी दल भी है। अतः यह हत्या प्रकारांतर से 'भारत के लोकतांत्रिक शासन द्वारा हुई है जिसने गांधीवादी मूल्यों को दो दिन में ही छोड़ दिया है।

कुल मिलाकर हम देख सकते हैं कि मैला आँचल समाजवादी मूल्यों के रूप में रेणु की राजनीतिक चेतना का वहन करता है।

महाभोज

प्रश्न: 'महाभोज' उपन्यास के नामकरण की सार्थकता पर विचार कीजिए।

(225 शब्द)

उत्तर: महाभोज उस भोज को कहते हैं जो किसी की मृत्यु पर आयोजित किया जाता है। रचना के अंत में इस भोज के अनेक संकेत हैं। डी.आई.जी. सिन्हा को पदोन्नति मिल गई है जिसके उपलक्ष्य में उनके घर पर एक पार्टी दी गई है। दूसरी तरफ, सत्ता के समक्ष अपनी कलम को गिरवी रखने वाले दत्ता बाबू पार्टी करने के लिए किसी खास स्थान पर जाने की तैयारी कर रहे हैं और तीसरी तरफ सुकुल बाबू सबसे बड़ी रैली होने की खुशी में जश्न मना रहे हैं। यह भोज 'बिसू' की मौत का नहीं है, न ही 'बिंदा' की संभावित मृत्यु का है अपितु यह महाभोज तो स्वतंत्र भारत की तथाकथित आजादी, लोकतांत्रिक व्यवस्था और नैतिकता की मौत का महाभोज है।

दा साहब इस सम्पूर्ण परिदृश्य के सूत्रधार हैं। उन्हीं की सूक्ष्म बुद्धि का परिणाम है कि जोरावर हत्यारा होकर भी सुरक्षित रहता है, दत्ता बाबू की आग उगलती कलम सरकार के पक्ष में शांत हो जाती है और डी.आई.जी. सिन्हा भी पदोन्नति पाकर आई.जी. बन जाते हैं। दूसरी ओर, जो लोग इस कुत्सित नाटक में शामिल होने को तैयार नहीं हैं, वे सब हाशिये पर फेंक दिए गए हैं। यही वह त्रासद स्थिति है जिसमें घुप्प अंधेरे के कारण दिशाएँ सूझनी बंद हो गई हैं। इसी स्थिति का प्रतीक है- 'महाभोज' नामकरण।

स्पष्ट है कि उपन्यास अपने समय के जिस विद्रूप और भयावह यथार्थ को व्यंजित करना चाहता है, उसके लिए 'महाभोज' से बेहतर नाम खोजना कठिन है। यह नाम न सिर्फ आजादी के सपनों की मृत्यु को अभिव्यंजित करता है बल्कि इस लाश को नोचकर खाने वाले गिद्धों का तफसील से परिचय भी कराता है।

प्रश्न: 'महाभोज' उपन्यास के 'दा साहब' का चरित्र-चित्रण कीजिये।

(300 शब्द)

उत्तर: मन्नु भंडारी के उपन्यास महाभोज में कार्य-व्यापार और उपस्थिति की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण पात्र 'दा साहब' साठोत्तरी भारतीय राजनेताओं के प्रतिनिधि वर्ग-चरित्र हैं। ई.एम. फोर्स्टर की शब्दावली में वह एक 'समतल चरित्र' के रूप में अंकित किये गए हैं, जिसमें कोई परिवर्तन या विकास नहीं होता।

इस उपन्यास में 'दा साहब' प्रान्त के मुख्यमंत्री के रूप में चित्रित हुए हैं जो व्यक्तिगत दृष्टि से प्रांतीय राजनीति के कुशल एवं सफल संवाहक है तथा अपने निहित राजनीतिक स्वार्थों के लिये ओछे से ओछा हथकण्डा अपनाने से भी नहीं हिचकिचाते।

'दा साहब' आद्यन्त दोहरे व्यक्तित्व के स्वामी हैं। पाखंड और ढोंग उनके चरित्र की मूल विशेषता है। बाह्य रूप से वह बहुत शिष्ट, सौम्य, चिन्तक तथा जवता के प्रति गहरे सरोकार रखने वाले दिखते हैं, लेकिन भीतरी धरातल पर एक भ्रष्ट, कुटिल, अवसरवादी, चालक और पैनी दृष्टि रखने वाले राजनेता हैं जो पद-लोलुपता के कारण विरोधियों को परास्त करने हेतु नई-नई राजनीतिक चालें चलता रहता है और उन्हें परास्त करने में सफल भी होता है। वे प्रशासन, पुलिस, मीडिया, राजनेताओं- सभी को वश में करने की कला जानते हैं और जो बिकते नहीं, उन्हें अपने रास्ते से हटा देते हैं। उपन्यास में मंत्री लोचन भैया तथा पुलिस ऑफिसर एस.पी. सक्सेना इसके उदाहरण हैं। अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिये वे अपराधियों

से भी साठ-गाँठ करते हैं और उन्हें तरह-तरह से अपने वश में रखते हैं। वह यह जानते हुए भी कि बिसू की हत्या जोरावर ने की है, उसके जाति वालों के वोट प्राप्त करने के उद्देश्य से उसे प्रश्रय देते हैं और बाद में जब जोरावर हाथ से निकलने की चेष्टा करता है तो कानून का भय दिखाकर उसे वश में रखते हैं।

कुल मिलाकर महाभोज उपन्यास में 'दा साहब' कथनी और करनी में अंतर रखने वाले एक ऐसे घाघ राजनीतिज्ञ हैं जिसके चरित्र को उपन्यास में एक व्यक्ति द्वारा की गई निम्नांकित टिप्पणी बहुत सटीकता से उजागर करती है-

"अरे यों तो धोती के नीचे सभी नंगे और ससुरी इस राजनीति में तो धोती के बाहर भी नंगे। पर दा साहब एकदम अपवाद। धोती के नीचे भी धोती ही निकलेगी इस गीता बाँचने वाले को। खाल खींचने पर ही सामने आ सकता है इसका नंगापन।"

प्रश्न: राजनीति और अपराध के आपसी संबंधों की औपन्यासिक प्रस्तुति के रूप में 'महाभोज' पर विचार कीजिए। (225 शब्द)

उत्तर: 'महाभोज' राजनीतिक विषयों पर लिखे गये हिन्दी के सफलतम उपन्यासों में से एक है। इस उपन्यास में मन्नु भंडारी ने आपातकाल के बाद के भारतीय राजनीतिक परिदृश्य का प्रामाणिक चित्रण किया है।

इस उपन्यास में भारतीय राजनीति में व्याप्त अवसरवादिता, जोड़-तोड़ और भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करने के साथ-साथ राजनीति और अपराध के आपसी संबंधों की भी गहन पड़ताल की गई है। लेखिका ने अलग-अलग घटनाओं और चरित्रों के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार जुर्म और सियासत एक-दूसरे पर टिके हुए हैं।

दा साहब, जो कि मुख्यमंत्री हैं, ने अपने राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए जोरावर जैसे अपराधी को संरक्षण दिया हुआ है। और तो और, वह जोरावर को बचाने के लिए सक्सेना जैसी ईमानदार पुलिस अधिकारी को उत्पीड़ित करते हैं। दूसरी ओर वरिष्ठ राजनेता सुकुल बाबू हैं जो चुनाव जीतने के लिए किसी भी हद तक जा सकते हैं। मारपीट और खूनखराबा उनके लिए चुनावी अभियान का अभिन्न अंग है। इसके अलावा बिसू की मौत और बिंदा का शोषण भी सत्ता और जुर्म की मिलीभगत का ही परिणाम है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि 'महाभोज' राजनीति और अपराध के संबंधों का सूक्ष्म विश्लेषण कर हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था की कमियों को उजागर करता है।

प्रश्न: 'महाभोज' में समकालीन दलगत राजनीति का जन-विरोधी चरित्र विश्वसनीय तरीके से उभारा गया है- इस कथन का परीक्षण करें। (225 शब्द)

उत्तर: राजनीति में व्याप्त विकृति और विद्रूपता ही 'महाभोज' की कथावस्तु का केंद्रीय तत्त्व है। इस उपन्यास में, लेखिका ने दलगत राजनीति को बेनकाब कर इसके वास्तविक चरित्र का उद्घाटन किया है। उन्होंने लोकतंत्र के भीड़तंत्र में बदलने की पूरी प्रक्रिया का प्रामाणिक अंकन तो किया ही है, साथ ही यह भी दिखाया है कि किस प्रकार जनता को सशक्त करने के उद्देश्य से अपनाई गई राजनीतिक व्यवस्था जनता के शोषण का कारण बनती है।

महाभोज में दलगत राजनीति के जन-विरोधी चरित्र का पहला लक्षण संवेदनहीनता के रूप में दिखाई पड़ता है। बिसू की मौत को अवसर की तरह देखना और चुनाव जीतने के लिए हिंसा का सहारा लेना इस संवेदनहीनता के स्पष्ट प्रमाण हैं।

सिद्धांत: राजनीति में व्यक्तिगत हित के लिए कोई स्थान नहीं होता, और सामाजिक हित ही सर्वोपरि होता है। किंतु 'महाभोज' सैद्धांतिक नहीं बल्कि व्यावहारिक जीवन पर आधारित उपन्यास है और यहाँ राजनीति अपने असली रूप- स्वार्थ सिद्धि के उपकरण के रूप में दिखाई गई है। राव तथा चौधरी ऐसे राजनेताओं के प्रतीक हैं जिनकी कोई विचारधारा नहीं है, उन्हें सिर्फ सत्ता हासिल करने से मतलब है।

इसके अलावा, राजनीति का जाति पर आधारित होना, अपराधियों को संरक्षण देना, प्रशासनिक प्रणाली पर नियंत्रण स्थापित करना और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देना भी प्रकारांतर से दलगत राजनीति के जन-विरोधी चरित्र को स्पष्ट करता है।

इस चर्चा के आधार पर निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में राजनीति के असली स्वरूप को पूरी बेबाकी के साथ उद्घाटित किया गया है।

प्रश्न: “महाभोज उपन्यास में हमारे वर्तमान समाज और राजनीति का नकारात्मक यथार्थ-वर्णन तो विश्वसनीय बन पड़ा है, लेकिन सकारात्मक पहलू हवाई आदर्श बन गया है”- इस टिप्पणी के संदर्भ में अपना तर्कपूर्ण पक्ष प्रस्तुत करें। (225 शब्द)

उत्तर: आकार में सीमित होने के बावजूद, ‘महाभोज’, समाज और राजनीति के यथार्थ-वर्णन में ‘झूठा सच’ और ‘राग-दरबारी’ जैसे उपन्यासों को टक्कर देता नज़र आता है। मन्नु भंडारी ने इस उपन्यास में उस समय की लगभग सभी सामाजिक और राजनीतिक विद्रूपताओं को विश्वसनीय तरीके से उभारा है।

जातीय संघर्ष, बुद्धिजीवियों की संवेदनहीनता, राजनीतिक अवसरवादिता, मीडिया का बिकाऊ होना, राजनीति में अपराधियों का बढ़ता वर्चस्व, लचर प्रशासनिक व्यवस्था और भ्रष्टाचार, वे सामाजिक और राजनीतिक सच हैं जिन्हें इस उपन्यास का कथ्य बनाया गया है।

लेखिका ने न सिर्फ यथार्थ का प्रामाणिक चित्रण किया है, बल्कि यथार्थ को बदलने की कोशिश भी की है। उन्होंने ‘बिसू’, ‘बिंदा’, ‘सक्सेना’ जैसे चरित्रों का सृजन किया जो नकारात्मक ताकतों से लड़ते हुए बदलाव के लिए प्रयत्नशील हैं। बदलाव की दुर्निवार, सम्मोहन भरी यह अग्निलीक बिसू और बिंदा से होते हुए सक्सेना तक पहुँचती है और सक्सेना का व्यक्तित्वांतरण कर देती है।

कुछ आलोचकों ने ‘सक्सेना’ के व्यक्तित्वांतरण और लोचनबाबू के नैतिक मूल्यों पर प्रतिबद्ध रहने को हवाई आदर्श की संज्ञा दी है। दरअसल, सच तो यह है कि ‘सक्सेना’ का व्यक्तित्वांतरण क्षणिक घटना न होकर एक लंबे द्वंद्व का परिणाम है और सक्सेना और लोचनबाबू के चरित्र भले ही सुलभ यथार्थ न हों, लेकिन दुर्लभ यथार्थ तो हैं ही।

प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ

प्रश्न: ‘प्रेमचंद की कहानियों में मनोविज्ञान का सुंदर प्रयोग हुआ है।’ आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं? (225 शब्द)

उत्तर: मनोविज्ञान का प्रयोग प्रेमचंद की लगभग सभी कहानियों में दिखाई देता है। ऐसा करते हुए प्रेमचंद ने फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का आधार नहीं लिया है बल्कि अपने गहरे जीवनानुभवों के आधार पर विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की मनःस्थितियों का अंकन किया है।

नारी मन के सूक्ष्म परतों का उद्घाटन प्रेमचंद की कई कहानियों में दिखाई देता है। ‘नया विवाह’ ऐसी ही कहानी है जहाँ बड़े उम्र के व्यक्ति से विवाहित स्त्री स्वाभाविक रूप से अपने हमउम्र व्यक्ति की ओर आकर्षित होती है।

दलित मनोविज्ञान में प्रवेश करते हुए प्रेमचंद ने दिखाया है कि उस समय जहाँ दलित वर्ग में एक ओर सदियों से चली आ रही हीनता-ग्रंथि थी तो दूसरी ओर उभरती हुई अधिकार व आत्मसम्मान की चेतना भी। ‘सद्गति’ कहानी में इसे देखा जा सकता है।

प्रेमचंद ने किसानों के मनोविज्ञान को भी कई कहानियों में प्रस्तुत किया है, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण है- ‘सभ्यता का रहस्य’ इसमें वे दिखाते हैं कि किसान के लिए अपनी प्रतिष्ठा कितनी महत्वपूर्ण होती है। इनके अतिरिक्त प्रेमचंद ने वृद्ध मनोविज्ञान तथा बाल मनोविज्ञान का भी सूक्ष्म चित्रण किया है। ‘बूढ़ी काकी’ वृद्ध मनोविज्ञान के चित्रण का श्रेष्ठ उदाहरण है।

‘ईदगाह’ का ‘हामिद’ सामान्य बाल मनोविज्ञान का अतिक्रमण करता है। हामिद अपनी ‘बाल सुलभ’ इच्छाओं का दमन करके नायित्वपूर्ण व्यवहार करता है जो वस्तुतः उसकी उम्र से असंगत है और उसकी आर्थिक स्थितियों का परिणाम है।

प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में मनोविज्ञान से प्रभावित कुछ शैलियों का प्रयोग भी किया है, जैसे चेतना प्रवाह शैली तथा आत्मकथात्मक शैली।

इस प्रकार यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद की कहानियों में मनोविज्ञान का सुंदर प्रयोग हुआ है।

प्रश्न: दलित जीवन-चित्रण के संदर्भ में प्रेमचंद की कहानियों पर विचार कीजिए। क्या उन पर दलित-विरोधी होने के आरोपों को आप उचित मानते हैं? (225 शब्द)

उत्तर: प्रेमचंद उस समय के रचनाकार हैं जब डॉ. अंबेडकर के नेतृत्व में दलितों का मुद्दा राष्ट्रीय चिंतन का विषय बन चुका था। ऐसे में प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में दलित जीवन की समस्याओं का प्रामाणिक एवं मर्मस्पर्शी अंकन किया।

‘दूध का दाम’, ‘सद्गति’ तथा ‘कफन’ आदि ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें दलित जीवन के विस्तृत चित्र खींचे गए हैं। उस समय का दलित समाज सदियों की हीनता ग्रंथि और उभरती हुई आत्मसम्मान की चेतना के द्वंद्व से गुजर रहा था। ‘सद्गति’ में उन्होंने इसी द्वंद्व को कथानक का विषय बनाया है। एक ओर दुखी चमार है जो पंडित के घर को ‘अपवित्र’ करने के अपराध-बोध से ग्रस्त है तो वहीं दूसरी ओर गौड़- ‘पंडित होंगे तो अपने घर के होंगे’ कहकर यथास्थितिवाद का खंडन करता है। इसके अतिरिक्त ‘कफन’ और ‘दूध का दाम’ में दलित वर्ग में व्याप्त गरीबी और अस्पृश्यता का मुद्दा उठाया गया है।

दलित-विमर्श के कुछ चिंतकों ने प्रेमचंद पर दलित-विरोधी होने का आक्षेप लगाया है। इस आक्षेप के बड़े आधार हैं- ‘कफन’ में घीसू व माधव को चमार जाति का बताया जाना और ‘बूढ़ी काकी’ में जूठा पत्तल चाटने के प्रसंग में प्रेमचंद की ब्राह्मण-वर्ग के प्रति सहानुभूति। किंतु ये आरोप निराधार हैं क्योंकि घीसू-माधव की संवेदनशून्यता का कारण उनका किसी जाति-विशेष में जन्म नहीं बल्कि गरीबी है।

सच तो यह है कि प्रेमचंद दलितों के संबंध में प्रगतिशील विचार रखते थे, जिसकी पुष्टि ‘सद्गति’ जैसी कहानियों व उपन्यास ‘गोदान’ के माध्यम से की जा सकती है।

प्रश्न: प्रेमचंद की कहानी ‘ईदगाह’ की संवेदना पर विचार कीजिए। (225 शब्द)

उत्तर: प्रेमचंद की कहानी ‘ईदगाह’ बाल मनोविज्ञान का सूक्ष्म अंकन करने वाली कहानी है, जिसके माध्यम से प्रेमचंद ने भारतीय जीवन-यथार्थ में प्रवेश किया है। इसलिए इस कहानी की संवेदना बाल-मनोविज्ञान तक सीमित नहीं रह जाती बल्कि जीवन के कई अन्य पक्षों तक अपनी पहुँच बनाती है।

‘ईदगाह’ की संवेदना का मूल आधार है- वे सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ जिन्होंने ‘बच्चे हामिद’ को ‘बूढ़े हामिद’ का पार्ट खेलने पर विवश कर दिया। हामिद द्वारा मेले में चिमटा खरीदना, बाल-सुलभ मासूमियत पर गरीबी और अभाव के जीत की, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। प्रेमचंद हामिद के माध्यम से उस आर्थिक व्यवस्था की उपयोगिता पर सवालिया निशान लगाते हैं जो बच्चों से उनका बचपन छीन लेती है।

‘ईदगाह’ की संवेदना बाल-मनोविज्ञान तक सीमित न रहकर, सिद्धांत और व्यवहार के बीच के अंतराल को उजागर करते हुए, बच्चों की रोचक बातचीत के माध्यम से जातिवाद, भ्रष्टाचार व न्याय-व्यवस्था जैसे सामाजिक-राजनीतिक विद्रूपताओं पर भी प्रकाश डालती है।

इन पहलुओं के अलावा, तत्कालीन ग्रामीण परिवेश में उपस्थित सामाजिक सौहार्द एवं आत्मीय संबंधों का सुंदर एवं प्रभावशाली चित्रण भी ‘ईदगाह’ की प्रमुख संवेदनागत विशेषताओं में से एक है।

समग्रतः, यह कहा जा सकता है कि ‘ईदगाह’ कहानी संवेदना की दृष्टि से एक संश्लिष्ट रचना है जो पाठक की संवेदनशीलता में गुणात्मक वृद्धि करती है।

प्रश्न: ‘कफन’ की संवेदना पर विचार कीजिये। क्या यह कहानी दलित-विरोधी है? (300 शब्द)

उत्तर: कफन की संवेदना का सबसे मुख्य बिंदु उसमें व्यक्त होने वाला चरम यथार्थवाद है। इसमें सिर्फ प्रश्न खड़े किए गए हैं, उत्तर या उपदेश देने की कोशिश दूर-दूर तक नज़र नहीं आती है। यद्यपि ‘सद्गति’, ‘दूध का दाम’ और ‘पूस की रात’ में भी प्रेमचंद का यथार्थवाद प्रकट हुआ है किंतु वहाँ उसकी चुभन इतनी तीखी नहीं है।

कफन में प्रेमचंद घीसू और माधव की कामचोरी को उनकी व्यक्तिगत कामचोरी घोषित नहीं करते बल्कि उसके पीछे जिम्मेदार स्थितियों को उभारते हैं। वे लिखते हैं- “जिस समाज में रात दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से

कुछ बहुत अच्छी नहीं थी; और किसानों के मुकाबले में वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा संपन्न थे; वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात नहीं थी।" सामाजिक समस्याओं का यह विश्लेषण कहानी के कुछ अन्य प्रसंगों में और ज्यादा घनीभूत होकर उभरा है जहाँ प्रेमचंद सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था में निहित विसंगतियों पर कड़ी चोट करते हैं।

गौरतलब है कि कुछ दलित विचारकों की राय में यह कहानी दलित विरोधी चेतना से भरी है। घीसू और माधव को जाति का चमार बताया गया है। आरोप यह है कि प्रेमचंद घीसू और माधव की जाति का जिक्र किए बिना भी यह कहानी लिख सकते थे क्योंकि घोर गरीबी किसी व्यक्ति को संवेदनहीन बनाने के लिए अपने आप में पर्याप्त है। किंतु, प्रेमचंद पर यह आक्षेप उचित नहीं। दलितों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता 'सद्गति' और 'दूध का दाम' जैसी कहानियों और 'गोदान' जैसे उपन्यासों के सिलिया आदि चरित्रों से स्पष्ट हो जाती है। घीसू और माधव को वह चमार जाति का सिर्फ इसलिए बताते हैं ताकि समझा सकें कि दलित जातियों का जीवन कितना अभावग्रस्त है। यदि कहानी को ध्यान से पढ़ें तो साफ नजर आता है कि उनकी राय में घीसू और माधव की कामचोरी और संवेदनहीनता के पीछे उनकी व्यक्तिगत कमजोरियाँ नहीं बल्कि सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था है।

प्रश्न: 'पूस की रात' कहानी की संवेदना पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: 'पूस की रात' प्रेमचंद की यथार्थवादी कहानियों में अग्रणी है। 1930 में रचित यह कहानी प्रेमचंद द्वारा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के रास्ते को छोड़कर यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपना लेने की घोषणा करती है। यह उस यात्रा की शुरुआत है जो 1936 में 'कफ़न' कहानी में चरम यथार्थ पर जाकर पूर्ण होती है। किसान वर्ग प्रेमचंद की चिंताओं में शीर्ष पर है। यह कहानी उनकी इसी चिन्ता का प्रतिनिधित्व करती है।

'पूस की रात' की मूल समस्या गरीबी की है, बाकी समस्याएँ गरीबी के दुष्पक्र से जुड़ कर ही आई हैं। जो किसान पूरे सामाजिक जीवन का आधार है, उसके पास इतनी ताकत भी नहीं है कि कड़कती सर्दी से बचने के लिए कंबल खरीद सके। दूसरी ओर, एक ऐसा वर्ग है जिसके पास संसाधनों की इतनी अधिकता है कि उन्हें खर्च भी न कर सके। अर्थव्यवस्था की इसी फूहड़ता पर यह कहानी व्यंग्य करती है।

इस कहानी में प्रेमचंद गरीबी के मूल कारणों तक पहुँचते हैं। मार्क्स की भाषा में कहें तो हल्कू की गरीबी 'प्राकृतिक गरीबी' नहीं है जो उत्पादन की कमी से पैदा होती है। यह तो शोषण और संसाधनों के असमान वितरण से पैदा होने वाली गरीबी है। इस शोषणपरक व्यवस्था के प्रति हल्कू की पत्नी मुन्नी की नाराज़गी इन शब्दों में व्यक्त होती है- "मैं कहती हूँ तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? मर-मर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई। बाकी चुकाने के लिए तो हमारा जनम हुआ है।"

'पूस की रात' में किसान का जीवन संघर्ष एक अर्थ में 'गोदान' से भी ज्यादा कठिन है। पूस की रात का हल्कू जिन स्थितियों से गुज़र रहा है, वे इतनी कठिन हैं कि गोदान के होरी का मरजाद का विचार निरर्थक हो गया है। कहानी का अंत इसी नाटकीय मोड़ पर हुआ है जहाँ हल्कू किसानी छूटने से खुश नज़र आता है-

हल्कू ने प्रसन्न-मुख से कहा- रात की ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।"

पूस की रात की संवेदना का एक महत्वपूर्ण पक्ष मानव और प्रकृति के संबंध को लेकर है। जहाँ शहर का व्यक्ति प्रकृति को सैलानी-भाव से या उपयोगिता के चश्मे से देखता है, वहीं गाँव के व्यक्ति के लिए प्रकृति जीवन का सहज हिस्सा होती है। इस कहानी में हल्कू और ज़बरे की अनोखी मैत्री इसका उदाहरण है।

प्रश्न: 'बूढ़ी काकी' कहानी वृद्धावस्था का मार्मिक अंकन करती है। इस कथन के परिप्रेक्ष्य में 'बूढ़ी काकी' की संवेदना पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: अपने युग यथार्थ का चित्रण करते हुए कहानीकार प्रेमचंद की दृष्टि जिन समस्याओं की ओर गई, उनमें से एक वृद्धावस्था की समस्या है, जिसका चित्रण करने वाली कहानियों में बूढ़ी काकी सर्वप्रमुख है। इस कहानी में प्रेमचंद ने एक

बूढ़ी स्त्री की शारीरिक एवं मानसिक लाचारगी एवं परवशता का करुण चित्रण किया है। भारतीय परिवार में एक विधवा एवं बूढ़ी स्त्री की स्थिति कितनी दयनीय हो सकती है, 'बूढ़ी काकी' इसका ज्वलंत उदाहरण है।

कहानी में 'बूढ़ी काकी' अपने भतीजे और बहु द्वारा पूरी संपत्ति अपने नाम करवा लेने के बाद हाशिए पर ढकेल दी जाती है। वह उपेक्षा के दंश से अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश हो जाती है।

बूढ़ी काकी उम्र की जिस अवस्था में हैं उसमें उसकी इच्छाएँ बहुत सीमित हैं। कहानी में प्रेमचंद ने बुढ़ापे के मनोविज्ञान के तहत बुढ़ापे को बचपन का पुनरागमन कहा है। उनका यह भी कहना है कि बुढ़ापे में सारी इन्द्रियाँ शिथिल होकर महज एक वृत्ति पर केन्द्रित हो जाती हैं। बूढ़ी काकी के संदर्भ में इस वृत्ति का संबंध उन्होंने उनके चटोरपन को माना है। इच्छानुकूल, तृप्ति-भर भोजन न पाने पर वे मात्र गला फाड़-फाड़ कर रोती थीं। प्रतिवाद का यही उपाय उनके पास शेष था।

कहानी में भतीजे बुद्धिराम के बेटे के तिलक-समारोह में खाने की इच्छा से व्याकुल बूढ़ी काकी के साथ बुद्धिराम और उसकी पत्नी रूपा के जिस अमानुषिक व्यवहार को प्रेमचंद ने मूर्त किया है उसके माध्यम से बुढ़ापे के यथार्थ से जुड़ी त्रासदी अपने पूरे उत्कर्ष में त्रास और करुणा की सम्मिलित अनुभूतियों के साथ मूर्तिमान हो गई है। कहानी में बूढ़ी काकी द्वारा जूठी पत्तलों में बचे भोजन को खाना पूरी स्थिति को अत्यन्त त्रासद बना देता है।

हालांकि अपनी परिणामिता में यह कहानी आदर्शवाद की ओर अग्रसर हो गई है जहाँ बुद्धिराम और रूपा का हृदय-परिवर्तन हो जाता है, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि यह कहानी वृद्धावस्था का अत्यन्त मार्मिक अंकन करने में सफल हुई है।

एक दुनिया समानांतर

प्रश्न: 'भोलाराम का जीव' कहानी की संवेदना पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: नई कहानी को स्त्री-पुरुष संबंधों के दायरे से बाहर ले जाकर उसकी संवेदनात्मक परिधि को विस्तृत करने वालों कहानीकारों में हरिशंकर परसाई का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी कहानियों में राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं सामाजिक विद्रूपताओं के प्रति तीक्ष्ण एवं तीखी आलोचनात्मक व्यंग्य-दृष्टि लक्षित होती है जो उन्हें एक अलग ही पहचान देती है। 'भोलाराम का जीव' ऐसी ही कहानी है जिसमें व्यंग्य का मुख्य लक्ष्य सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था है। किंतु, हरिशंकर परसाई इसके चित्रण तक ही नहीं रुकते, वे व्यंग्य को मानवीय त्रासदी और करुणा तक ले जाते हैं और यह दिखाते हैं कि इस व्यवस्था में मनुष्य की क्या हालत हो चुकी है।

'भोलाराम का जीव' कहानी के प्रमुख चरित्र भोलाराम को रिटायर हुए पाँच वर्ष बीत चुके हैं, किन्तु अभी तक उसकी पेंशन नहीं मिली है। इसी पृष्ठभूमि में हरिशंकर परसाई एक पौराणिक मान्यता को आधार बनाकर कहानी का आरंभ करते हैं-

"ऐसा कभी नहीं हुआ था...

धर्मराज लाखों वर्षों से असंख्य आदमियों को कर्म और सिफारिश के आधार पर स्वर्ग या नर्क में निवास स्थान 'अलॉट' करते आ रहे थे- पर ऐसा कभी नहीं हुआ था।...भोलाराम के जीवन ने पाँच दिन पहले देह त्यागी और यमदूत के साथ इस लोक के लिए खाना भी हुआ, पर अभी तक नहीं पहुँचा।"

इस स्थिति का कारण भ्रष्ट दफ्तरी-तंत्र में फंसी भोलाराम की पेंशन की फाइलें हैं। इसमें वह बुरी तरह जकड़ा हुआ है और उसे मुक्ति का कोई रास्ता नहीं दिखायी देता है। वह उन फाइलों को छोड़कर स्वर्ग भी नहीं जाना चाहता- 'मुझे नहीं जाना। मैं तो पेंशन की दरखास्तों में अटका हूँ। यहीं मेरा मन लगा है मैं अपनी दरखास्तें छोड़कर नहीं जा सकता।'

इस स्थिति के कारणों की खोज करते हुए हरिशंकर परसाई लालफीताशाही और भ्रष्टाचार में डूबी हमारी समूची व्यवस्था की निर्ममता, अमानवीयता और संवेदनशून्यता का व्यंग्यात्मक लहजे में पर्दाफाश करते हैं, जिसने आम आदमी के जीवन को दूधर बना दिया है, उसे असहाय और निरुपाय बना दिया है।

प्रश्न: 'एक दुनिया समानांतर' की कहानियाँ मूलतः 'संबंधों के टूटन' की कहानियाँ हैं- आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं?

(300 शब्द)

उत्तर: 'एक दुनिया समानांतर' नई कहानियों का प्रतिनिधि संकलन है। इसमें संकलित कहानियाँ संवेदना व शिल्प के स्तर पर नई कहानी आंदोलन के मूल्यों को धारण करती हैं। इस संकलन की अधिकांश कहानियाँ 'संबंधों के टूटने' की कहानियाँ हैं। राजेन्द्र यादव की 'टूटना' तथा मोहन राकेश की 'एक और ज़िंदगी' में स्त्री-पुरुष संबंधों के टूटने का दर्द है तो भीष्म साहनी की चीफ की दावत और शानी की एक नाव के यात्री में दो पीढ़ियों के बीच के संबंध के दरकने की छटपटाहट। इन प्रमुख कहानियों के अतिरिक्त कमलेश्वर की 'खोई हुई दिशाएँ', धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो' उषा प्रियंवदा की 'मछलियाँ', कृष्ण सोबती की 'बादलों के घेरे' तथा मन्नू भंडारी की 'यही सच है' में भी बनते बिगड़ते रिश्तों के अक्स देखे जा सकते हैं।

वस्तुतः नव लेखन का दौर एक विशेष प्रकार के चिन्तन को केंद्र में रखता है जिसमें शहरी मध्यवर्ग के जीवन का बिखराव केंद्र में है। यह शहरी मध्यवर्ग अपनी जड़ों से कटा हुआ है। संयुक्त परिवार की संस्कृति इसकी नजर से ओझल हो चुकी है और नाभिकीय परिवार में रहने के तौर तरीके यह सीख नहीं पाया है जिसका अनिवार्य परिणाम संबंधों में टूटना है। 'चीफ की दावत' में इस तरह की टूटना बेहद स्पष्ट दिखती है जहाँ शमानाथ को उसकी 'मां' साहब के सामने प्रस्तुति योग्य नहीं लगती जिसके कारण वह उसे छुपाना चाहता है।

एक दुनिया समानांतर में कई ऐसी कहानियाँ भी हैं जो संबंधों की टूटना से बिल्कुल नहीं जुड़ती। अमरकांत की 'ज़िंदगी और जोंक', मार्कण्डेय की 'दूध और दवा', प्रयाग शुक्ल की 'सामान', हरिशंकर परसाई की 'भोलाराम का जीव' ऐसी ही कहानियाँ हैं। इसलिए यह तो कहा जा सकता है कि 'संबंधों का टूटना' इस संकलन की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है परंतु यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि यह इस संकलन की एकमात्र प्रवृत्ति या मूल प्रवृत्ति है। स्पष्टतः संपादक का इरादा भी एक प्रवृत्ति विशेष की कहानियों को चुनना नहीं था बल्कि वह अपने दौर की सभी प्रवृत्तियों का समावेश करना चाहता था।

प्रश्न: 'एक और ज़िंदगी' पुरुष और स्त्री के बदलते संबंधों और विखंडित होते हुए परिवारों के बीच अधूरेपन की त्रासदी झेल रहे व्यक्तियों की कहानी है। इस कथन के परिप्रेक्ष्य में इस कहानी की संवेदना पर विचार कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: 'एक और ज़िंदगी' मोहन राकेश की सर्वाधिक प्रसिद्ध कहानी है। उनकी कहानियों पर अस्तित्ववादी जीवन दृष्टि, लघुमानववाद तथा मोहभंग की मानसिकता का गहरा प्रभाव है। उन्होंने खुद लिखा है- "मेरी कहानियाँ पुरुष और स्त्री के बदलते संबंधों और विखण्डित होते हुए परिवारों के बीच अधूरेपन की त्रासदी झेल रहे व्यक्तियों की कहानियाँ हैं।" 'एक और ज़िंदगी' इस दृष्टि से अत्यंत प्रामाणिक कहानी है।

'एक और ज़िंदगी' शीर्षक से ही स्पष्ट है कि रचनाकार एक ज़िंदगी से संतुष्ट नहीं है। यह असंतोष इसलिए है कि मनुष्य के पास एक ही जीवन है- उसी में उसे प्रयोग करने है और उसी में जीना है।

'एक और ज़िंदगी' में ज़िंदगी के प्रति जो निरर्थकता का बोध है, वह एक और ज़िंदगी की तड़प को उभारता है। यह अहसास होना कि एक ही जीवन था और वह व्यर्थ हो गया है- इन्सान को भीतर ही भीतर घुटने के लिए मजबूर कर देता है।

इस निरर्थकता बोध का मूल कारण **संबंधों का टूटना** है। एक तो शहर का आदमी यँ ही अकेला है; दूसरे, यदि वह अपने सीमित संबंधों में भी खुश नहीं हो तो अकेलापन उसके जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन जाता है।

'एक और ज़िंदगी' में मध्यवर्ग में व्याप्त अनिर्णय की समस्या को भी उठाया गया है। इस कहानी के नायक प्रकाश की भी एक बड़ी समस्या अनिर्णय की समस्या है।

मोहन राकेश ने इस कहानी के माध्यम से सिर्फ स्त्रियों और पुरुषों की समस्या को ही नहीं उभारा बल्कि उन बच्चों की पीड़ा को भी दिखाया है जिनके माता-पिता अलग हो गए हैं।

कुल मिलाकर यह कहानी स्त्री-पुरुष संबंधों के बिखराव की कहानी है जो मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग की नियति के रूप में अभिव्यक्त होती दिखाई देती है।

प्रश्न: 'नई कहानी' की विशेषताओं के संदर्भ में राजेंद्र यादव की कहानी 'टूटना' पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: 'नई कहानी' संवेदना और शिल्प दोनों ही स्तरों पर पूर्ववर्ती कहानियों से भिन्न थी। संवेदना के धरातल पर 'नई कहानी' आंदोलन की कहानियों के केंद्र में शहरी मध्यवर्ग तथा उसके जीवन से जुड़ी विडंबनाएँ थीं। 'भोगे हुए सच' की प्रामाणिक अभिव्यक्ति इन कहानियों का उद्देश्य था। जीवन के बिखराव को कथानक के बिखराव में बदल देना और प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग इन कहानियों की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ थीं।

राजेंद्र यादव की कहानी 'टूटना' 'नई कहानी' की अधिकांश विशेषताओं को धारण करती है। वैचारिक अंतराल के कारण पति-पत्नी के संबंधों में आने वाली दरार इस कहानी की केंद्रीय संवेदना है। इस कहानी के दोनों मुख्य पात्र- लीना और किशोर शहरी पृष्ठभूमि के हैं। किशोर दांपत्य जीवन में आए टूटन के कारण अकेलेपन एवं संत्रास से जूझता हुआ आत्मनिर्वासन की स्थिति तक पहुँच जाता है।

अन्य नई कहानियों की तरह ही 'टूटना' का भी कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है। कथानक में न कोई आदि है, न उत्कर्ष और न ही अंत। सच तो यह है कि कहानी के अंत में किशोर उतना ही अनिर्णय की स्थिति में है, जितना वह आरंभ में था।

शिल्प के स्तर पर प्रतीकों का प्रयोग (जैसे- पंजा लड़ते हुए आदमी), पूर्वदीप्ति शिल्प का नियोजन, चरित्रों के अंतर्द्वंद्व का प्रभावशाली चित्रण आदि विशेषताएँ 'टूटना' को 'नई कहानी' आंदोलन की बेहतरीन कहानी बनाती हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'टूटना' 'नई कहानी' की अमूमन सभी विशेषताओं का प्रतिबिम्बन करने में सक्षम है।

प्रश्न: आपकी दृष्टि में 'एक दुनिया समानांतर' कहानी संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी कौन सी है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

(225 शब्द)

उत्तर: 'एक दुनिया समानांतर' नई कहानियों का प्रतिनिधि संकलन है। इस संकलन की लगभग सभी कहानियाँ 'नई कहानी' की विशेषताओं से युक्त हैं। किंतु कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जो तुलनात्मक रूप में अन्य कहानियों की अपेक्षा 'नई कहानी' के तत्वों को समग्र रूप से आत्मसात करती हैं।

'मछलियाँ', 'एक और ज़िंदगी', 'यही सच है', तथा 'टूटना' इस संकलन की ऐसी कहानियाँ हैं जो सर्वश्रेष्ठता की लड़ाई में एक-दूसरे को कड़ी टक्कर देती हैं। इनमें से किसी एक को वरीयता देना बहुत ही मुश्किल है, किंतु यदि चुनना ही पड़े तो मैं 'टूटना' का चयन करूँगा।

यूँ तो 'मछलियाँ' और 'एक और ज़िंदगी' में भी स्त्री-पुरुष के बदलते हुए संबंधों का विश्लेषण किया गया है, किंतु 'टूटना' में लेखक इस समस्या की तह तक जाकर उन कारणों की पड़ताल करता है जो संबंध-विच्छेद को जन्म देते हैं।

'टूटना' की एक अहम खासियत है- चरित्र के मनोविज्ञान एवं उसके भीतर चल रहे द्वंद्व का सूक्ष्म अंकन। इस दृष्टि से केवल 'यही सच है' इस कहानी के आस-पास नज़र आती है।

शहरी जीवन की समस्याओं के यथार्थपरक चित्रण के मामले में यह कहानी 'खोई हुई दशाएँ' जैसी कहानियों को भी पीछे छोड़ देती है।

अर्थगर्भी प्रतीकों के प्रयोग, पूर्वदीप्ति शिल्प का नियोजन, चरित्रों के अंतर्द्वंद्व का प्रभावशाली चित्रण आदि शिल्पगत विशेषताओं के कारण यह कहानी शिल्प की दृष्टि से भी सशक्त है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं 'टूटना' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है।

प्रश्न: 'एक दुनिया समानांतर' नामकरण के निहितार्थ को स्पष्ट कीजिए।

(225 शब्द)

उत्तर: 'एक दुनिया समानांतर' नई कहानी आंदोलन से संबंधित प्रसिद्ध कहानीकार राजेंद्र यादव द्वारा संपादित नई कहानियों का प्रतिनिधि संकलन है। इस संकलन की भूमिका में उन्होंने नई कहानियों के समक्ष मौजूद चुनौतियों के साथ-साथ नामकरण के विषय में भी चर्चा की है।

इस संकलन के नामकरण के निहितार्थ को नई कहानी आंदोलन के दौर की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। यह वह दौर था जब हाल ही में प्राप्त आजादी से साहित्यकारों का मोहभंग हो चुका था। तत्कालीन रचनाकार व्यवस्थाओं से उसी प्रकार असंतुष्ट थे जिस तरह विश्वामित्र ब्रह्मा द्वारा बनाई गई सृष्टि से। अतः रचनाकारों ने अपनी सृजनशीलता द्वारा, रचनाओं के माध्यम से एक नई दुनिया का निर्माण किया।

रचनाओं के रूप में सृजित यह दुनिया नई तो थी ही, साथ ही पुरानी पारंपरिक दुनिया के समानांतर भी थी। यह नवीन संसार पुरानी सभी मान्यताओं और धारणाओं को सिरे से खारिज करता था। यह संसार कल्पनाओं की रोमानी दुनिया नहीं बल्कि नग्न और क्रूर यथार्थ पर आधारित था। भोगे हुए सच की अभिव्यक्ति, पुरानी दुनिया के बरक्स खड़ी इस नई दुनिया का मूल स्तंभ थी।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यह शीर्षक नई कहानी की सभी प्रमुख विशेषताओं को धारण करने में सक्षम है।

प्रश्न: निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' पर अति संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

(100 शब्द)

उत्तर: निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' को नामवर सिंह सहित कई हिन्दी आलोचकों ने पहली 'नई कहानी' माना है। संवेदना एवं शिल्प के धरातल पर इसमें वे प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं जो नई कहानी की विशेषताएँ बनीं। जहाँ संवेदना के धरातल पर यह 'अकेलापन' एवं 'अंतहीन इंतजार' का वहन करती है वहीं अपनी शिल्पगत प्रवृत्तियों भाँषा की प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता, लयात्मकता आदि के कारण नए तरह के कहानी-शिल्प का संधान करती है। अंत की दृष्टि से यह नई कहानी की सामान्य प्रवृत्ति से भिन्न भी है क्योंकि इसका अंत उदासी और अनिवार्य के बीच नहीं बल्कि एक सुखद संकेत पर हुआ है।

प्रश्न: 'यही सच है' कहानी की शिल्प-योजना पर प्रकाश डालिये।

(225 शब्द)

उत्तर: 'यही सच है' कहानी की शिल्प-योजना कुछ विशेष प्रयोगों के कारण अत्यंत चर्चित रही है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है- डायरी शैली का प्रयोग। नयी कहानी की प्रयोगशील प्रवृत्तियों में एक यह भी थी कि डायरी के ढाँचे में कहानी लिखी गई। यह कहानी वस्तुतः दीपा की डायरी के कुछ पन्नों का संकलन मात्र है जो क्रमशः कानपुर, कलकत्ता और फिर कानपुर में लिखे गए हैं। इसलिये, स्वाभाविक तौर पर यह कहानी उत्तम पुरुष शैली में रचित है और प्रमुख चरित्र दीपा 'मैं' के रूप में उपस्थित है।

डायरी शैली का एक विशेष लाभ इसकी चरित्र योजना में दिखाई पड़ता है। चूँकि डायरी लिखते हुए व्यक्ति पूरी ईमानदारी का परिचय देता है और बाह्य जीवन में नहीं कही जा सकने वाली बातें भी खुलकर लिखता है, इसलिये दीपा का चरित्र मनोविज्ञान की उन सूक्ष्मताओं को छू सका है जो शायद नयी कहानी में भी दुर्लभ हैं। इसी साफ़गोई का परिणाम है कि कुछ पारंपरिक समीक्षक दीपा के चरित्र को नैतिक रूप से उचित नहीं मानते। डायरी शैली से एक समस्या यह हुई कि एक चरित्र का पूरा सच उभर गया किन्तु बाकी चरित्रों (निशीथ, संजय आदि) के वही पक्ष उभरे जो बाह्य जीवन में व्यक्त होते हैं।

चेतना प्रवाह शैली का सुंदर प्रयोग इस कहानी की अन्यतम विशेषताओं में से एक है। दीपा की चेतना में उत्पन्न होते क्षणिक परिवर्तनों को दिखाने के लिये इससे बेहतर शैली हो भी नहीं सकती थी। उसका नीली साड़ी पहनने का प्रसंग और टैक्सी में बैठे समय उसकी मनःस्थितियाँ-ये दोनों प्रसंग चेतना प्रवाह शैली की दृष्टि से अनूठे हैं।

जहाँ तक शेष शिल्पगत तत्वों का प्रश्न है, वे नयी कहानी की प्रतिनिधि विशेषताओं से मिलते-जुलते हैं। इसकी भाषा सघन अनुभूति प्रधान भाषा है। घटनाओं और वर्णनों की कमी तथा चिन्तन-मनन-विश्लेषण की अधिकता ने कथानक के विन्यास को तोड़ा है जो अन्य नयी कहानियों की भी विशेषता है। चरित्र योजना की खासियत यह है कि दीपा के चेतन और अवचेतन मन में निरंतर चलने वाले द्वन्द्व को इसमें उभारा गया है।

प्रश्न: 'खोई हुई दिशाएँ' कहानी में नई कहानी की विशेषताएँ किस रूप में दिखाई देती हैं? प्रकाश डालिये।

(225 शब्द)

उत्तर: कमलेश्वर की कहानी 'खोई हुई दिशाएँ' नई कहानी आन्दोलन की प्रतिनिधि कहानी है। संवेदना और शिल्प, दोनों ही धरातलों पर यह नई कहानी की विशेषताओं को धारण करती है।

नई कहानी मूलतः शहरी मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं की कहानी है जिसपर अस्तित्ववाद और मनोविश्लेषणवाद जैसी विचारधाराओं का भी प्रभाव रहा है। इसमें संबंधों के टूटन और रिक्तता की व्यंजना एक नए शिल्प-विधान में की गई है।

‘खोई हुई दिशाएँ’ कहानी की मूल समस्या भी शहरी मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन में पसरी एक बड़ी समस्या ‘पहचान के संकट’ की है। इस कहानी का मुख्य चरित्र चन्दर सोचता है- ‘आसपास से सैकड़ों लोग गुजरते हैं पर कोई उसे नहीं पहचानता।’

बड़े शहरों में अकेलापन कितना ज्यादा है, इसकी तड़प दिखती है जहाँ चन्दर अंततः महसूस करता है कि ‘उसे और कुछ भी नहीं चाहिये... परिचय की एक माँग है।’

आत्मनिर्वासन या अजनबीपन की स्थितियाँ ‘खोई हुई दिशाएँ’ में दिखायी देती हैं जो नई कहानी की विशेषता है। कहानी में चन्दर को लगता है कि उसे ‘एक अरसा हो गया, एक जमाना गुजर गया वह खुद अपने से नहीं मिल पाया।’

‘खोई हुई दिशाएँ’ नई कहानी के शैलिक ढाँचे का भी पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। इसके शिल्प की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है- कथानक का टूटना। इसमें न तो ज्यादा चरित्र हैं, न ही घटनाओं की शृंखला।

भाषा-शैली के स्तर पर यह कहानी कविता जैसा प्रभाव धारण करती है। भाषा में प्रतीकों का भी प्रयोग किया गया है। कुल मिलाकर ‘खोई हुई दिशाएँ’ नई कहानी की श्रेष्ठ कहानियों की दौर में शामिल होने योग्य कहानी है।

भारत दुर्दशा

प्रश्न: भारत दुर्दशा की अभिनेयता पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: नाटक की पूर्ण सार्थकता उसके सफलतापूर्वक मंचित होने में ही है। नाटक की सफल अभिनेयता इस बात से निर्धारित की जा सकती है कि उसमें दृश्य विधान, अभिनय संकेत, वेश-भूषा, ध्वनि तथा प्रकाश जैसी व्यवस्थाओं के संकेत पर्याप्त मात्रा में दिए गए हैं अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त उसकी भाषा, चरित्र योजना, कथानक का विकास जैसे तत्व सफल मंचन हेतु सहायक हो पाते हैं या नहीं। इन्हीं आधारों पर भारत-दुर्दशा का विश्लेषण किया जा सकता है।

भारत दुर्दशा का दृश्य विधान सरल तथा प्रभावशाली है। छह अंकों के इस नाटक में छह ही दृश्य हैं, अतः दृश्यों की संख्या इतनी अधिक नहीं कि निर्देशक के लिए बार-बार दृश्य परिवर्तन करने की समस्या उठ खड़ी हो। दृश्य विधान सरल भी है। उदाहरण के लिए पहले अंक में बीथी का दृश्य है। दूसरे अंक में श्मशान, टूटे-फूटे मंदिर, बिखरी हुई अस्थियाँ और कौए, सियार व कुत्ते का दृश्य है। स्पष्ट है कि कुछ पदों व कुछ वस्तुओं के संग्रह से यह दृश्य योजना साकार हो सकती है।

नाटककार ने मंचन की सहजता हेतु अपनी ओर से कई प्रयास किए हैं। सबसे पहले अभिनय संकेतों को देखा जा सकता है। भारतीय नाट्य परम्परा में रंग संकेत देने की परम्परा कम रही है किन्तु भारतेन्दु ने कम से कम चार-पाँच प्रसंगों में अभिनय संकेत दिए हैं। उदाहरण के लिए-

आलस्य- “मोटा आदमी जम्हाई लेता हुआ, धीरे-धीरे आता है।”

भारतेन्दु के समय मंचीय विधान पदों पर आधारित था। भारतेन्दु की कल्पनाशीलता का ही प्रमाण है कि उन्होंने एक स्थान पर प्रकाश व्यवस्था का सक्रिय प्रयोग किया है।

नाटक के प्रभावशाली मंचन में ध्वनि तत्व के प्रयोग की भूमिका प्रबल होती है। पार्श्व ध्वनियों के प्रयोग की विशेष परंपरा तो भारतेन्दु के सामने नहीं थी किन्तु सीमित रूप से उन्होंने इसका भी प्रयोग किया है।

इन सभी तत्वों के साथ वेश-भूषा अर्थात् आहार्य अभिनय के प्रति भी भारतेन्दु ने ध्यान दिया है। उन्होंने विभिन्न चरित्रों की वेश-भूषा का स्पष्ट अंकन किया है। उदाहरण के लिए-

भारत- ‘फटे कपड़े पहिने, सिर पर अर्द्ध किरीट, हाथ में टेकने की छड़ी, शिथिल अंग’।

इन सब सावधानियों के साथ-साथ भारत दुर्दशा की रंगमंचीय सफलता में भाषायी सहजता, चुस्त संवाद योजना तथा मुहावरों, लोकोक्तियों और हास्य व्यंग्य के प्रयोग की भी बड़ी भूमिका है।

किन्तु, भारत दुर्दशा की रंगमंचीयता निरापद नहीं है। कुछ ऐसे तत्व इस नाटक में हैं जो मंचीय प्रभाव को शिथिल बनाते हैं। सबसे पहली समस्या है-गीतों की अधिकता। इनसे कथा का प्रवाह भंग होता है। चरित्रों की अधिकता और उनकी प्रतीकात्मकता एक अन्य समस्या है जिसके कारण दर्शक किसी भी चरित्र से निरन्तर तथा सहज संबंध नहीं बना पाता। संवाद योजना में कहीं-कहीं लम्बे स्वगत कथन आए हैं जिससे संवाद भाषण बन गए हैं और नाटकीय तनाव पर भावुकता हावी हो गई है। कहीं-कहीं देशी और ग्राम्य शब्दावली अर्थबोधन में समस्या उत्पन्न करती है तो कहीं-कहीं रंग संकेतों की कमी निर्देशक को असहाय बना देती है।

इन सीमाओं के बावजूद यह तथ्य ध्यान रखा जाना चाहिए कि भारतेन्दु के जीवनकाल में ही लखनऊ, बनारस और बलिया आदि स्थानों पर इस नाटक का सफल मंचन किया जा चुका था। आज भी यदि निर्देशक को थोड़ी सी स्वाधीनता प्रदान की जाए तो गीतों को कुछ काँट-छाँट कर तथा भाषा को कुछ समसामयिक बनाकर इसका प्रभावशाली मंचन करना कठिन नहीं है।

प्रश्न: 'भारत दुर्दशा' नाटक में निहित नवजागरण चेतना का विवेचन कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के लेखक हैं और यह समय भारतीय समाज में सबसे गहरे संक्रमण का साक्षी रहा है। इस दौर में भारतीय समाज पहली बार अंग्रेजों की संस्कृति से परिचित हुआ और उसके प्रति असमंजस, आकर्षण और विस्मय जैसे भाव को महसूस किया और यही पृष्ठभूमि भारतीय नवजागरण का आधार बनी।

नवजागरण चेतना के अंतर्गत आमतौर पर अतीत की महानता को उभारा जाता है। अतीत की महानता इन पंक्तियों में स्पष्टतः दिखाई देती है-

"सबके पहले जेहि ईश्वर धन बल दीनो, / सबके पहले जेहि सभ्य विधाता कीनो।"

अपनी दुर्दशा की चिंता नवजागरण के केंद्र में होती है। भारत दुर्दशा में भी यह चिंता केंद्र में है। 'हाहा भारत दुर्दशा न देखी जाई' का विलाप भी इसी चिंता का परिणाम है। नाटक के विभिन्न पात्रों की बैठक भी इसी ओर संकेत करती है।

नवजागरण चेतना का तीसरा पक्ष है अपनी दुर्दशा के कारणों की खोज करना तथा उन्हें दूर करने का प्रयास करना। नवजागरण की चेतना से युक्त रचनाकार अपनी दुर्दशा का ठीकरा दूसरों के सिर पर नहीं फोड़ता बल्कि कारणों की तलाश अपने समाज के भीतर करता है। भारतेन्दु ने उन कारणों की पूरी पड़ताल की है जो दुर्दशा के लिए जिम्मेदार हैं। धर्म, आलस, मोह, अनावृष्टि, सूखा, मदिरापान, फैशन, महामारी कुछ ऐसे ही तत्व हैं। भारतेन्दु ने भारत के पतन में धर्म की भूमिका की पहचान सफलतापूर्वक की है। उनके अनुसार धर्म की वजह से विभिन्न मत-मतान्तरों में हुआ विभाजन ही देश को ले डूबा। भारतेन्दु ने धन के बहिर्गमन की भी पतन के एक कारण के रूप में पहचान की है-

"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी। / पै धन विदेश चलो जात यहै अति ख्वारी।"

नवजागरण चेतना का एक अनिवार्य पक्ष है कि हम दूसरी संस्कृति के अच्छे मूल्यों को आत्मसात करना चाहते हैं। अंग्रेजी संस्कृति के जो मूल्य भारत को आकर्षित कर रहे थे उनमें इहलोकवाद, वैज्ञानिक शिक्षा, समानता, स्वतंत्रता आदि प्रमुख थे। भारतेन्दु ने भी ऐसे कुछ मूल्यों को सीखने की ललक दिखाई है-

"देखो विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है।"

स्पष्ट है कि भारत दुर्दशा का प्रतिपाद्य नवजागरण की चेतना का प्रसार करना है। इस दृष्टि से यह सिर्फ साहित्यिक रचना न होकर समाज को बदलने के लिए अपनी ठोस भूमिका निभाने वाली रचना है।

प्रश्न: क्या भारत-दुर्दशा को 'त्रासदी' माना जा सकता है? अपना मत प्रकट कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: त्रासदी यूनानी साहित्य की एक प्राचीन विधा है। ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने पहली बार त्रासदी का व्यवस्थित विवेचन किया और उसके बाद कई सिद्धांतकारों जैसे बुचर, येटकिन्स, हीगेल, जॉर्ज लुकाच आदि ने अपने-अपने तरीकों से त्रासदी की व्याख्या की।

सामान्य दृष्टि से त्रासदी ऐसी हर रचना को कहा जा सकता है जिसका अंत नायक की सफलता में न होकर दुख और पीड़ा की सघन अनुभूति में हो। नायक का खलनायक के हाथों पराजित होना, नैतिक व मानसिक स्तर पर टूट जाना तथा

मृत्यु को प्राप्त होना- ये सब दृश्य प्रायः त्रासदी के अंत में दिखाई पड़ते हैं। किंतु, यदि त्रासदी के व्यवस्थित ढाँचे तथा नियमों को आधार बनाएँ तो किसी रचना का त्रासदी होना कई अन्य कारकों पर भी निर्भर होता है, जैसे द्वंद्व की सघन उपस्थिति के कारण कथानक का वक्र होना; नायक का भद्र, साहसी व सत्य के पक्ष में संघर्षशील होना; नायक की अति नैतिकता से उत्पन्न गंभीर भूल अर्थात् हैमर्शिया के कारण नायक का पतन की ओर बढ़ना; कथानक का पाँच क्रमबद्ध चरणों (व्याख्या, विकास, चरम बिंदु, निगति तथा पतन) से गुजरना तथा रचना के अंत में विरेचनमूलक प्रभाव का उत्पन्न होना ऐसे प्रमुख लक्षण हैं।

भारत दुर्दशा त्रासदी है या नहीं- इसका निर्णय दो स्तरों पर भिन्न-भिन्न तरीकों से किया जा सकता है-

सामान्य दृष्टि से देखें तो इसे इस अर्थ में त्रासदी माना जा सकता है कि इसका अंत बेहद दुखद है। भारत का अत्यंत कमजोर होना, आंतरिक व बाह्य कमजोरियों के कारण उसका दुर्दशाग्रस्त होना, तमाम कोशिशों के बावजूद उसका पुनः न उठ पाना- ये सभी तथ्य नाटक के अंत को दुखद बनाते हैं। दुख की यह छाया नाटक के पहले अंक से ही मंडराने लगती है और हर अंक से साथ और गहरी होती जाती है। नाटक के अंत में न तो कोई सुख है और न ही सुख की संभावना। इस दृष्टि से भारत दुर्दशा को ट्रेजिक रचना माना जा सकता है।

किंतु, यदि त्रासदी की तकनीकी धारणा के आलोक में भारत दुर्दशा का मूल्यांकन करें तो कई समस्याएँ दिखाई पड़ती हैं। सर्वप्रथम, इसका नायक वैसा भद्र, दृढ़, साहसी और नैतिक नहीं है जैसा पारंपरिक त्रासदी में होता है। साहस का तो उसमें इतना अभाव है कि खलनायक की दहाड़ सुनकर ही वह बेहोश हो गया है और भारत भाग्य द्वारा उसे जगाए जाने की अनेकानेक कोशिशों के बाद भी वह होश में नहीं आता। चूँकि नायक कमजोर है, इसलिए कथानक वक्र न होकर रैखिक बन गया है। उसमें द्वंद्व पूर्णतः अनुपस्थित है। नायक का पतन किसी हैमर्शिया के कारण होता हुआ नज़र नहीं आता बल्कि अपनी ही आंतरिक कमजोरियों का परिणाम दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि अंतिम स्थिति में नायक को मरणासन्न अवस्था में देखकर भी पाठक के मन में वह बेचैनी या छटपटाहट पैदा नहीं होती जो ट्रेजिक नायक के पतन के समय होती है। इसी प्रकार, नाटक के अंत में दुख महसूस तो होता है, किंतु यह उतना घना और मार्मिक नहीं है कि उसे 'विरेचन' कहा जा सके।

किंतु, इसका यह अर्थ नहीं कि भारत दुर्दशा का त्रासदी न होना भारतेंदु की विफलता है। विफलता तब होती जब भारतेंदु ने त्रासदी लिखने का प्रयास किया होता पर लिख न पाए होते। उनकी कोशिश तो यह है ही नहीं कि वे ट्रेजिडी के ढाँचे को यथारूप प्रस्तुत करें। वे साहित्य को सिर्फ समाजहित से जोड़कर देखते हैं और भारत दुर्दशा लिखने के पीछे उनका उद्देश्य आत्ममोह-ग्रस्त भारतीय जनता को झकझोरना और प्रेरित करना है, न कि ट्रेजिडी के शिल्प को साधना। अपने इस सामाजिक उद्देश्य की दृष्टि से उन्हें ट्रेजिडी के पूरे ढाँचे की ज़रूरत महसूस नहीं हुई, इतना ही पर्याप्त लगा कि नाटक का अंत दुखद हो।

उपरोक्त विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत दुर्दशा सामान्य अर्थ में ही त्रासदी के निकट है; त्रासदी के पारंपरिक, तकनीकी व ढाँचागत अर्थ में उसे त्रासदी नहीं कहा जा सकता। यह भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि भारतेंदु की योजना त्रासदी लिखने की नहीं थी, इसलिए यह भारतेंदु या भारत दुर्दशा की विफलता भी नहीं है।

प्रश्न: भारत दुर्दशा में विभिन्न नाट्य परंपराओं या शैलियों का समावेश किस अनुपात में हुआ है? स्पष्ट कीजिये।

(225 शब्द)

उत्तर: भारतेंदु भारतीय नाट्य परंपरा से तो वे गहरे तौर पर परिचित थे ही, साथ ही वे पारसी शैली, लोक शैली, अरस्तवी परंपरा तथा स्वच्छंदतावादी परंपरा को भी जानते समझते थे। उन्होंने अपने नाटक भारत दुर्दशा में प्रभाव उत्पन्न करने के लिये इन सभी शैलियों का समुचित समावेश किया है।

भारतीय परंपरा का 'भारत-दुर्दशा' में कम प्रभाव रहा क्योंकि यह न तो सुखांत है और न ही इसका उद्देश्य रस है, और न ही इस नाटक में भारतीय नेता के लक्षण हैं।

अरस्तवी परंपरा का प्रभाव संस्कृत नाट्य कला से अधिक है। दुखांत तथा कुछ-कुछ विरेचन जैसे भाव की उपस्थिति को सीमित अर्थों में त्रासदी कहा जा सकता है। थोड़े से रंग संकेत भी नजर आते हैं।

पारसी थियेटर का काफी प्रभाव है। इसमें गीतों की अधिकता है, गीतों में मनोरंजन के तत्व ज्यादा हैं। मंच विधान पदों पर आधारित है। कहीं-कहीं मनोरंजन में जो हल्कापन दिखता है वह भी पारसी थियेटर के प्रभाव से दिखता है।

भारत-दुर्दशा में लोक-नाट्य शैली का प्रभाव भी नजर आता है। जैसे- गीतों का प्रयोग; मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा धार्मिक कथनों को उद्धरण की तरह इस्तेमाल करना इत्यादि। कहीं-कहीं भाषा की ग्राम्यता भी नजर आती है।

भारत-दुर्दशा में प्रभावी रूप में स्वच्छंदतावादी परंपरा शैली भी नजर आती है। चरित्र योजना के अंतर्द्वंद्व के स्तर पर तो स्वच्छंदतावाद का असर नहीं दिखता है। पहले देशी का अपने आप से ही बात करना और उसी में ही अच्छा सुझाव देना स्वच्छंदतावाद की झलक दे सकता है। भारतेन्दु ने नियमों को काफी हद तक खारिज किया है। इस अर्थ में वे स्वच्छंदतावाद के रास्ते पर चलते हुए दिखते हैं- आत्म हत्या का दृश्य दोनों परंपराओं में वर्जित है पर वह दिखाया है। कथानक के विकास में न तो कार्यावस्थाएँ हैं, न ही चरण है। चरित्र निर्माण में भी न भारतीय सिद्धांतों का पालन है और न ही पश्चिमी सिद्धांतों का।

स्कन्दगुप्त

प्रश्न: कथा के धरातल पर ऐतिहासिक होते हुए भी स्कन्दगुप्त क्यों एक आधुनिक नाटक है? तार्किक उत्तर लिखिए। (300 शब्द)

उत्तर: अन्य रचनाकारों की भांति इतिहास के प्रति प्रसाद का नजरिया भी उपयोगितावादी था। प्रसाद ने 1928 में स्कन्दगुप्त नाम का ऐतिहासिक नाटक लिखा। परंतु इस नाटक के लेखन का उद्देश्य अतीत का गौरवगान करना नहीं था बल्कि प्रसाद ऐतिहासिक परिस्थिति में आधुनिक समस्याओं को रखकर उनका हल सुझाना चाहते हैं। इसी कारण यह नाटक ऐतिहासिक कलेवर का होते भी मूल्यबोध के स्तर पर आधुनिकता को धारण करता है।

स्कन्दगुप्त का ऐतिहासिक ढांचा सिर्फ इसलिए रखा गया है क्योंकि प्रसाद इतिहास के प्रेरणा लेना चाहते हैं। यदि इस ऐतिहासिक ढांचे को 1928 के भारत पर आरोपित कर दें तो ऐतिहासिकता का आवरण हटने लगता है और राष्ट्रीय चिंताएँ केंद्र में आ जाती हैं। स्कन्दगुप्त स्वाधीनता संग्राम के नेता का प्रतीक है। पुष्यमित्र और हूण विदेशी आक्रांताओं अर्थात् ब्रिटिश सत्ता के प्रतीक हैं। बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष उस समय की हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता की अभिव्यक्ति है जबकि मालव और गुप्त साम्राज्य का संबंध आधुनिक क्षेत्रवादी प्रवृत्तियों को नकारने की कोशिश है। इन प्रतीकों के आधार पर देखने पर नाटक स्पष्ट रूप से आधुनिक नजर आता है। इस नाटक की पृष्ठभूमि भले ही ऐतिहासिक हो लेकिन समस्याएँ आधुनिक हैं।

स्कन्दगुप्त नाटक का नायक स्कन्दगुप्त राजनीतिक दुरभिसंधियों से त्रस्त है। राजमाता तथा उसका सौतेला भाई उसे शासन से जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी हटाना चाहते हैं। आधुनिक समाज में भी किसी भी तरह सत्ता प्राप्त करने की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसमें दर्शायी गई बौद्ध-हिंदू की सांप्रदायिकता की समस्या हिन्दू मुस्लिम सांप्रदायिकता के रूप में विद्यमान है और देश का एक विभाजन कराने के बाद भी पूर्णतः शांत नहीं हुई है।

देश में क्षेत्रवाद की समस्या आज पहले से कहीं भीषण रूप धारण कर रही है प्रसाद ने अपने नाटक में केंद्र-राज्य के समरसतापूर्ण संबंधों के रूप में इसके समाधान का उपाय सुझाया है।

स्कन्दगुप्त में इन सभी आधुनिक समस्याओं की उपस्थिति व इनके समाधान के संकेत तो इस नाटक को आधुनिक बनाते ही हैं। परंतु इस नाटक को आधुनिक बनाने वाला सबसे बड़ा तत्व है इस नाटक में प्रसाद द्वारा प्रतिपादित जीवन दृष्टि प्रसाद अपने नाटक के माध्यम से जीवन के वास्तविक उद्देश्य भी प्रतिपादित करते हैं। मानव आज भी आंतरिक विषमताओं का शिकार है। जैसे-जैसे वह अपनी मूल प्रवृत्तियों से कटता जा रहा है वैसे-वैसे यह आंतरिक विषमता बढ़ती जा रही है। इस विषमता के उत्तर के रूप में प्रसाद समरसता युक्त आनंदमूलक शांत रस को प्रस्तावित करते हैं।

संवेदना के साथ-साथ शिल्प के स्तर पर भी स्कन्दगुप्त एक आधुनिक नाटक है। इस प्रकार सभी कसौटियों पर कथा के धरातल पर ऐतिहासिक होते हुए भी स्कन्दगुप्त एक आधुनिक नाटक है।

प्रश्न: 'स्कंदगुप्त' नाटक की चरित्र-योजना पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: स्कंदगुप्त 1928 ई. का नाटक है, जो प्रसाद के नाट्य-लेखन का लगभग अंतिम दौर है। प्रसाद को नाटकों की जो परंपरा विरासत में मिली थी, उसमें रस को साध्य माना जाता था और चरित्र को साधन। उन्हें भारत में चरित्र-प्रधान नाटकों की परंपरा नहीं मिली थी। वे पश्चिम की अरस्तवी परंपरा, पारसी रंगमंच शैली तथा लोकनाट्य शैली इत्यादि से भी परिचित थे। किंतु, इनमें से कोई भी परंपरा चरित्र-प्रधान नाटकों पर आधारित नहीं थी। इसी दौर में प्रसाद स्वच्छंदतावादी परंपरा के नाटकों से परिचित हुए और चरित्रों की प्रधानता और स्वाभाविकता ने उन्हें प्रभावित किया। उनके नाटकों का अंतिम दौर 'उद्देश्य-प्रधान' नाटकों से 'चरित्र-प्रधान' नाटकों की ओर संक्रमण का दौर है। यह संक्रमण उनके अंतिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' (1934) में पूर्णता के बिन्दु पर पहुँचा क्योंकि ध्रुवस्वामिनी सही अर्थों में हिन्दी के चरित्र-प्रधान नाटकों की परंपरा का प्रस्थान बिंदु है। स्कंदगुप्त पूर्णतः चरित्र-प्रधान नाटक तो नहीं है किंतु उसमें चरित्रों को स्वतंत्र महत्त्व देने की कोशिश ज़रूर दिखाई पड़ती है।

स्कंदगुप्त के चरित्र सामान्यतः वर्गीकृत हैं अर्थात् 'अच्छाई' या 'बुराई' के प्रतीक हैं। यह विशेषता भारतीय तथा अरस्तवी दोनों परंपराओं में दिखती है। स्कंदगुप्त के चरित्र तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं— अच्छे, बुरे तथा अच्छाई-बुराई के मिश्रण। अच्छे वर्ग के चरित्र देवता सरीखे हैं जिनमें नैतिक कमियाँ अनुपस्थित हैं, जैसे— 'पर्णदत्त', 'चक्रपालित', 'बंधुवर्मा', 'भीमवर्मा', 'कमला', 'देवसेना', 'रामा' इत्यादि। बुरे वर्ग के चरित्र दानवीय प्रवृत्तियों से युक्त हैं जो निरंतर अनैतिक कर्म करते हैं, जैसे— 'प्रपंचबुद्धि', 'विजया' इत्यादि। तीसरे वर्ग में वे चरित्र हैं जिनमें अच्छाई और बुराई साथ-साथ विद्यमान हैं। किसी में अच्छाई का अनुपात अधिक है तो किसी में बुराई का। ऐसे चरित्र आम तौर पर अंत में बुराई से अच्छाई की ओर बढ़ते हुए दिखाए गए हैं। उदाहरण के लिए— 'भटार्क', 'शर्वनाग', 'पुरगुप्त', 'अनंतदेवी' इत्यादि।

स्वच्छंदतावादी नाटककार होने के कारण प्रसाद चरित्रों की सहजता को उभारना चाहते हैं, किसी 'आदर्श' या 'उद्देश्य' की वजह से उन्हें एक-आयामी, यांत्रिक तथा निर्जीव नहीं बनाना चाहते। वे सभी चरित्रों को तो बहुआयामी नहीं बना सके, किंतु महत्त्वपूर्ण चरित्रों के स्तर पर उन्होंने इसका पर्याप्त ध्यान रखा। वे जानते थे कि अच्छे से अच्छा व्यक्ति भी किसी न किसी बिन्दु पर बुरा होता है और बुरे से बुरा व्यक्ति भी किसी न किसी के लिए अच्छा ज़रूर होता है। इसी प्रकार, जो व्यक्ति बाहर से बेहद दृढ़, साहसी व अति नैतिक नज़र आते हैं, वे भी आंतरिक स्तर पर घुटन और विचलन महसूस करते हैं और अंतर्संघर्षों से नहीं बच पाते। स्कंदगुप्त का चरित्र विशेष रूप से इस दृष्टिकोण का परिचायक है। वह देश को बचाना चाहता है किंतु देवसेना का आकर्षण उसमें विचलन पैदा करता है। इसी प्रकार, वह राज्य के दायित्वों को निभाना चाहता है किंतु उसके वास्तविक मन को 'बौद्धों के निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी संपूर्ण विस्मृति' की तलाश है। देवसेना के भीतर भी ऐसा ही अंतर्द्वंद्व है।

संक्षेप में, प्रसाद की चरित्र योजना की मूल कमियाँ निम्नलिखित हैं—

- (क) नाटक के आकार की दृष्टि से चरित्रों की संख्या अधिक है। इसमें कुल 33 चरित्र हैं। इन सभी को याद रख पाना पाठक के लिए कठिन होता है। इसलिए कथा के साथ कहीं-कहीं तादात्म्य टूट जाता है।
- (ख) चरित्रों के पर्याप्त विकास के लिए आवश्यक होता है कि ऐसी विभिन्न परिस्थितियाँ उपलब्ध कराई जाएँ जिनमें उनके विभिन्न पक्ष उभर सकें। यदि एक दो प्रमुख चरित्रों को छोड़ दें तो बाकी चरित्रों के लिए पर्याप्त स्थितियाँ नहीं जुटाई जा सकी हैं।
- (ग) कुछ चरित्रों, विशेषतः अधिकांश नारी चरित्रों के संदर्भ में प्रसाद का उद्देश्य हावी हो गया है। उदाहरण के लिए, विजया नाटक में सिर्फ इसलिए है ताकि उसके 'कंट्रास्ट' के माध्यम से देवसेना की महानता को उभारा जा सके।

कुल मिलाकर, स्कंदगुप्त की चरित्र योजना ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उद्देश्य-प्रधान मानसिकता को छोड़ते हुए चरित्र-प्रधान नाट्य लेखन की ओर बढ़ने की प्रक्रिया हिन्दी नाटक के इतिहास में प्रसाद ने ही पूरी की और स्कंदगुप्त इसी प्रयोगशीलता की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से जो परिवर्तन प्रेमचंद ने उपन्यासों की धारा में किया, वही परिवर्तन नाटकों की परंपरा में करने का श्रेय जयशंकर प्रसाद को मिलता है।

प्रश्न: 'स्कंदगुप्त नाटक के परिप्रेक्ष्य में प्रसाद के नारी चरित्रों के स्वरूप एवं महत्ता पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: प्रसाद नवजागरण के दौर के रचनाकार हैं और इस दौर में स्वाभाविक तौर पर संस्कृति के विविध पक्षों का पुनर्मूल्यांकन हुआ। यह वह दौर है जब नारी पहली बार घर से बाहर निकलकर स्वाधीनता संग्राम जैसे वृहत् दायित्वों को निभा रही थी और पुरुष उसके इस नव्य रूप को देखकर अचंभित था। प्रसाद इसी संक्रमण काल के लेखक हैं। इसलिए नारी को लेकर उनके दृष्टिकोण में एक ऊहापोह की स्थिति विद्यमान है। रोचक तथ्य यह है कि जहाँ प्रसाद के समर्थक उनकी नारी चेतना से अभिभूत नजर आते हैं, वहीं दिनकर और मुक्तिबोध जैसे प्रगतिशील आलोचक प्रसाद की नारी दृष्टि को मध्यकालीन व रोमांसवादी करार देते हैं। 'कामायनी' जैसे महाकाव्यों और 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' जैसे नाटकों में प्रसाद की नारी चेतना साफ तौर पर झलकती है।

प्रसाद की मान्यता है कि नारी का वास्तविक रूप भावना, कोमलता, परोपकार तथा श्रद्धा जैसे गुणों से मिलकर बनता है। जिस नारी में ये सभी गुण मौजूद हों, उसकी महानता पर वे मुग्ध नजर आते हैं। 'कामायनी' का प्रसिद्ध कथन 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' इसी वैचारिकता का प्रतिफलन है। 'स्कंदगुप्त' में भी ऐसे कई नारी चरित्र हैं जो इन गुणों का समग्र या आंशिक प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण के लिए—

1. देवसेना ऐसे सभी गुणों से युक्त है, मुख्यतः त्याग व राष्ट्र-प्रेम की भावना उसमें प्रखर हुई है। उदाहरण के लिए, उसका कथन है— "मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी।"
2. देवकी— क्षमा का गुण।
3. कमला— देश के दायित्वों के लिए पुत्र-मोह का त्याग।
4. रामा— कृतज्ञता का गुण, किसी भी लालच के सामने न झुकने की ताकत।

'स्कंदगुप्त' के नारी चरित्रों में एक वर्ग बुरे चरित्रों का भी है। प्रसाद उन नारियों को अच्छा नहीं मानते जो नैतिक मूल्यों से समझौता करती हैं, स्वार्थ या लालच से भरकर अपनी प्रतिबद्धताओं को भूल जाती हैं। 'स्कंदगुप्त' की विजया और अनंत देवी ऐसी ही नारी चरित्र हैं।

प्रसाद के साहित्य में नारी चरित्रों की महानता चाहे दिखती हो, रचना के कथानक की दृष्टि से उनका स्वतंत्र महत्त्व कम है। 'स्कंदगुप्त' इस दृष्टि से एक बेहतर अपवाद है क्योंकि इसमें देवसेना का महत्त्व बहुत ज्यादा है।

देवसेना का अंतिम निर्णय किसी बाध्यता का नहीं बल्कि उसकी स्वतंत्र वैचारिकता का प्रमाण है।

प्रश्न: स्कंदगुप्त पर पारसी रंगमंच परंपरा के प्रभाव का विवेचन कीजिए।

(225 शब्द)

उत्तर: जयशंकर प्रसाद पारसी रंगमंच को अश्लील एवं फूहड़ मानते हुए उसके घोर विरोधी थे। किन्तु, इसके बावजूद भी वे पारसी रंगमंच के प्रभाव से स्वयं को पूर्णतया बचा नहीं पाए। उनके सभी नाटकों पर न्यूनाधिक रूप से पारसी रंगमंच का प्रभाव दिखाई देता है। 'स्कंदगुप्त' नाटक की निम्नांकित विशेषताओं पर स्पष्टतः पारसी रंगमंच का प्रभाव लक्षित होता है—

- रंगमंचीय विधान का पर्दे पर आधारित होना।
- आकर्षक चमत्कार पूर्ण दृश्यों की योजना - जैसे स्कंदगुप्त के प्रायः सम्पूर्ण प्रथम अंक में या शिप्रा तट पर बाढ़ आने की घटना।
- रोमांचक दृश्यों से भरपूर नाटक - गहन अंधकार में अभिसार, षड्यंत्र, हत्या, अपहरण आदि, जैसे प्रपंचबुद्धि द्वारा देवसेना की हत्या का प्रयास।
- चरित्रों में असाधारण परिवर्तन - डाकू, वेश्या, देशद्रोही जैसे चरित्रों का बेहतर चरित्रों में तब्दील होना, जैसे भटार्क।
- गीत योजना - यद्यपि संस्कृत नाटकों में भी गीत योजना की प्रवृत्ति दिखाई देती है, पर प्रसाद के आरंभिक नाटकों के गीत शुद्धतः तथा बाद के अंशतः पारसी रंगमंच से प्रभावित हैं, जैसे विजया का गीत— "उमड़ कर चली भिगोने आज"

किन्तु, ध्यातव्य है कि ये प्रभाव बाह्य स्तर पर ही हैं, प्रसाद ने नाटकों की आत्मा भारतीय रखी है। पारसी एवं पश्चिमी रंगमंच के प्रभाव नाटक में सहायक रूप में ही स्वीकार किए गए हैं।

प्रश्न: स्कंदगुप्त सुखांत नाटक है या दुखांत, या प्रसादांत? अपना तार्किक मत प्रकट कीजिये। (225 शब्द)

उत्तर: नाटक को अंत की दृष्टि से प्रायः दो प्रकार का माना जाता है- सुखांत व दुखांत। भारतीय नाट्य परम्परा में फलागम के बिन्दु पर नाटक समाप्त होता है, इसलिये ये नाटक सुखांत कहलाते हैं। पश्चिम की अरस्तवी परम्परा में विरेचनमूलक अंत पर बल दिया जाता है, जिसके कारण वे नाटक दुखांत कहलाते हैं।

प्रसाद स्वच्छंदतावादी नाटककार हैं, इसलिये उन्होंने अपने दृष्टिकोण को पारम्परिक ढाँचों से ज्यादा महत्व दिया है। उनके अधिकांश नाटक एक विशेष भाव-बिन्दु पर समाप्त होते हैं, जिसे सुखांत या दुखांत कहना सम्भव नहीं है। कुछ आलोचक इसे मिश्रांत नाटक कहते हैं, जबकि कुछ के अनुसार इसे 'प्रसादांत' कहते हैं।

स्कंदगुप्त नाटक की बात करें तो यह दुखांत नाटक नहीं है इसके निम्न कारण हैं-

1. आर्यावर्त पर आए संकट टल गए तथा बौद्धों व ब्राह्मणों के बीच वैचारिक मतभेद सुलझ गया।
2. अगर दुखांत होता तो स्कंदगुप्त युद्ध में मारा जाता या पराजित होता।

स्कंदगुप्त सुखांत नाटक भी नहीं है, क्योंकि-

1. स्कंदगुप्त को इस नाटक के अंत में दुखी दिखाया गया है।
2. फलागम या फल प्राप्ति का निर्धारण सुखांत बिन्दु पर नहीं हुआ है।
3. स्कंदगुप्त दुनिया को जीतकर भी देवसेना को नहीं जीत पाता।

स्कंदगुप्त प्रसादांत नाटक है इसके निम्न कारण हैं-

1. स्कंदगुप्त का अंत सुख व दुःख का मिश्रण है।
2. इस नाटक में आनंद सुख और दुःख दोनों से परे वह अवस्था है जहाँ जीवन की क्षणिक उत्तेजनाएँ शामिल हो जाती हैं और मुनष्य समस्त स्थिति में पहुँचकर असीम शांति का अनुभव करता है।

निष्कर्षतः इसे प्रसादांत नाटक कहा जाता है जो कि उचित ही है।

प्रश्न: रंगमंचीयता के धरातल पर 'भारत-दुर्दशा' और 'स्कंदगुप्त' की तुलना कीजिये। (225 शब्द)

उत्तर: 'भारत दुर्दशा' भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा लिखित नाटक है तथा 'स्कंदगुप्त' जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित नाटक है। भारत दुर्दशा 1875 ई. में लिखा गया नाटक है तथा स्कंदगुप्त 1928 ई. में लिखा गया है।

रंगमंचीयता की दृष्टि से भारत दुर्दशा व स्कंदगुप्त की तुलना निम्नवत् है-

- भारतेन्दु का साहित्य लोक से संवाद के लिए था, उन्हें अपने साहित्यिक महत्त्व की कोई परवाह नहीं थी। उन्होंने नाटक सिर्फ इसलिए लिखा कि साधारण निरक्षर जनता को जागृत करने के लिये नाटक ही सबसे उपयुक्त विधा है। प्रसाद का उद्देश्य सिर्फ जनजागरण नहीं था, बल्कि साहित्यिक उत्कृष्टता उपलब्ध करना भी था। इसलिए प्रसाद मंचन को नाटक की सफलता का निणायक तत्व नहीं मानते।
- भारत दुर्दशा में '6 अंक व 6 दृश्य' हैं जबकि स्कंदगुप्त में पाँच अंक व 33 दृश्य हैं। मंचन की मुख्य समस्या दृश्य परिवर्तन होती है, न की अंक परिवर्तन। भारत दुर्दशा के सभी दृश्य परस्पर सम्बद्ध हैं, इसलिए उसमें बिखराव नहीं है जबकि स्कंदगुप्त में दृश्यों की असंबद्धता के कारण बिखराव पैदा हो गया है।
- 'भारत दुर्दशा' में सिर्फ एक कथा है, कोई अवांतर कथा नहीं है इसलिए इसमें बिखराव पैदा नहीं होता है। स्कंदगुप्त में न सिर्फ अवांतर कथाएँ हैं बल्कि कहीं-कहीं वे आधिकारिक कथा के प्रवाह को बाधित भी करती हैं।
- दोनों नाटकों में चरित्रों की संख्या अधिक है किन्तु भारत दुर्दशा में चरित्रों की संख्या मंचन में बाधक नहीं बनती। स्कंदगुप्त के चरित्र ऐतिहासिक होने के कारण सामान्य दर्शक के लिये अबूझ हैं।
- दोनों में गीतों की अधिकता मंचन हेतु बाधक है किन्तु 'भारत दुर्दशा' में यह बाधा कम महसूस होती है, क्योंकि इसके गीत सरल व सहज हैं। स्कंदगुप्त के गीत साहित्यिक अधिक हैं।

- 'भारत दुर्दशा' की भाषा सरल व सहज है। कहीं-कहीं मुहावरों- लोकोक्तियों का प्रयोग किया गया है। भाषा की दृष्टि से स्कंदगुप्त' नाटक विशिष्ट वर्ग से जुड़ा है। सामान्य वर्ग से नहीं।
- 'भारत दुर्दशा' का मंचन एक घण्टे में हो सकता है जबकि 'स्कंदगुप्त' का 5-6 घण्टों में।
निष्कर्षतः मंचन की दृष्टि से भारत दुर्दशा बेहतर है।

प्रश्न: 'दर्शन में प्रसाद की गहरी अभिरुचि थी जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं में घुला दिया है।' इस कथन के आलोक में 'स्कंदगुप्त' नाटक की दार्शनिक भंगिमा पर विचार कीजिये। (300 शब्द)

उत्तर: प्रसाद की दर्शन में गहरी रुचि थी। वे भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों के गहरे अध्ययन थे। अपने व्यापक अध्ययन के आधार पर विभिन्न दार्शनिक सरणियों से विशिष्ट तत्वों का चयन करते हुए उन्होंने अपने दर्शन का ढाँचा निर्मित किया है।

प्रसाद का मूल दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' या 'आनंदवाद' है जो उन्होंने शैव परंपरा से ग्रहण किया है। इसके अनुसार, जीवन का चरम उद्देश्य समरसता की स्थिति उपलब्ध करना है जिसमें इच्छा, क्रिया व ज्ञान का असंतुलन मिट जाता है और व्यक्तित्व के भीतर आंतरिक सामंजस्य उपलब्ध होता है। देवसेना का व्यक्तित्व समरसता का जीता जागता उदाहरण है। स्कंदगुप्त इसी समरसता की साधना करना चाहता है। नाटक के प्रथम वाक्य में ही उसका अधिकार सुख को 'मादक किन्तु सारहीन' कहना इसका संकेत है। यह दर्शन वहाँ और साफ़ होकर उभरता है जहाँ स्कंदगुप्त अपने जीवन का उद्देश्य इस प्रकार प्रस्तुत करता है- "बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी संपूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिये।"

'स्कंदगुप्त' में 'आनंदवाद' के अतिरिक्त कई अन्य दर्शनों की अभिव्यक्ति भी दिखाई पड़ती है। इनमें कुछ प्राचीन भारतीय दर्शन हैं तो कुछ आधुनिक पश्चिमी दर्शन भी। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है 'नव्य वेदांत दर्शन', जिसने शंकराचार्य की तरह जगत को मिथ्या कहने के स्थान पर उसे परम तत्व की ही आह्लादपूर्ण अभिव्यक्ति बताया था। प्रसाद के 'आनंदवाद' में भी 'नव्य वेदांत' का यह स्वर सुनायी पड़ता है। जिस प्रकार 'कामायनी' की श्रद्धा संपूर्ण जगत को 'महाचिति की लीलामय अभिव्यक्ति' बताती है, वैसे ही 'स्कंदगुप्त' की देवसेना भी जगत के कण-कण में ईश्वरीय संगीत सुनती है। वह कहती है- "विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है। प्रत्येक परमाणु के मिलने में सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है।"

प्रसाद पर बौद्ध दर्शन का भी सीमित प्रभाव नज़र आता है। जगत की सतत् परिवर्तनशीलता का बौद्ध विचार प्रसाद को आकर्षित करता है। यही बात प्रसाद ने धातुसेन से कहलवायी है जो सीधे तौर पर बौद्ध दर्शन का प्रतिनिधि है। वह कहता है- "परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शांति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है।"

नारी-पुरुष संबंधों के भीतर उन्होंने सहज काम चेतना को स्वीकार किया है। यह विचार 'कामाध्यात्मवाद' कहलाता है। यह फ्रायड के 'मनोविश्लेषणवाद' का प्रभाव है।

प्रसाद का समय 'मार्क्सवाद' के बढ़ते हुए प्रभाव का समय था। सेनापति पर्णदत्त का यह कथन समाजवादी चेतना से भरा हुआ नज़र आता है-

"अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का।"

स्पष्ट है कि 'स्कंदगुप्त' के भीतर विभिन्न दर्शनों का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। 'शैवाद्वैतवाद' के प्रति प्रसाद की निष्ठा तो जगजाहिर रही ही है, उनकी खूबी यह है कि वे अन्य दर्शनों के प्रति विरोध की मुद्रा नहीं अपनाते बल्कि उन्हें भी अपने वृहत् दार्शनिक ढाँचे में समन्वित कर लेते हैं। उनकी दार्शनिक पद्धति में प्राचीन और नवीन, भारतीय और पश्चिमी का भेद मिट गया है।

प्रश्न: 'स्कंदगुप्त' नाटक में अभिव्यक्त राष्ट्रीय चेतना पर प्रकाश डालिये। (300 शब्द)

उत्तर: स्कंदगुप्त बाह्य विधान में ऐतिहासिक नाटक है किन्तु इसका उद्देश्य तत्कालीन राष्ट्रीय संघर्ष को ही व्यक्त करना है। प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना संश्लिष्ट है जो उनके अन्य नाटकों की तरह स्कंदगुप्त में भी कई स्तरों पर प्रकट हुई हैं-

राष्ट्रीयता की अनिवार्य शर्त है राष्ट्र के प्रति गौरव भावना। स्कंदगुप्त नाटक में यही गौरव भाव कई स्थानों पर व्यक्त हुआ है।

“हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार।”

राष्ट्रीयता की चेतना होने पर देश पर विपदा का समय हो तो उसके प्रति दुख का भाव स्वाभाविक है। स्कंदगुप्त कहता है-

“आर्य साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों से देखना था। हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे त्याग अधिकार की आवश्यकता नहीं।”

त्याग और बलिदान राष्ट्रीय चेतना का अनिवार्य प्रसंग है। देवसेना और भीमवर्मा अपने राज्य को देश पर न्यौछावर करना चाहते हैं।

राष्ट्रीय चेतना के कारण ही प्रसाद ने विदेशी पात्रों द्वारा भी भारत की प्रशंसा करायी है। जिस देश के निवासियों में हीनता की भावना भर गई हो एवं उसका आत्म-विश्वास मर गया हो, ऐसे में विदेशी पात्रों द्वारा प्रशंसा करवाना मनोवैज्ञानिक स्तर पर राष्ट्रीय स्वाभिमान को विकसित करने का एक श्रेष्ठ प्रयत्न है। नाटक में श्रीलंका का धातुसेन कहता है-

“भारत समग्र विश्व का है, और संपूर्ण वंसुधरा इसके प्रेमपाश में आवद्ध है। अनादिकाल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वंसुधरा का हृदय - भारत - किस मूर्ख को प्यारा नहीं है?”

जो शक्तियाँ राष्ट्र को विभाजित करती हैं, उनका सामना करना हर राष्ट्र प्रेमी नागरिक का दायित्व है। प्रसाद ने हिंदू-बौद्ध संघर्ष के प्रतीक से 1928 ई. की हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता को उभारा है और एक लम्बे तनावपूर्ण संघर्ष के बाद दोनों सम्प्रदायों में दार्शनिक व भावनात्मक स्तर पर समन्वय की चेष्टा की है।

राष्ट्रीय चेतना की शर्त यह भी है कि देशद्रोहियों के प्रति घृणा का भाव हो। स्कंदगुप्त में दो तरह के पात्र हैं। नाटक में राष्ट्रविरोधी चरित्रों के प्रति वितृष्णा साफ-साफ दिखाई देती है।

हर देश में कुछ लोग अपने राष्ट्र को हीन समझते हैं एवं दूसरी संस्कृतियों की महानता का राग अलापते रहते हैं। प्रसाद के समय का बुद्धिजीवी वर्ग भी ऐसा था। राष्ट्रीयता के लिये अपने राष्ट्र से अखंड प्रेम आवश्यक है। इसलिये प्रसाद ने ऐसे चरित्रों पर चोट की है जो उधार की संस्कृति के पीछे अपने राष्ट्र के महत्व को भूल जाते हैं। सैनिक भटार्क से कहता है-

“यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य-जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में। देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिस पर भी यह निर्लज्ज आमोद।”

प्रसाद ने काल्पनिक राष्ट्रीयता का विरोध किया है। प्रसाद की कल्पना एक ऐसे राष्ट्र की है जहाँ वर्ग समानता हो तथा प्रत्येक को भय-भूख से मुक्ति मिले। पर्णदत्त कहता है-

“अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिये - हम भूखों के लिये- रख छोड़ा है। वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता! विलास के लिये उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिये नहीं?”

सन् 1928 तक गांधीवादी नीतियों से मोहभंग होने लगा था। क्रान्तिकारी आतंकवाद का यह दूसरा दौर था। इस काल में लिखे गए स्कंदगुप्त नाटक में प्रसाद शांति के ही पक्षधर बन कर आए हैं, परन्तु यदि मार्ग में युद्ध से भी जूझना पड़े तो उन्हें स्वीकार्य है। जयमाला का निम्नलिखित कथन उनके इसी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है-

“युद्ध क्या गान नहीं है? रूद्र का गूगीनाद, भैरवी का तांडव-नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। ध्वंसमयी महामाया - प्रकृति का वह निरंतर संगीत है।”

समग्रतः स्कंदगुप्त में गहरी एवं सुचिंतित राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति हुई है।

प्रश्न: 'देवसेना' हिन्दी नाट्य परंपरा की अविस्मरणीय चरित्र है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? सहमति या असहमति के कारण बताइए। (225 शब्द)

उत्तर: देवसेना 'स्कंदगुप्त' नाटक की सर्वप्रमुख नारी चरित्र है और हिन्दी नाटक की विकास-यात्रा में सृजित सर्वाधिक सशक्त नारी चरित्रों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रसिद्ध आलोचक नगेन्द्र के अनुसार, "ऐतिहासिक नाटकों की सर्वोत्तम नायिका देवसेना प्रसाद की चरित्र सृष्टि की कोमल कल्पना की अमर उपज है।" वस्तुतः देवसेना के चरित्र की विभिन्न विशिष्टताएँ उसे हिन्दी नाट्य परंपरा का अविस्मरणीय चरित्र बना देती हैं जो इस प्रकार हैं-

देवसेना एक भावनात्मक नारी है। स्कंदगुप्त एवं विजया के प्रेम को जानकर यही भावुकता आध्यात्मिकता में बदल जाती है। वह विजया के रास्ते में बाधा नहीं बनना नहीं चाहती, यह उसके चरित्र की उदात्तता है-

"विजया के स्थान को मैं कदापि ग्रहण न करूंगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता।"

वह सारे दुख मन में समेटे चुपचाप अलग हो जाती है। यह प्रेम का औदात्य है। अन्त तक उसे यही दुख रहता है कि विजया उसे गलत समझती है। प्रेम के इस वेदनापूर्ण समय में भावुकता आध्यात्मिकता में एवं वैयक्तिकता सामाजिकता में बदल जाती है।

देवसेना हृदय को नियंत्रित करना जानती है। वह अपने दुख को संगीत में भुला देना जानती है।

"..... चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं। मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ।"

नाटक के उत्तरार्द्ध में प्रेम की अपूर्णता की वेदना में होने के बावजूद वह लोकजीवन से संपृक्त है। वह अपने सामाजिक कार्यों में रत है। यहाँ तक कि निम्न व्यक्तियों की उक्तियों के भय से भी अपने कर्तव्य से नहीं हिलती। वह पर्णदत्त से कहती है-

"क्या है बाबा! क्यों चिढ़ रहे हो। जाने दो, जिसने नहीं दिया, उसने अपना; कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।"

देवसेना के जीवन का चरम मूल्य त्याग है। त्याग जरूरत के समय आदर्श है। देवसेना कई जगह ऐसे त्याग करती है जहाँ परिस्थितियाँ त्याग नहीं मांगतीं। विजया की आत्महत्या, आर्यावर्त की विजय के बाद स्कंदगुप्त, देवसेना का मिलन संभव था किन्तु देवसेना त्याग के पक्ष में कहती है -

"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट्! यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिये सुख करना ही न चाहिये। मेरे जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!"

दरअसल यह त्याग उस छायावादी मानसिकता से निकला है जो मिलन से मानसिक वेदना को अधिक महत्व देती है।

आषाढ़ का एक दिन

प्रश्न: 'आषाढ़ का एक दिन' की प्रासंगिकता पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: मोहन राकेश के शब्दों में 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक 'आज का' तथा 'आज के लिये' है। इस नाटक के प्रासंगिक होने की मूल वजह इस नाटक की संवेदना का देश-काल की सीमा से परे होना है। इसमें उठायी गई समस्याएँ जितनी प्रासंगिक कालिदास के समय और इस नाटक को लिखे जाते समय थीं, उससे कहीं ज्यादा आज हैं।

रचना के मूल में जो व्यक्तित्व-विभाजन और विसंगतिपूर्ण जीवन की समस्याएँ हैं, वे आज के पूँजीवादी विकास के मॉडल में और भी विकराल रूप धारण कर चुकी हैं। औद्योगीकरण तथा शहरीकरण ने लोगों को गाँव से शहर की ओर जाने के लिये मजबूर कर दिया है। ये सभी लोग शहर के अजनबीपन में आत्मनिर्वासित जीवन जीने को अभिशप्त हैं।

नाटक में सत्ता और सृजन के जिस द्वंद्व को उजागर किया गया है वह दरअसल हर युग में मौजूद रहा है। आधुनिक समय में भी 'निराला' और 'मुक्तिबोध' जैसे साहित्यकारों को सत्ता के चंगुल से अपनी सृजनशीलता को बचाए रखने के लिये संघर्ष करना पड़ा है।

मनुष्य और प्रकृति के संबंधों को लेकर इस नाटक में उठाया गया सवाल आज के पर्यावरणीय संकट के दौर में कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। 'ग्लोबल वार्मिंग' और 'क्लाइमेट चेंज' आज के विश्व के समक्ष उपस्थित सबसे बड़ी चुनौतियाँ हैं। इन समस्याओं का समाधान मनुष्य और प्रकृति के सह-अस्तित्व में छुपा है; राकेश ने कालिदास और मल्लिका के संवादों के माध्यम से इस ओर संकेत किया है।

इसके अतिरिक्त, अंबिका और मल्लिका का पीढ़ीगत अंतराल आज के सूचना-तकनीक प्रधान युग में खाई का रूप ले चुका है तथा सत्ता की संवेदना-शून्यता और जड़ता में भी समय के साथ बढ़ोत्तरी ही हुई है। साहित्यिक दृष्टि से, नाट्य भाषा के प्रयोग पर बल देना भी इस नाटक को प्रासंगिक बनाता है।

वस्तुतः 'आषाढ़ का एक दिन' मोहन राकेश की रचनाशीलता का नायाब नमूना है। उन्होंने अपनी साहित्यिक सूझ-बूझ से इस नाटक को हमेशा के लिये प्रासंगिक बना दिया है।

प्रश्न: 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की संवेदना पर विचार कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में मिथक का आश्रय लेते हुए मोहन राकेश ने कालिदास और अन्य चरित्रों के माध्यम से कुछ ऐसे बिंदुओं को कथ्य बनाया है जिनका संबंध आधुनिक युग के सामान्य मनुष्य की मनःस्थिति से है। व्यक्ति की प्रामाणिकता के प्रश्न और सत्ता तथा सृजन के जटिल संबंध को इस नाटक में बेहद बारीकी से उठाया गया है।

इस नाटक की मूल संवेदना प्रामाणिकता की खोज है। नाटक का प्रत्येक पात्र कहीं न कहीं प्रामाणिकता की खोज में बेचैन है। नाटक का सबसे मुख्य पात्र कालिदास है। वह उज्जयिनी नहीं जाना चाहता पर जाता है वह कश्मीर का राजा भी नहीं बनना चाहता पर वह भी बनता है। कुल मिलाकर कालिदास अपने मन की इच्छाओं के लिए क्षणिक संघर्ष तो करता है पर अंततः समाज के दबावों के आगे झुक जाता है। सामाजिक दबावों के आगे यही झुकना कालिदास के जीवन को अप्रामाणिक बना देता है। अप्रामाणिकता का अनिवार्य परिणाम है आत्मनिर्वासन तथा अलगाव। यह दोनों ही स्थितियाँ अंत में कालिदास में दिखती हैं जो 'विराट' से अपना संबंध नहीं जोड़ पाता।

इस नाटक की दूसरी प्रमुख पात्र मल्लिका है मल्लिका अपने निर्णय खुद लेती है व उनके परिणामों को झेलने में संकोच नहीं करती। वह आरंभ में ऐसा अहसास दिलाती है कि उसकी प्रामाणिकता खंडित नहीं हो सकती। उसका कथन है-

"क्या अधिकार है उन्हें कुछ भी कहने का? मल्लिका का जीवन उसकी संपत्ति है। वह उसे नष्ट करना चाहती है तो किसी को उस पर आलोचना करने का क्या अधिकार है?"

इस अहसास के बावजूद मल्लिका का वास्तविक जीवन उसकी अपनी दृष्टि में चाहे प्रामाणिक हो, अस्तित्ववादी दृष्टि से अप्रामाणिक ही है। किसी अन्य व्यक्ति के जीवन को अपने जीवन का आधार मान लेना सार्त्र के अनुसार अप्रामाणिकता ही है। अंततः अनगिनत दबावों के सामने मल्लिका एक ऐसा चयन करने के लिए मजबूर है जिसमें उसकी प्रामाणिकता किसी न किसी रूप में खंडित होती है। उसे वेश्या बनना पड़ता है।

कुल मिलाकर अप्रामाणिक हो जाना ही इस नाटक के सभी पात्रों की नियति है।

नाटक की दूसरी प्रमुख संवेदना 'सृजनशीलता व सत्ता का द्वंद्व' है। हालाँकि, यह द्वंद्व भी प्रामाणिकता की खोज पर ही जाकर समाप्त होता है। साहित्यिक सृजन आर्थिक रूप से उत्पादक कार्य नहीं है। यदि कालिदास को बिना आश्रित हुए लिखना है तो यह अनिवार्य है कि वह ग्रामीण अर्थव्यवस्था में गाएँ चराने का काम करे, पर यह उसे पसंद नहीं है। दूसरा विकल्प राज्याश्रय का है। पसंद तो उसे वह भी नहीं है किंतु 'अभावपूर्ण जीवन की प्रतिक्रिया' में उसे यह विकल्प स्वीकार करना पड़ता है। यहीं से उसका जीवन अप्रामाणिक हो जाता है।

प्रश्न: "विलोम क्या है? एक असफल कालिदास! और कालिदास एक सफल विलोम।"- इस कथन के आधार पर 'आषाढ़ का एक दिन' की चरित्र-योजना के वैशिष्ट्य को रेखांकित कीजिए।

(225 शब्द)

उत्तर: मोहन राकेश नवलेखन के दौर के रचनाकार हैं। इस दौर की अधिकांश रचनाएँ अस्तित्ववाद से प्रभावित हैं। दरअसल, उपर्युक्त कथन भी अस्तित्ववादी अवधारणाओं की अभियंजा ही है। अस्तित्ववाद के अनुसार कोई भी व्यक्ति

‘केवल अच्छा’ या ‘केवल बुरा’ नहीं होता बल्कि ‘अच्छा और बुरा’ होता है। और उसे अच्छा या बुरा बनाते हैं उसके हालात। इस कथन के माध्यम से राकेश यह संप्रेषित करना चाहते हैं कि एक दूसरे के विपरीत प्रतीत होने वाले कालिदास और विलोम वास्तव में एक जैसे ही हैं।

कालिदास और विलोम, दोनों ही कविताओं का सृजन करते हैं, और मल्लिका से प्रेम भी करते हैं। किंतु कालिदास को मल्लिका का प्रेम सहज रूप से उपलब्ध होने की वजह से कविता के क्षेत्र में सफलता मिलती है और विलोम को इसके अभाव में असफलता। यदि मल्लिका का प्रेम विलोम को प्राप्त होता तो विलोम सफल कवि बनता। इस प्रकार यह कथन यह भी दर्शाता है कि नायकत्व और खलनायकत्व परिस्थितियों की देन हैं, चरित्रों की मूलभूत प्रवृत्ति नहीं। इसी बात को राकेश ने प्रकारांतर से इस प्रकार कहा है- ‘योग्यता एक चौथाई व्यक्तित्व का निर्माण करती है। शेष पूर्ति प्रतिष्ठा द्वारा होती है।’

प्रश्न: उन लक्षणों का संधान कीजिए जो ‘आषाढ़ का एक दिन’ को अस्तित्ववादी दृष्टिकोण पर आधारित नाटक सिद्ध करते हैं। (300 शब्द)

उत्तर: आषाढ़ का एक दिन अस्तित्ववादी दृष्टिकोण पर आधारित नाटक है और पूरे नाटक में ऐसे कई संकेत बिखरे हुए हैं। यह दृष्टिकोण नाटक के सभी मुख्य चरित्रों की व्याख्या करने में सक्षम है।

कालिदास का व्यक्तित्व एक भावुक कवि का व्यक्तित्व है। उसके लिए स्वाभाविक जीवन यही हो सकता था कि वह ग्रामीण जीवन में प्रकृति से निकट रहते हुए साहित्यिक रचनाएँ करे। किंतु, उसकी स्वतंत्रता उसकी भौतिक परिस्थितियों व अन्य व्यक्तियों के दबाव में खंडित होती है। आर्थिक अभाव, सामाजिक तिरस्कार जैसे तत्व उसे प्रतिक्रिया करने पर मजबूर करते हैं और राजकीय निमंत्रण का प्रस्ताव कुछ अनमनेपन के साथ ही सही, वह स्वीकार कर लेता है। यह उसका पहला गलत निर्णय है क्योंकि यह निर्णय उसने अपनी अन्तरात्मा से नहीं बल्कि बाहरी दबावों से लिया था। ऐसा निर्णय स्वाभाविक रूप से व्यक्तित्व विभाजन तथा विसंगतिबोध जैसी समस्याएँ उत्पन्न करता है। वह आगे चलकर पुनः गलत निर्णय करता है और कश्मीर का राजा बनने के लालच में अपने मूल व्यक्तित्व को पूरी तरह से भुला देता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि उसके बाहरी जीवन में सफलताएँ बढ़ती जाती हैं किन्तु आंतरिक जीवन में उसका निरर्थकता बोध भी उतना ही बढ़ता जाता है।

गलत निर्णयों का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि व्यक्ति का जीवन विसंगतियों से भर उठता है। विसंगतिबोध एक निरन्तर चलने वाली छटपटाहट है जिसमें ‘जो मैं हूँ’ और ‘जो मुझे होना चाहिए था’ में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। संघर्ष की यह सारी प्रक्रिया सामान्यतः विफलता की ओर बढ़ती है। कालिदास का सम्पूर्ण जीवन विसंगति का ही जीवन है। व्यापक अर्थ में मल्लिका और विलोम भी विसंगति-बोध से भरा जीवन ही जी रहे हैं।

विसंगतिपूर्ण जीवन का स्वाभाविक परिणाम है- मनुष्य का अपने व्यक्तित्व से अलग हो जाना। इसे ‘आत्म-निर्वासन’ या ‘अजनबीपन’ भी कहते हैं। ‘आषाढ़ का एक दिन’ के कालिदास का आत्म-निर्वासन अस्तित्ववादी बोध से प्रभावित है-

“संभवतः पहचानती नहीं हो और न पहचानना ही स्वाभाविक है क्योंकि मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसे तुम पहचानती रही हो। दूसरा व्यक्ति हूँ, और सच कहूँ तो वह व्यक्ति हूँ जिसे मैं स्वयं नहीं पहचानता हूँ।”

इस नाटक में सभी चरित्र आधे-अधूरेपन के शिकार हैं। यह आधा-अधूरापन कालिदास, मल्लिका और विलोम में जितना है, उतना ही इस नाटक के लेखन-काल के दौर के लगभग हर शहरी व्यक्ति का है। कालिदास एक ओर गाँव की आत्मीयता चाहता है तो दूसरी ओर सत्ता और सुविधा का भोग। जब तक उसे गाँव की आत्मीयता मिलती है, तब तक सत्ता नहीं मिलती। फिर सत्ता मिलती है तो आत्मीयता समाप्त हो जाती है। अंततः वह सत्ता को ठुकराकर आत्मीयता की खोज में वापस लौटता है किन्तु तब दोनों ही चीजें हाथ से फिसल जाती हैं। मल्लिका की विडम्बना यह है कि कालिदास उसे नहीं मिलता और आर्थिक अभावों की मजबूरी उसे विलोम के सामने अपनी देह का समझौता करने को बाध्य कर देती है। उसके शरीर पर विलोम का नियंत्रण है, भावनाओं पर कालिदास का। यही अधूरापन उसकी नियति है। विलोम का अधूरापन शुरु से ही स्पष्ट है। वह कालिदास की तरह कविता भी लिखता है और मल्लिका से प्रेम भी करता है किन्तु उसे दोनों ही अनुपलब्ध हैं। अंत में मल्लिका को जीत कर भी वह उसके भाव जगत में स्थान नहीं बना पाता।

स्पष्ट है कि 'आषाढ़ का एक दिन' स्वाधीन भारत के जिस मध्य वर्ग की नियति को प्रस्तुत करता है, उसकी चेतना में वे सभी पक्ष उपस्थित हैं जिन्हें अस्तित्ववादी चिंतकों ने जीवन के विश्लेषण में उभारा है। प्रामाणिकता की खोज, चयन की स्वतंत्रता, आत्मनिर्वासन, विसंगतिबोध, विडम्बनाबोध, अधूरापन-ये सभी तत्व इस नाटक के कथानक में गुंथे हुए हैं।

प्रश्न: 'आषाढ़ का एक दिन' शीर्षक की सार्थकता पर विचार कीजिये। क्या आप इस नाटक का इससे बेहतर नाम प्रस्तावित कर सकते हैं? (300 शब्द)

उत्तर: किसी भी रचना के शीर्षक की सार्थकता की मूलभूत कसौटी यही हो सकती है कि क्या वह शीर्षक रचना के मूल प्रतिपाद्य को व्यंजित करने में सफल हो पाया है? 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का मूल लक्ष्य सत्ता व सृजनशीलता के द्वंद्व तथा आधुनिक मनुष्य के आत्मविखंडन, आत्मनिर्वासन व विसंगतिपूर्ण जीवन की नियति का उद्घाटन है। ऐसे में इस नाटक के शीर्षक का इनसे जुड़ी शब्दावली से भिन्न एक प्राकृतिक स्थिति पर आधारित होने के कारण इसकी सार्थकता का प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

प्रसिद्ध संस्कृत रचनाकार कालिदास की प्रसिद्ध रचना मेघदूत में एक प्रसिद्ध कथन के रूप में 'आषाढ़स्ये प्रथम दिवसे' का प्रयोग हुआ है और उसी का अनुवाद राकेश ने इस नाटक के शीर्षक के रूप में किया है जो कि 'भोगे हुए यथार्थ' की व्यंजना के साथ-साथ कई अन्य धरातलों पर भी अपनी सार्थकता सिद्ध करता है।

नाटक में आषाढ़ का महत्व तब समझ आता है जब कालिदास गाँव में लौटकर ग्रामीण जीवन के प्रति अपनी सम्बद्धता को आषाढ़ के माध्यम से ही व्यक्त करता है-

"मुझे वर्षों पहले यहाँ लौट आना चाहिये था ताकि यहाँ वर्षा में भीगता, भीगकर लिखता- वह सब जो मैं अब तक नहीं लिख पाया और जो आषाढ़ के मेघों की तरह वर्षों से मेरे अन्दर उमड़ रहा है।"

यह एक स्थितिप्रधान नाटक है, न सिर्फ इसलिये कि घटनाओं से ज्यादा महत्व स्थितियों की सघनता का है बल्कि इसलिये भी कि चरित्रों ने स्थितियों को नहीं बल्कि स्थितियों ने चरित्रों को निर्धारित किया है। ऐसे नाटक का उपयुक्त नामकरण स्थितिमूलक ही हो सकता था। 'आषाढ़ का एक दिन' प्रतीकात्मक रूप से वह स्थिति है जिसमें कालिदास का कवित्व विकसित हुआ था और जिससे वंचित होने पर वह सूख गया है।

आषाढ़ के मेघों को यहाँ प्रतीक की तरह इस्तेमाल किया गया है। ये मेघ मिलन के क्षणों में बरसते अधिक हैं और तनाव के क्षणों में गरजते अधिक हैं। कभी ये मेघ संदेशवाहक बन जाते हैं क्योंकि मल्लिका को जब कालिदास से संवाद करना होता है तो वह मेघों के बीच चली जाती है। मल्लिका मेघों के निकट ही बनी रहती है अर्थात् अपनी भावनाओं से अलग नहीं होती। कालिदास मेघों से दूर चला जाता है और एक यात्रिक व भावनारहित जीवन जीने के बाद फिर मेघों की दुनिया में लौटना चाहता है। स्पष्ट है कि आषाढ़ का दिन इस नाटक में एक घटना मात्र नहीं है बल्कि संपूर्ण कथानक को व्यक्त करने का सशक्त माध्यम है।

यदि नाटक का नाम किसी चरित्र पर जैसे 'कालिदास' या 'मल्लिका' रखा जाता तो लघुमानव की अवधारणा न उभर पाती जबकि राकेश चरित्रों को स्थितियों से छोटा दिखाना चाहते थे। यदि नामकरण घटनामूलक होता जैसे 'कालिदास गमन', तो नाटक में घटना या संयोग का महत्व स्थितियों से अधिक हो जाता। यदि राकेश अस्तित्ववादी शब्दावली को नाटक का आधार बनाते जैसे 'आत्मनिर्वासित' या 'लघुमानव' तो नाटक की बोधगम्यता कमजोर हो जाती। सच यही है कि यह नाटक का सर्वश्रेष्ठ नामकरण है क्योंकि यह कालिदास से सम्बद्धता भी व्यक्त करता है, नाटक के स्थितिमूलक होने की गहराई भी व्यक्त करता है और कालिदास के समय से आज तक के जीवन को एक प्राकृतिक घटना के प्रतीक से बांध भी लेता है।

प्रश्न: 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में इतिहास और कल्पना के समन्वय पर प्रकाश डालिये। (300 शब्द)

उत्तर: 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में एक ऐतिहासिक सी प्रतीत होने वाली कथा को आधार बनाया गया है। इसमें इतिहास नहीं है, इतिहास का केवल एक आवरण है। तथ्यात्मक स्तर पर देखें तो हम पाते हैं कि जो तथ्य नाटक में प्रयुक्त

हुए हैं, वे ऐतिहासिक रूप से कम और मिथकीय रूप से ज्यादा प्रामाणिक हैं। कालिदास के सम्बंध में कुछ तथ्य भारत के सामाजिक जीवन में भली-भाँति प्रचलित हैं, जैसे - उनका काली का भक्त होना, वेश्यागामी होना, प्रारंभ में तिरस्कृत रहना, फिर राजकुमारी से विवाह करना व अंततः हिमालय का वासी होना। राजतरंगिणी में कालिदास के मातृगुप्त के रूप में कश्मीर का शासक बनने की बात है। यही धारणा प्रसाद के स्कंदगुप्त में भी है। इसी आलोक में राकेश ने उसे तथ्य के रूप में स्वीकार किया है।

नाटक के बाकी सभी चरित्र, सारी घटनाएँ और सारी स्थितियाँ काल्पनिक हैं। प्रियंगु, मल्लिका, अंबिका, विलोम, मातुल, रंगिणी-संगिणी, अनुस्वार, अनुनासिक आदि सभी चरित्र काल्पनिक ही हैं। अतः स्पष्ट है कि नाटक इतिहास के बहुत थोड़े से प्रसंगों को लेकर उनके साथ कल्पना का अत्यधिक प्रयोग करते हुए कथानक की सृष्टि करता है।

कुछ आलोचकों ने प्रश्न उठाया है कि इतिहास के साथ यह छेड़छाड़ क्या साहित्यकार की नैतिकता हो सकती है? इस सम्बंध में दो-तीन बातें ध्यान रखनी आवश्यक हैं। राकेश ने कल्पना का प्रयोग चाहे अधिक किया हो, प्रायः किसी ऐतिहासिक तथ्य को गलत रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। दूसरे, यह नाटक न तो घटना प्रधान नाटक है, न चरित्र प्रधान। यह एक स्थिति प्रधान नाटक है। इतिहास के तथ्य घटनाओं और चरित्रों तक सीमित होते हैं, मनोवैज्ञानिक स्थितियों तक उनकी पहुँच नहीं होती। उदाहरणतया बार-बार आषाढ़ के मेघों का बरसना, मल्लिका और अंबिका; कालिदास और विलोम के तनावपूर्ण सम्बंधों का जटिल होते जाना नाटक के प्रमुख तत्व हैं और इतिहास ऐसे तत्वों की व्याख्या नहीं कर सकता। वस्तुतः राकेश की इतिहास दृष्टि बर्नार्ड शाँ जैसी है जिनके लिये इतिहास का सम्बंध तथ्यों से नहीं, अंतःप्रज्ञा (intuition) से है।

अंतिम बिंदु यह है कि इतिहास के वातावरण को सृजित करके इस नाटक को क्या सफलता मिली? वस्तुतः नाटक का उद्देश्य वातावरण को ऐतिहासिक बनाना नहीं अपितु आज के रचनाकार की पीड़ा, वेदना और संत्रास को शाश्वतता प्रदान करना है। यह नाटक इतिहास के कुछ तथ्यों का इस प्रकार सर्जनात्मक प्रयोग करता है कि वे तथ्य अपने ऐतिहासिक संदर्भ से मुक्त होकर मानव के शाश्वत और सामान्य अनुभव के अंग बन जाते हैं।

प्रश्न: मोहन राकेश चाहते थे कि 'आषाढ़ का एक दिन' के माध्यम से हिन्दी का एक मौलिक रंगमंच स्थापित करें। इस संबंध में उनकी दृष्टि स्पष्ट करते हुए बताएँ कि वे कहाँ तक सफल हो सके? (300 शब्द)

उत्तर: मोहन राकेश रंगमंच के प्रति प्रतिबद्ध नाटककार हैं और उनकी मुख्य चिंता यह है कि हिन्दी का अपना मौलिक रंगमंच स्थापित होना चाहिये। ऐसा रंगमंच जो संस्कृत या पाश्चात्य रंगमंच की नकल न हो। अपने पहले नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि "हिन्दी नाटक रंगमंच की किसी विशेष परंपरा के साथ अनुस्यूत नहीं है। पाश्चात्य रंगमंच की उपलब्धियाँ ही हमारे सामने हैं परंतु न तो हमारा जीवन उन सब उपलब्धियों की मांग करता है और न ही यह संभव प्रतीत होता है कि हम उस रंग शिल्प को व्यापक रूप से ज्यों का त्यों अपने यहाँ प्रतिष्ठित कर दें।" कई रंगकर्मी व रंग निर्देशक मानते हैं कि रंगमंच के विकास का संबंध अति आधुनिक सुविधाओं से युक्त रंगशालाओं का निर्माण करने से है। मोहन राकेश इस दृष्टिकोण के समर्थक नहीं हैं। उनकी राय में रंगमंच के विकास का संबंध आर्थिक सुविधा से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से है। उन्होंने 'आषाढ़ का एक दिन' की भूमिका में कहा भी है कि "हिन्दी रंगमंच के विकास से निःसंदेह यह अभिप्राय नहीं है कि अत्याधुनिक सुविधाओं से संपन्न रंगशालाएँ राजकीय तथा अर्द्धराजकीय संस्थाओं द्वारा जहाँ-तहाँ बना दी जाएँ। ×××× प्रश्न केवल आर्थिक सुविधा का ही नहीं, एक सांस्कृतिक दृष्टि का भी है। हिन्दी रंगमंच को हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा।"

मोहन राकेश की राय है कि पश्चिमी रंगमंच अपनी आर्थिक और तकनीकी बल के कारण कठिन से कठिन दृश्यों को मंचित करने की कोशिश करता है। चूँकि हमारे पास ऐसी आर्थिक और तकनीकी क्षमता नहीं है, अतः हमें उन तत्वों पर बल देना चाहिये जो हमारी परिधि में शामिल हैं जैसे- मानव तत्व और शब्द तत्व। यहाँ मानव तत्व का अर्थ अभिनय से है और शब्द तत्व का अर्थ ध्वनियों के प्रभावी उपयोग से है।

आषाढ़ का एक दिन मोहन राकेश का पहला नाटक है और उन्होंने इसके माध्यम से हिन्दी रंगमंच को खोजना चाहा है। प्रसाद मानते थे कि नाटक के लिये रंगमंच होना चाहिये जबकि मोहन राकेश ने खुलकर माना है कि उनका नाटक रंगमंच के लिये है। भूमिका के अंतिम वाक्य में वे कहते हैं कि- “संभव है यह नाटक उन (हिन्दी रंगमंच की) संभावनाओं की खोज में कुछ योग दे सके।”

आषाढ़ का एक दिन में मोहन राकेश ने इस प्रतिज्ञा को साकार कर दिखाया है। निम्नलिखित तथ्य उनकी प्रयोगशीलता की पुष्टि करते हैं:

- (क) नाटक में तीन अंक हैं किंतु दृश्य एक ही है और वह दृश्य भी अपनी योजना में महंगा नहीं सस्ता है। राकेश चाहते तो उज्जयिनी या काश्मीर का दारबार दिखा सकते थे। किंतु ऐसा करते ही दृश्य योजना महंगी हो जाती जो उनकी प्रतिज्ञा के विपरीत होता।
- (ख) मानव तत्व का सघन प्रयोग है अर्थात् अभिनय की बारीकियों पर लेखक ने बहुत बारीकी से ध्यान दिया है। अधिकांश प्रसंगों में अभिनय की बारीकियों से ही सारा भाव सम्प्रेषित कर दिया गया है।
- (ग) ध्वनियों का प्रयोग इतने सूक्ष्मतरंग रूप से किया गया है कि कोई भी नाटक इसकी बराबरी नहीं कर सकता। जैसे- बादलों का गर्जना, तनाव दिखाने के लिये घोड़े के टापों की आवाज का प्रसंग इत्यादि।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि मोहन राकेश ने ‘आषाढ़ का एक दिन’ के माध्यम से हिन्दी का एक मौलिक रंगमंच स्थापित करने का भरपूर प्रयास किया और इसमें काफी सफल भी रहे।

चिंतामणि

प्रश्न: रामचंद्र शुक्ल के निबंध ‘श्रद्धा-भक्ति’ के प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: अपने सर्वश्रेष्ठ मनोविकासपरक निबंध श्रद्धा-भक्ति में आचार्य शुक्ल ने मानवीय जीवन के दो रमणीय भावों श्रद्धा और भक्ति का सुदीर्घ विश्लेषण किया है। श्रद्धा की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि “किसी मनुष्य में जनसाधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके संबंध में जो एक स्थायी आनंद पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है, उसे श्रद्धा कहते हैं।” इसी बिन्दु पर आचार्य शुक्ल प्रेम और श्रद्धा के बीच मूल अंतर यह बताते हैं कि प्रेम के लिए किसी निश्चित वस्तुगत कारण की आवश्यकता नहीं है, वह केवल चेहरे की सुंदरता से भी हो सकता है, इसके विपरीत, श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है तथा गुणों और कर्मों की अधिकता ही उसका कारण होती है। श्रद्धा और प्रेम के महीन अंतरों का विस्तृत विश्लेषण करने के पश्चात् आचार्य शुक्ल श्रद्धा के तीन प्रकार निश्चित करते हैं - प्रतिभा संबंधिनी श्रद्धा, शील संबंधिनी श्रद्धा तथा साधन-संपत्ति संबंधिनी श्रद्धा, जिनमें शील संबंधिनी श्रद्धा सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका संबंध उन मूल्यों से है जिनके व्यक्त होने से समाज सुरक्षित, सुंदर और संपन्न होता है।

प्रेम और श्रद्धा की संपूर्ण व्याख्या के बाद आचार्य शुक्ल श्रद्धा और भक्ति के संबंध की व्याख्या करते हैं। उनकी यह धारणा है कि “श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।” उनके अनुसार श्रद्धा का मूल संबंध कर्मों से है। जब श्रद्धालु महान कर्मों के अतिरिक्त श्रद्धेय के शेष जीवन के प्रति भी भावुक होने लगता है तो श्रद्धा के साथ प्रेम संयुक्त हो जाता है और इसी अवस्था का नाम भक्ति है। भक्ति की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल सगुण भक्ति के महत्व की भी स्थापना करते हैं।

शुक्ल जी के प्रत्येक भावपरक निबंध की तरह यह निबंध भी भावों का गहरा संबंध सामाजिक हित और अहित से जोड़ता है। श्रद्धा का लाभ क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं कि “हमारी प्रसन्नता से उसे (श्रद्धेय को) अपने सामर्थ्य का बोध हो जाता है और उसका उत्साह बढ़ता है।” शुक्ल जी आडंबर, अंध-श्रद्धा, बाजार आदि के परिप्रेक्ष्य में श्रद्धा और भक्ति जैसे भावों पर उत्पन्न खतरे को भी रेखांकित करते हैं।

समग्रतः ‘श्रद्धा-भक्ति’ निबंध किसी मनोवैज्ञानिक के लेखन की भांति केवल मनोभावों का अर्थ नहीं बताता बल्कि वैज्ञानिक विश्लेषण को भावनाओं के स्तर पर लाकर पाठक को श्रद्धा और भक्ति से संपन्न भी करता है।

प्रश्न: रामचंद्र शुक्ल के निबंध 'कविता क्या है' के आधार पर उनके काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को प्रस्तुत कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: 'कविता क्या है' आचार्य शुक्ल का सबसे महत्वपूर्ण निबंध है। इस निबंध के माध्यम से शुक्ल जी ने अपनी काव्यशास्त्रीय मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। काव्यशास्त्रीय मान्यताओं में रसवाद और लोकमंगलवाद का जो संलयन शुक्ल जी ने किया है, उसी को यह निबंध मूर्त रूप देता है।

शुक्ल जी कहते हैं कि सामान्य व्यक्ति के लिए जीवन का अर्थ है अपने भावों और विचारों को अन्य व्यक्तियों के भावों और विचारों से कहीं मिलाते और कहीं लड़ाते हुए समय व्यतीत करना। इस संपूर्ण स्थिति में वह अपने-आपको एक पृथक् सत्ता के रूप में महसूस करता है और जब तक ऐसी स्थिति रहती है, उसका हृदय बंधा रहता है। मानव की सार्थकता उस अवस्था में है, जहाँ उसका हृदय अपने पार्थक्य को भूलकर संपूर्णता का मात्र एक अंश रह जाता है। यही स्थिति रस-दशा कहलाती है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्ति की अवस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार शुक्ल जी की दृष्टि में हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा कहा गया है। इस बिन्दु पर आकर शुक्ल जी कविता की व्याख्या करते हुए कहते हैं -

“हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।”

इतना ही नहीं, वे आगे बढ़कर कविता को 'भावयोग' की संज्ञा देते हैं और उसे ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के समान प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। स्पष्ट है कि कविता की यह व्याख्या अपनी मूल दृष्टि में रसवादी है तथा इसमें कविता को स्पष्ट शब्दों में साधन माना गया है, साध्य नहीं।

कविता के स्वरूप निर्धारण के बाद आचार्य शुक्ल एक विस्तृत चर्चा इस संबंध में करते हैं कि कविता और जगत में संबंध क्या है? वे कहते हैं कि सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य के मूल भाव उसके जीवन से कटते गए हैं क्योंकि ऐसे कई बौद्धिक कार्य मनुष्य ने आरंभ किए हैं जो बहुत गहराई में तो आवेगों से जुड़े हुए हैं किन्तु यह गहरा संबंध बाह्य जीवन में दिखाई नहीं देता है। ऐसी स्थिति में कवि के लिए आवश्यक है कि सभ्यता के बढ़ने के साथ-साथ भावों और बाह्य जीवन के बीच की दूरी को उद्घाटित करता जाए।

वे मानते हैं कि अच्छी कविता वह होगी, जो न केवल 'नर क्षेत्र' के भीतर रहे, बल्कि वह 'मनुष्येतर बाह्य सृष्टि' और 'समस्त चराचर जगत' तक विस्तृत हो। कवि को असाधारण तथ्यों को खोजने के स्थान पर संपूर्ण चराचर प्रकृति के ऐसे मार्मिक तथ्यों की प्रस्तुति करनी चाहिए जो पाठक या श्रोता को भावानुभूति करा सके।

कविता की भाषा के संबंध में शुक्लजी बिम्ब एवं नाद-सौंदर्य पर बल देते हैं। शुक्ल जी अलंकारों एवं कोरे उक्ति-वैचित्र्य की अतिशयता को कविता के लिए अनावश्यक मानते हैं। वे मूलतः सौंदर्य को आंतरिक वस्तु मानते हैं और कहते हैं कि “सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है।”

निबंध का अंतिम विषय कविता और मार्मिक जीवन के संबंधों का स्पष्टीकरण है। वे मानते हैं कि “कविता का अंतिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण कर उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन है।”

इस निबंध का सार तत्त्व उन मान्यताओं में निहित है, जहाँ वे कविता को मानवीय जीवन में वांछनीय बताते हैं “कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में ले आती है और जगत के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है।”

निष्कर्षतः आचार्य शुक्ल ने 'कविता क्या है' निबंध के माध्यम से हिन्दी को एक ऐसा आधुनिक काव्यशास्त्र सौंपा है, जो 'रसानुभूति' के साथ 'लोकमंगल' का गहरा और अनिवार्य संबंध जोड़ता है।

प्रश्न: 'शुक्लजी गंभीर प्रकृति के मननशील व्यक्ति थे किन्तु निबंधों में स्थान-स्थान पर हास्य, व्यंग्य तथा विनोद की चुटकियाँ लेकर विषय को रंजक बनाया है।' विवेचन कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी के चिंतन-प्रधान निबंधकार हैं जिन्होंने मनोवैज्ञानिक, काव्यशास्त्रीय व अन्य विषयों पर गंभीर विचार किया है। इसीलिए उनके निबंधों को विचारप्रधान निबंध भी कहा गया है। ऐसे निबंधों के बोझिल होने का

खतरा बना रहता है। इसलिए गंभीर प्रकृति के मननशील व्यक्ति होने के बावजूद उन्होंने अपने निबंधों में स्थान-स्थान पर हास्य, व्यंग्य तथा विनोद की चुटकियाँ लेकर विषय को रंजक बनाया है। उदाहरणस्वरूप हास्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

“संगीत के पेंच-पाँच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावंत पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और ‘आ-आ’ करके विकल होता है, उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है- दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।” (श्रद्धा-भक्ति)

अपने निबंधों को सरस बनाने के लिए कई स्थानों पर शुक्लजी ने विनोद-भाव का समावेश भी किया है। उदाहरणस्वरूप निम्नांकित पंक्ति देखी जा सकती है-

“बंदर को शायद बंदरिया के मुँह में ही सौन्दर्य दिखाई देता होगा; पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ते और रेत-पत्थर में भी सौन्दर्य पाकर मुग्ध होता है।” (कविता क्या है)

शुक्लजी व्यंग्य करने में भी माहिर हैं। यह एक ओर जहाँ व्यंग्य उनके निबंधों की विषय-व्यंजकता को बढ़ा देता है, वहीं दूसरी ओर गंभीर से गंभीर विषय को सरस भी बना देता है। सामान्यतः तीव्र क्रोध की मनोदशा में व्यक्ति कभी-कभी तीव्र व्यंग्य बाण छोड़ता है तो कभी सीधे-सीधे फटकारने लगता है। शुक्ल जी निबंध लिखते हुए कभी-कभी ऐसी मनःस्थिति में आते हैं, जहाँ किसी समाज विरोधी व्यक्ति या घटना को सहन नहीं कर पाते और क्रोध में भरकर गहरा व्यंग्य करने लगते हैं। उदाहरण के लिए-

“हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली बोल लेते हैं।” (श्रद्धा-भक्ति)

“खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनों से, बहुत से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते चले आ रहे हैं।... एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे, पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे।” (कविता क्या है)

प्रश्न: आप आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंधों को वस्तुनिष्ठ मानते हैं या व्यक्तिनिष्ठ? अपना मत प्रकट कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: आचार्य शुक्ल के निबंधों के संबंध में एक बड़ा विवाद यह है कि ये वस्तुनिष्ठ हैं या आत्मनिष्ठ? बहुत से आलोचक शुक्ल जी के निबंधों को इस आधार पर वस्तुनिष्ठ घोषित करते हैं कि वे विचारात्मक या बौद्धिक निबंध हैं। वस्तुतः यह निष्कर्ष सही नहीं है। इस निष्कर्ष के मूल में यह भ्रांति निहित है कि विचार का संबंध केवल वस्तुनिष्ठता से है जबकि भावनाओं का संबंध सिर्फ आत्मनिष्ठता से। इस भ्रांति का खंडन स्वयं आचार्य शुक्ल ने किया है। वे पश्चिमी चिंतकों की व्यक्तित्व संबंधी धारणा का विरोध करते हैं और कहते हैं कि निबंध में व्यक्तित्व तो होना ही चाहिए, किन्तु व्यक्तित्व को सही तरीके से समझना ज़रूरी है। व्यक्तित्व का अर्थ ‘मन की उन्मुक्त भटकन’ या ‘कल्पना की उड़ान’ नहीं है (इलियट के शब्दों में कहें तो ‘भावों का वमन नहीं’ है), बल्कि भावनाओं को संयमित रखते हुए विचारों की अभिव्यक्ति है। आचार्य शुक्ल के अनुसार निबंध में व्यक्तित्व का अर्थ सिर्फ इतना होता है कि एक ही विषय को देखने का नज़रिया किसी का कुछ होता है तो किसी का कुछ। यही विशेषता शुक्ल जी के निबंधों की है।

शुक्लजी के निबंधों में वस्तुनिष्ठता के तत्त्व निम्नलिखित स्थलों पर दिखते हैं-

(क) जब वे मनोविकारों की परिभाषा देते हैं और उनमें सूक्ष्म अंतर करते हैं तो उनका विवेचन काफी वस्तुनिष्ठ हो जाता है क्योंकि उसमें व्यक्तिगत विचार या विरोध की गुंजाइश नहीं बचती। यही कारण है कि ऐसे प्रसंग मनोवैज्ञानिकों की धारणाओं से भी सुसंगत है (शेण्ड, मैक्डूगल, स्पेंसर आदि)।

(ख) उन्होंने निबंधों में कई स्थानों पर संस्कृत के आचार्यों, संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों तथा कुछ दार्शनिकों के विचारों का उल्लेख किया है। ये सभी अंश तथ्यात्मक हैं, इसलिए इनमें वस्तुनिष्ठता विद्यमान है।

(ग) ‘कविता क्या है’ जैसे काव्यशास्त्रीय निबंधों में भी उनका विश्लेषण बहुत हद तक भारतीय परंपरा या कुछ पश्चिमी सिद्धांतों से प्रभावित रहा है, जैसे- रस सिद्धांत, बिम्ब सिद्धांत तथा प्रतिभा सिद्धांत आदि। ऐसे प्रसंगों में वस्तुनिष्ठता दिखती है।

उनके निबंधों में व्यक्तिनिष्ठता के तत्व निम्नलिखित स्थलों पर दिखते हैं-

- (क) यह दो प्रकार की है- (i) वैचारिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, (ii) निजी व भावुक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति।
- (ख) भावुक व्यक्तित्व वहाँ दिखता है जहाँ वे अपने जीवन के उदाहरण, हास्य-व्यंग्य, आवेश या क्रोध आदि को व्यक्त करते हैं।
- (ग) वैचारिक व्यक्तित्व ज्यादा मुखर हुआ है-विशेषतः निम्नलिखित प्रसंगों में-
- (अ) 'कविता क्या है' में उन्होंने मौलिक काव्यशास्त्र ही रच दिया है जिसका सबसे बड़ा उदाहरण आरंभ में दिखता है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस को सामान्यतः व्यक्तिवादी धारणा के रूप में लिया जाता रहा है किन्तु उन्होंने रस की लोकमंगलवादी व्याख्या की जो आगे चलकर उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'रस सिद्धांत' में भी दिखती है।
- (आ) 'श्रद्धा-भक्ति' में भी श्रद्धा और भक्ति जैसे सभी भावों के विवेचन में उनके सामाजिक प्रभाव, उनसे संबंधित समस्याओं, भविष्य में उनकी संभावित स्थिति पर विचार हुआ है जो मनोविज्ञान की पुस्तकों का विषय नहीं है।
- कुल मिलाकर ये निबंध न तो वैज्ञानिक लेखों की तरह वस्तुनिष्ठ हैं और न ही ललित निबंधों की तरह आत्मनिष्ठा इनमें आत्मनिष्ठता एक विशेष प्रकार की है जिसे 'वैचारिक आत्मनिष्ठता' कहा जाना चाहिए।

प्रश्न: 'चिन्तामणि' के निबंधों में प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण और तर्कपूर्ण विवेचन का चरम आदर्श लक्षित होता है। विवेचन कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: यदि गद्य की कसौटी निबंध है तो निबंध की कसौटी है- प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण और तर्कपूर्ण विवेचन। श्रेष्ठ निबंध के इन प्रतिमानों का सर्वश्रेष्ठ रूप यदि किसी निबंधकार में दिखाई देता है तो वे हैं- आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने निबंधों के विषय सामान्यतः जटिल काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं एवं गूढ़ मनोविकारों के क्षेत्रों से चुने हैं, जिनके विवेचन-विश्लेषण के लिए प्रौढ़ चिन्तन की अपेक्षा होती है और फिर उसे निबंध-रूप में अवतरित करने के लिए वैज्ञानिक-शैली की आवश्यकता होती है, जो शुक्लजी के चिन्तामणि के निबंधों में आद्यन्त दिखायी देती हैं। 'कविता क्या है' और 'श्रद्धा-भक्ति' जैसे निबंध तो इसके चरम प्रतिमान प्रतीत होते हैं।

चिन्तामणि के निबंधों में चिन्तन की प्रौढ़ता को अवधारणा की सूत्रात्मक शैली की प्रस्तुति में देखा जा सकता है। किसी विषय को लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल गहन एवं गंभीर मनन-चिन्तन के पश्चात् एक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं और निबंध में सर्वप्रथम उसे सूत्र-शैली में प्रस्तुत कर देते हैं। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

1. श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।
2. कर्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक कोई दूसरा नहीं।
3. बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।
4. यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जगमग।

अपने प्रौढ़ चिन्तन की प्रस्तुति के उपरान्त आचार्य शुक्ल उसका सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं ताकि उनके द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत-कथन गहराई के साथ पाठक तक संप्रेषित हो सके। ऐसा करते हुए वे जीवन के विविध क्षेत्रों का अवगाहन करते हैं और वहाँ से उदाहरण भी लाते हैं। उनकी सूक्ष्म विश्लेषण क्षमता को निम्नांकित उदाहरण में देखा जा सकता है जहाँ 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है,'- इस सिद्धांत-कथन के उपरान्त वे उसका सूक्ष्म विश्लेषण इन शब्दों में करते हैं-

जब पूज्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धाभाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि से आनन्द का अनुभव होने लगे- जब उससे संबंध रखने वाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्ति रस का संचार समझना चाहिए।"

इस प्रकार 'चिन्तामणि' के निबंधों में प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण और तर्कपूर्ण विवेचन का चरम आदर्श लक्षित होता है।

प्रश्न: 'श्रद्धा-भक्ति' निबंध के आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की निबंध-शैली की विशिष्टताओं का उद्घाटन कीजिये। (225 शब्द)

उत्तर: आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी निबंध परम्परा के केन्द्रीय रचनाकार हैं। उन्होंने हिन्दी निबंध को परिपक्वता के स्तर तक पहुँचाया है 'श्रद्धा-भक्ति' में उनके परिपक्व निबंध शैली का दर्शन होता है।

आचार्य शुक्ल की निबंध शैली निगमनात्मक है। वे पहले चिंतन करते हैं तथा अनेक उदाहरणों से पुष्ट करते हुए अपने चिंतन का विस्तार करते हैं। श्रद्धा भक्ति में उनकी यह शैली देखी जा सकती है। वे आरंभ में ही श्रद्धा की परिभाषा देते हैं-

"किसी मनुष्य में जनसाधारण से विशेष गुण तथा शक्ति का विकास देखकर, उसके प्रति हृदय में जो स्थायी आनंद का भाव आता है उसे श्रद्धा कहते हैं।" इस परिभाषा में शुक्ल जी की वह शैली भी दिखती है जिसमें वह किसी मनोभाव की सूक्ष्म व वैज्ञानिक परिभाषा देते हैं।

उनके निबंध यद्यपि बृद्धिप्रधान हैं किंतु बीच-बीच में हृदय की भी भूमिका है जिससे निबंधों में सरसता आती है। जब वे निजी जीवन का उदाहरण देते हैं, या हास्य-व्यंग्य करते हैं तो हृदय की भूमिका नजर आती है।

शुक्ल जी की निबंध शैली की एक विशेषता यह भी है कि वे मुख्य विषय के साथ आने वाले अन्य विषयों का भी सूक्ष्म वैज्ञानिक विवेचन करते हैं। श्रद्धा, प्रेम, भक्ति का विवेचन तथा उनके अन्तर्संबंधों की व्याख्या में यह विशेषता मिली जाती है।

भाषा के स्तर पर शब्दों का मितव्ययी प्रयोग, सटीक शब्दावली, नए शब्दों का निर्माण उनकी अद्वितीय विशेषता है। विचारों की 'गूढ़-गुंफित परंपरा' में वाक्यों की प्रवाहमयी संरचना शुक्ल जी के निबंध शैली की अन्यतम विशेषता है। यह सारी विशेषताएँ श्रद्धा-भक्ति में विद्यमान हैं, जैसे-

"प्रेम स्वर्ण है तो श्रद्धा जागरण।"

निष्कर्षतः श्रद्धा-भक्ति शुक्ल जी के निबंधों का प्रतिनिधि निबंध है। दूसरे शब्दों में 'श्रद्धा भक्ति' में शुक्ल जी के निबंध शैली की सारी विशेषताएँ मौजूद हैं।

प्रश्न: 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल' 'श्रुति मार्ग के नहीं, 'मुनि मार्ग के अनुयायी हैं।' उनके निबंधों के आधार पर विचार कीजिये। (225 शब्द)

उत्तर: 'श्रुति मार्ग' और 'मुनि मार्ग' ज्ञान की अखण्ड परंपरा के संरक्षण व विकास के दो मार्ग हैं। 'श्रुति मार्ग' का संबंध संरक्षण से है तो 'मुनि मार्ग' का संवर्धन से। 'श्रुति मार्ग' का अनुयायी वह होता है जो पहले की सुनी सुनाई बातों की ही पुनर्प्रस्तुति करता है। इसके विपरीत, 'मुनि मार्ग' का अनुयायी वह होता है जो मनन की प्रक्रिया से गुजरकर, सूक्ष्म चिंतन करते हुए मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत करता है। चौँक आचार्य शुक्ल ने 'चिंतामणि' में बहुत सी मौलिक उद्भावनाएँ की हैं, इसलिए यह कथन एकदम सही है कि वे श्रुति नहीं मुनि मार्ग के अनुयायी हैं।

शुक्ल जी ने मनोविकार परक निबंध किसी मनोविज्ञान के अध्ययन से नहीं बल्कि सूक्ष्म चिंतन से पैदा हुई हैं। जयचन्द्र राय जैसे समीक्षकों ने पश्चिम के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों, शेण्ड, मेकडूगल तथा स्पेंसर से तुलना करते हुए सिद्ध करने का प्रयास किया है कि शुक्ल जी पश्चिमी मनोविज्ञान से प्रभावित हैं, किंतु, यह सच नहीं है-

(क) शुक्ल जी ने कई ऐसे मनोविकारों पर विचार किया जिन पर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने प्रायः ध्यान नहीं दिया है, जैसे- 'श्रद्धा'।

(ख) शुक्ल जी ने हर मनोभाव की व्याख्या सामाजिक उपयोगिता, व्यक्तिगत जीवन के उदाहरणों तथा साहित्यिक प्रसंगों के आधार पर की है जो पश्चिम के मनोविज्ञान में अनुपलब्ध है।

(ग) शुक्ल जी की भाषा मनोवैज्ञानिकों वाली नहीं है, वह मनोविज्ञान की सूक्ष्मताओं से संपन्न साहित्यिक भाषा है, जैसे-

(i) "बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"

(ii) “यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण।”

शुक्ल जी ने काव्यशास्त्रीय निबंधों में भी अपनी मौलिकता का पर्याप्त परिचय दिया है, सिर्फ संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा का निर्वाह नहीं किया है-

(क) उन्होंने ‘रसवाद’ को स्वीकार किया है किंतु उसे लोकमंगल के भाव से जोड़ दिया है जिसे ‘रस की लोकमंगलवादी अवधारणा’ कहते हैं।

(ख) उन्होंने भामह जैसे अलंकारवादी आचार्यों तथा केशव जैसे बुद्धि प्रेरित वक्रता के प्रयोक्ताओं पर चोट की है, क्योंकि ये सभी तत्व कविता में साधक नहीं, बाधक ही होते हैं। वक्रता पर अत्यधिक बल देने के कारण उन्होंने भारतीय चिंतक कुंतक व पाश्चात्य विचारक क्रोचे पर चोट की है।

(ग) उन्हें पश्चिम के जो सिद्धांत अच्छे लगे उन्होंने उनका स्वागत किया, जैसे- बिंब की धारणा।

निष्कर्ष: स्पष्ट है कि ‘चिंतामणि’ के निबंधों में शुक्ल जी का मौलिक व्यक्तित्व बार-बार उभरता है। इस दृष्टि से यह मानना पड़ता है कि वे न सिर्फ ‘मनु सार्ग’ के अनुयायी हैं बल्कि हिंदी की मुनि परंपरा के प्रस्थान बिंदु भी हैं।

निबंध निलय

प्रश्न: ‘पांडित्य और लालित्य का विलक्षण संयोग आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की निबंध-कला की अन्यतम विशेषता है।’ इस कथन के संदर्भ में ‘कुहज’ निबंध का विवेचन कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: विद्वता तथा सहृदयता का समन्वय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों की अद्वितीय विशेषता है। विद्वता के कारण जहाँ उनके निबंधों में पांडित्य की छटा दिखाई देती है, वहीं सहृदयता के कारण लालित्य का प्रवाह। किन्तु, उनकी निबंध-कला की विशेषता उनके निबंधों में इन दोनों की उपस्थिति नहीं है, बल्कि उनके एक-दूसरे में अन्तर्लपित होने में है। ललित-शैली में गंभीर से गंभीर पांडित्यपूर्ण बात कहने में और पांडित्यपूर्ण बात को उनका निबंध-लेखन कौशल देखते ही बनता है।

कुटज शब्द के अर्थ निर्धारण के क्रम में वे मिथक, संस्कृत साहित्य, भाषा विज्ञान, लोक प्रचलन इत्यादि की विद्वतापूर्ण व्याख्या में जाते हैं। उदाहरण के लिए कुटज के अर्थ निर्धारण में द्विवेदी जी ‘कूट’ से निर्मित कुछ शब्दों के पीछे की लोक-कथाओं के अर्थ का उद्घाटन करने का भी प्रयास करते हैं। वे लिखते हैं “कुटज अर्थात् जो कूट में पैदा हुआ हो। कूट घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कूट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण प्रतापी अगस्त्य मुनि भी कुटज कहे जाते हैं। संस्कृत में कूटहारिका और कूटकारिका दासी को कहते हैं। अगस्त्य मुनि भी नारद जी की तरह दासी के पुत्र थे क्या?” कुटज के अर्थ-निर्धारण के उपरान्त द्विवेदी जी कुटज की अपराजेय जीवनी शक्ति की चर्चा करते हुए कुटज के जीवन को मानव जीवन हेतु एक जीवन संदेश और जीवन दर्शन में विकसित कर देते हैं। कुटज का जीवन दो जीवन धर्म प्रस्तावित करता है- एक, अपार जिजीविषा और दूसरा, उद्देश्यपूर्ण जीवन।

कुटज की जीवनी-शक्ति और जीवन-संघर्ष को वे प्रशंसा के भाव से देखते हैं। कुटज एकदम एकांत में संसाधनों के अभाव में रहते हुए भी जीवंत बना रहता है। उसे मानव जीवन के लिए आदर्श बताते हुए लालित्यपूर्ण भाषा में द्विवेदी जी लिखते हैं, “कितनी कठिन जीवनी शक्ति है! प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवन-शक्ति ही जीवनी-शक्ति को प्रेरणा देती है।”

कुटज के जीने का यह ढंग द्विवेदी जी के अनुसार मनुष्य के लिए एक आदर्श है। कुटज जैसे मनुष्य को यह संदेश दे रहा हो कि “जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो, वायुमंडल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर, अवकाश की लहरों में झूमकर उल्लास खींच लो।”

किंतु अपने पांडित्य का परिचय देते हुए द्विवेदी जी मानव जीवन के संदर्भ से यहीं एक नया प्रश्न उपस्थित करते हैं। क्या जीने की प्रचंड इच्छा ही जीवन का उद्देश्य है? पश्चिमी विचारकों हॉब्स और हेल्वैशियस के हवाले से द्विवेदी जी कहते

हैं कि आज सर्वत्र लूट-पाट आधारित जीवन का ही बोलबाला है। जिजीविषा को जीवन की बड़ी शक्ति मानते हुए भी वे लिखते हैं “जिजीविषा से भी प्रचंड कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है।”

अंततः कुटज के जीवन को एक जीवन दर्शन के रूप में ग्रहण करते हुए द्विवेदी जी प्रस्तावित करते हैं कि सुख और दुःख, राग और विराग पर जिसका सम्यक् नियंत्रण है, वही सार्थक जीवन जी सकता है।

इस प्रकार कुटज निबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की निबंध-कला की अन्यतम विशेषता पंडित्य और लालित्य का संयोग गहन स्तर पर दिखाई देता है।

प्रश्न: अज्ञेय के निबंध ‘संवत्सर’ के प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: अज्ञेय के निबंधों में मूलतः उनका साहित्यिक, आलोचनात्मक चिंतन अभिव्यक्त हुआ है। उनके चिंतन में काल-चिंतन, साहित्य-चिंतन एवं मनुष्य-चिंतन प्रमुख रहे हैं। ‘संवत्सर’ उनका काल-चिंतन संबंधी निबंध है।

इसमें उन्होंने मूलतः साहित्य सृजन के परिप्रेक्ष्य में अपने काल संबंधी चिंतन को अभिव्यक्त किया है। उनका काल संबंधी चिंतन समय की चक्रीय अवधारणा पर आधारित परंपरागत भारतीय विचारधारा के अनुरूप है। समय की इस चक्रीय अवधारणा में कुछ भी समाप्त, व्यतीत या अतीत नहीं होता बल्कि वह आगे जो कुछ भी होने वाला है, उसका आधार बन जाता है। जो अतीत है, वह न सिर्फ वर्तमान बल्कि भविष्य में भी शामिल है।

इस निबंध का मूल विचार यह है कि सृष्टि की हर घटना को देखने के दो नज़रिये हो सकते हैं। कुछ लोग ‘ध्यान’ देते हैं पर उनकी ‘दृष्टि’ नहीं जाती। ‘ध्यान देना’ साधारण तरीके से देखना है जिससे नश्वरता, क्षणिकता आदि महसूस होती है। पर, जो लोग ‘दृष्टि’ के साथ देखते हैं, वे पाते हैं कि हर क्षणिक घटना अंततः ‘निरंतरता’ व ‘अनश्वरता’ की ही अभिव्यक्ति है।

वस्तुतः अज्ञेय पर बौद्ध दर्शन का गहरा प्रभाव है जिसे उन्होंने इस निबंध में स्वीकारा भी है। बौद्धों का मानना है कि कुछ भी नित्य नहीं है, पर हर क्षणिक वस्तु ‘अर्थक्रियाकारित्व’ अर्थात् ‘उत्पादन की क्षमता’ से युक्त होती है तथा अपने नाश से पहले किसी नवीन वस्तु को उत्पन्न कर जाती है।

इसी संदर्भ में लेखक ध्यान संप्रदाय (जैन-बौद्धमत) के माध्यम से बौद्ध चिंतन एवं आरण्यक-वासियों के माध्यम से मूल वैदिक चिंतन का उल्लेख करता है। लेखक कहता है कि उन चिंतनों में मानव शरीर की नश्वरता के साथ-साथ सृष्टि की अनवरतता की बात की गई है।

लेखक भारतीय संस्कृति के मृत्यु संबंधी विचारों तथा दाह-संस्कार आदि के माध्यम से भी जीवन और सृष्टि की अनवरतता का दर्शन प्रस्तुत करता है। वह ध्यान दिलाता है कि भारतीय चिंतन में मृत्यु को जीवन का अंत नहीं बल्कि नित्य प्रवाह के एक अंश के रूप में समझा गया है।

इस सृष्टि में जो कुछ घटित होता है वह काल के भीतर ही होता है। इसी कारण लेखक काल को ही एक व्यक्तित्व प्रदान करते हुए उसे ‘संवत्सर’ कहता है। काल के प्रति अखण्ड और अनवरत दृष्टि रखने वाले द्रष्टा चिंतक की दृष्टि में संवत्सर ही स्रष्टा था। चूँकि प्रत्येक अस्तित्व समय में आता है और एक नए अस्तित्व के आगमन के लिए विलीन हो जाता है, इसलिए भारतीय चिंतन-पद्धति में संवत्सर को ही स्रष्टा माना गया।

लेखक बौद्ध दर्शन की प्रासंगिकता स्पष्ट करते हुए कहता है कि इसमें नश्वरता को ही नहीं देखा गया है। उसके भीतर सनातनता की प्रवृत्ति दिखती है और आधुनिक विज्ञान भी काल के प्रति ऐसी ही धारणा रखता है।

अज्ञेय ने यह भी बताया है कि चिंतन की सार्थकता का पैमाना क्या है? हर प्रश्न के उत्तर खोज लेना न ज़रूरी है, न संभव। कुछ प्रश्नों की सार्थकता उन तक पहुँच जाने में ही है। जिज्ञासा ही जीवन का सारतत्व है और जो गहन जिज्ञासा की उपलब्धि कर लेता है, वह जीवन के सही अर्थ को समझने की स्थिति में आ जाता है।

प्रश्न: ‘गुलाब राय का निबंध ‘भारतीय संस्कृति’ भारतीय संस्कृति के बाह्य एवं आंतरिक पक्षों की चर्चा करते हुए उसके समक्ष उपस्थित चुनौतियों की भी चर्चा करता है।’ विवेचन कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: बाबू गुलाब राय शुक्ल युग के सशक्त निबंधकार माने जाते हैं। 'भारतीय संस्कृति' नामक प्रस्तुत निबंध गुलाब राय के विचारपरक निबंधों में से एक है जिसमें उन्होंने भारतीय संस्कृति के बाह्य एवं आंतरिक पक्षों की चर्चा करते हुए उसके समक्ष उपस्थित चुनौतियों की भी चर्चा की है।

बाबू गुलाबराय ने निबंध के आरंभ में 'संस्कृति' की परिभाषा दी है। वे उसे 'संस्कार' तथा अंग्रेजी में शबनसजनतमश धातु से जोड़कर परिभाषित करते हैं और बताते हैं कि कैसे विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियाँ और ऐतिहासिक स्थितियाँ संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

संस्कृति की परिभाषा देने के बाद लेखक ने उसके आंतरिक और बाह्य दो भाग किए हैं। संस्कृति के बाह्य पक्ष में उन्होंने भाषा, जलवायु, रहन-सहन, वस्त्र, रीतियों-रुचियों, मान्यताओं, भोजन, जीवन-यापन इत्यादि को रखा है तो आंतरिक पक्ष में उन्होंने किसी देश की सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि को शामिल किया है।

गुलाब राय भाषा को संस्कृति का बाह्य पक्ष मानते हुए उसे जातीय मनोवृत्ति का भी परिचायक मानते हैं। 'कुशल', 'प्रवीण', 'गो' तीन शब्दों के माध्यम से वे शब्दों के अर्थ के विकास को भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं के अनुरूप विकसनीय सिद्ध करते हैं। किसी देश के मुहावरों और लोकोक्तियों पर उस देश की जलवायवीय एवं सामाजिक, ऐतिहासिक विशेषताओं का प्रभाव गहरा होता है, इसे उन्होंने हिन्दी व अंग्रेजी की कुछ सुंदर तुलनाओं से स्पष्ट किया है। उनके अनुसार किसी देश के रहन-सहन, खान-पान, पोशाक आदि पर भी उस देश की जलवायवीय, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक विशेषताओं का प्रभाव होता है।

गुलाब राय ने संस्कृति के आंतरिक पक्षों पर विस्तार से चर्चा करते हुए भारतीय संस्कृति के आंतरिक तत्वों के रूप में निर्माकृत तत्वों को रखा है- (क) आध्यात्मिकता, (ख) समन्वय बुद्धि, (ग) वर्णाश्रम विभाग, (घ) अहिंसा, करुणा, मैत्री और विनय, (ङ) प्रकृति प्रेम।

इस निबंध का वैचारिक पक्ष अत्यंत परंपरागत है जिसमें शास्त्रबद्ध मान्यताओं का सर्वत्र समर्थन दिखाई देता है। लेखक धर्मग्रंथ, मनुस्मृति, भगवद्गीता, वैदिक साहित्य इत्यादि की मान्यताओं के आधार पर भारतीय संस्कृति के लक्षणों को निर्धारित करने का प्रयास करता है। लेखक की इस सांस्कृतिक अवधारणा में अवैदिक, अनार्य एवं अन्य लौकिक संस्कृतियों के तत्वों का महत्व नहीं दिखाई देता। समन्वयात्मकता को भारतीय संस्कृति की आंतरिक विशेषता बताते हुए भी भारतीय संस्कृति के 'मूल' के संरक्षण पर अधिक बल दिया गया है।

निबंध के अंतिम अंश में निबंधकार ने तत्कालीन भारतीय संस्कृति के समक्ष उत्पन्न सांस्कृतिक संक्रमण की चुनौती की चर्चा की है। लेखक मानता है कि अन्य संस्कृतियों से भी कुछ तत्वों को स्वीकार करना प्रासंगिक है किन्तु हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपनी संस्कृति के मूल तत्वों से समझौता न करें। लेखक इस्लामी एवं सांस्कृतिक अंग्रेजी संक्रमण को लेकर चिंतित है तथा समन्वय के दावों के बावजूद भारतीयता के पक्ष में झुका हुआ है।

प्रश्न: प्रेमचंद के निबंध 'साहित्य का उद्देश्य (प्रगतिशीलता)' के आधार पर उनकी साहित्य-संबंधी मान्यताओं को प्रस्तुत कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: प्रेमचंद के निबंधों में उनका वैचारिक चिंतन प्रकट हुआ है। उनका निबंध 'साहित्य का उद्देश्य (प्रगतिशीलता)' उनकी साहित्य-संबंधी चिंतन को अभिव्यक्त करने वाला निबंध है।

प्रेमचंद साहित्यकार को स्वभावतः प्रगतिशील मानते हैं- "साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है; अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता।" आगे वे बताते हैं कि प्रगतिशीलता का अर्थ क्या है? उनके अनुसार प्रगतिशील व्यक्ति अपने वर्तमान की कमियों से परेशान होकर बेहतर स्थितियों का निर्माण करना चाहता है।

प्रेमचंद अपने समय के साहित्य की ज़रूरत को स्पष्ट करते हुए नश्वरतावादी, रोमांटिक एवं मनोरंजनकारी साहित्य की भूमिका को पूर्णतः खारिज करते हैं। वे कला को सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर कसने का प्रस्ताव करते हैं- "मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।

प्रेमचंद प्रगतिशील साहित्य हेतु सौंदर्य की कसौटी के बदले जाने पर बल देते हैं। वे परंपरावादी, रूपवादी कवियों द्वारा निर्धारित सौंदर्य की आभिजात्यवादी कसौटियों को निरस्त हैं। वे रीतिवादी सौंदर्य प्रतिमानों को निरस्त करते हुए आम जन के जीवन-संघर्ष में सौंदर्य को खोजते हैं।

प्रेमचंद इस निबंध में साहित्यकार और समाज के अंतर्संबंधों को प्रगतिशील संदर्भों में परिभाषित करते हैं। साहित्यकार के लक्ष्य को वह निम्नांकित शब्दों में घोषित करते हैं- “साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है- उसका दर्जा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।” प्रेमचंद की यह घोषणा साहित्य जगत में ऐतिहासिक सिद्ध हुई।

प्रेमचंद साहित्यकार की प्रतिभा को मूलतः जन्मजात मानते हैं किंतु उनकी राय है कि प्रतिभा ही पर्याप्त नहीं है, साहित्यकार को ज्ञानार्जन तथा अभ्यास भी करना चाहिए। इसी संबंध में वे साहित्यकारों के लिए स्वतः स्फूर्त भावों की तुलना में साहित्य सृजन हेतु निश्चित विषयों के चुनाव पर बल देते हैं।

साहित्य को सेवा कर्म के रूप में परिभाषित करते हुए वे साहित्य-सृजन को धनार्जन की चीज़ मानने से साफ तौर पर इनकार करते हैं- “जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मंदिर में उनके लिए स्थान नहीं है।”

प्रेमचंद साहित्य के लिए जनसाधारण की भाषा एवं शैली को प्रस्तावित करते हुए लिखते हैं- “आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने आप सरल हो जाती है। जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहने वाला है, वह रईसी रचना शैली स्वीकार करता है; जो जनसाधारण का है, वह जनसाधारण की भाषा में लिखता है।”

प्रेमचंद इस निबंध में अपने समय के संकटों के अनुरूप प्रासंगिक साहित्य को इन शब्दों में उद्घोषित करते हैं- “हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो गगन जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो- जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।”

यही वे साहित्य-संबंधी मान्यताएँ हैं जो प्रेमचंद के निबंध ‘साहित्य का उद्देश्य (प्रगतिशीलता)’ में अभिव्यक्त हुई हैं।

प्रश्न: भारतीय नवजागरण के संदर्भ में बालकृष्ण भट्ट के निबंध ‘साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है’ पर विचार करते हुए उसका महत्त्व बताइए। (300 शब्द)

उत्तर: बालकृष्ण भट्ट भारतेंदु युग के प्रतिनिधि निबंधकार हैं जिनके निबंध लेखन में इस युग की सर्वाधिक सृजनात्मक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ‘साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है’ उनका प्रतिनिधि-निबंध है जिसमें भारतेंदुयुगीन भारतीय नवजागरण की चेतना सर्वत्र अंतर्व्याप्त है। इसमें साहित्य को व्यक्ति के संदर्भ में न देखकर जनसमूह के हृदय के विकास के संदर्भ में देखा गया है- “प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है, वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रगट हो सकते हैं। xxx इसलिए साहित्य यदि जन-समूह (Nation) के चित्त का चित्रपट कहा जाए तो संगत है।”

भट्ट जी साहित्य को इतिहास से अलग करते हैं। यह विभेदीकरण प्रायः वैसा ही है जैसा प्रेमचंद के यहाँ किया गया है। प्रेमचंद का प्रसिद्ध विचार है कि इतिहास में नाम, तिथियाँ, घटनाएँ सच होती हैं किंतु बाकी सब झूठ जबकि साहित्य में नाम, तिथियाँ, घटनाएँ झूठ होती हैं, बाकी सब सच। भट्ट जी कहते हैं- “किसी देश का इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते हैं पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय-समय के आभ्यन्तरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।”

बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास मानते हुए वैदिक साहित्य से लेकर भारतेंदुयुगीन गद्य साहित्य तक पर विचार किया है। भट्ट जी ने वैदिक साहित्य के विश्लेषण से बात आरंभ की है। उपनिषद् साहित्य को भट्ट जी आर्यों के ईश्वर विषयक चिंतन का परिणाम मानते हैं। स्मृति साहित्य को भट्ट जी उस सामाजिक व्यवस्था की उपज मानते हैं जिसमें ‘सबों को एकता के सूत्र में बद्ध रखने के लिए और अपने-अपने गुण कर्म से चल-विचल हो सामाजिक नियमों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाए’ जैसी स्थिति की आवश्यकता महसूस की गई। इसके बाद भट्ट जी रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों की व्याख्या करते हैं। वे उदाहरण देते हैं कि रामायण उस युग की अभिव्यक्ति है जिसमें दो भाई (राम

एवं भरत) एक दूसरे के लिए सारा राजपाट न्यूँच्छावर करने के लिए व्याकुल दिखते हैं। वहीं, महाभारत में उस समाज की स्थिति अभिव्यक्त हुई है जिसमें दो भाइयों के कुलों का पारिवारिक स्वार्थ इस हद तक हो गया है कि बिना युद्ध के वे सुई के अग्रभाग के बराबर ज़मीन भी नहीं सौंपेंगे। इसके बाद भट्ट जी बौद्ध, पुराण तथा तांत्रिक परंपरा की चर्चा करते हैं। इनके प्रति उनके मन में आलोचना का भाव ज्यादा प्रबल है।

भट्ट जी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तथा हिन्दी की बोलियों के विकास को स्पष्ट करते हुए उनका तुलनात्मक विश्लेषण भी करते हैं। इस संदर्भ में भारतेन्दुयुगीन हिन्दी में गद्य की स्थिति को कमजोर मानते हुए भट्ट जी उसे सशक्त बनाने का आह्वान करते हैं। बालकृष्ण भट्ट का यह निबंध स्वयं उसी आह्वान की एक अभिव्यक्ति बन जाता है।

इस निबंध में भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नवजागरण के अंतर्विरोधों की भी पहचान स्पष्टतः की जा सकती है। बालकृष्ण भट्ट जी बार-बार इस देश को 'आर्यों का देश' एवं 'हिन्दू जाति' जैसे पदों से पहचानते हैं जो कि आगे चलकर हिन्दी नवजागरण की एक बड़ी सीमा बन जाती है।

इस निबंध की वैचारिक परिपक्वता का साक्ष्य शुक्लजी के साहित्य संबंधी चिंतन पर इसके प्रभाव से मिलता है। शुक्लजी ने साहित्य को 'जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब' कहा था। साहित्य संबंधी शुक्लजी की इस अवधारणा पर भट्ट जी के 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' वाली अवधारणा का निर्णायक प्रभाव स्पष्ट है। शुक्लजी ने आगे कहा था कि ऐतिहासिक परिस्थितियों में परिवर्तन के अनुरूप जनता की चित्तवृत्तियों में भी परिवर्तन होता चलता है। साहित्य इन परिवर्तित चित्तवृत्तियों को ही अभिव्यक्ति देता है। स्पष्टतः शुक्लजी की इस मान्यता पर भट्ट जी की मान्यता का प्रभाव स्वतः सिद्ध है। इसी से भट्ट जी के इस निबंध का ऐतिहासिक महत्त्व भी सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न: कुबेरनाथ राय के निबंधों की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

(300 शब्द)

उत्तर: कुबेरनाथ राय का हिन्दी के ललित निबंधकारों में प्रमुख स्थान है। उनके निबंध व्यक्ति प्रधान निबंध हैं जिनमें पाण्डित्य की छाप के साथ-साथ व्यंग्य विनोद का पुट व मौलिक चिंतन भी विद्यमान है। कुबेरनाथ राय के संस्कार भले ही परम्परावादी हों, लेकिन उनकी दृष्टि आधुनिक व नवीन है। कुबेरनाथ राय के प्रसिद्ध निबंध संकलन हैं:- प्रिया नीलकण्ठी, रस आखेटक, गंध मादन, पर्णमुकुट, निषाद बांसुरी, महाकवि की तर्जनी, कामधेनु आदि।

कुबेरनाथ राय ने अपने निबंधों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिवेश को उभारने का प्रयास किया है, जिसमें उन्हें सफलता भी मिली है। इनके निबंधों में सांस्कृतिक बोध भी पर्याप्त मात्रा में दिखायी देता है। वे इस बात से सहमत हैं कि आज व्यक्ति ने आधुनिक बोध से जुड़कर अपने सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा करनी आरंभ कर दी है। वे लोक संस्कृति एवं ग्राम संस्कृति से जुड़े हुए ऐसे निबंधकार हैं जिन्हें अपनी विषय वस्तु उसी पृष्ठभूमि से प्राप्त होती है। लोक संस्कृति की विशेष जानकारी होने के कारण उसका प्रयोग वे अपने निबंधों में भी करते हैं।

कुबेरनाथ राय के निबंधों में मुक्त मन का आवेग एवम् लेखक की कल्पना का उन्मुक्त विलास परिलक्षित होता है, क्योंकि ललित निबंधों में लेखक विषय पर केन्द्रित नहीं रहता, बल्कि वह तो उस विषय से जुड़े हुए अन्य महत्वपूर्ण एवं संबंधित तथ्यों का विवरण भी मनोरंजक तरीके से उसमें समाविष्ट करता चलता है।

अपने विवरणात्मक निबंधों में कुबेरनाथ राय ने आत्मकथात्मक शैली का सहारा लेकर यूरोप के प्रसिद्ध कवियों के कृतित्व की आलोचना की है। 'सिंहद्वार का कविप्रेत' व 'होमर: आत्मकथ्य' ऐसे ही निबंध हैं। ये निबंध समीक्षात्मक होने पर भी माधुर्य एवं लालित्य से परिपूर्ण हैं। उनके निबंधों में बुद्धि तत्व के साथ-साथ कल्पना तत्व, शैली तत्व एवं अनुभूति तत्व का सुंदर सम्मिश्रण देखने को मिलता है, साथ ही उसमें वैयक्तिकता का समावेश भी दिखाई देता है।

भावात्मक शैली का सर्वाधिक प्रयोग कुबेरनाथ जी ने अपने निबंधों में किया है। 'दर्पण विश्वासी' नामक निबंध की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं- "वाह रे भाई दर्पण, मैं तो यही समझता था कि तुम लोगों से नज़र लड़ाते हो, जो चेहरा जितना भी खूबसूरत होता है, वह उतना ही देर तुम्हारी नज़र पर चढ़ा रहने की कोशिश करता है और तुम्हें बार-बार बैनिटी बैग से निकाल कर तुम्हारा मुख चन्द्र देखता है।" कुबेरनाथ राय के निबंधों में लाक्षणिक शैली भी दिखलाई पड़ती है। जिस कारण कथन में वक्रता एवं उक्तियों में चारुता का समावेश हुआ है- "आकाश में मेघों की फसल कट चुकी है।" आलंकारिकता

भी इनकी निबंध शैली में विद्यमान है। तथा आलंकारिक कथनों से भाषा में चारुता व अर्थ की नूतनता का विधान हुआ है, साथ ही व्यंग्यात्मक शैली ने अभिव्यक्ति को रोचक बनाया है। वस्तुतः इनके निबंधों की भाषा में अर्थ गाम्भीर्य, लालित्य, रोचकता, सरसता, लाक्षणिकता तथा चित्रोपमता, प्रतीकात्मकता, उक्ति वैचित्र्य एवं आलंकारिकता सभी विद्यमान है। इनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ, तत्सम शब्दावली से युक्त खड़ी बोली हिन्दी है जिसमें लोक प्रचलित उर्दू, फारसी के शब्दों के साथ-साथ अंग्रेजी के शब्द भी दिखाई देते हैं। वह देशज शब्दों का प्रयोग भी सहज रूप से करते हैं। यथा- कुनमुना, झुटपुटा, बरैया, झलफला, उलजलूल आदि। भाषा में कुबेरनाथ राय ने सूक्तियों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। जैसे- 'चना अन्नों का शहंशाह है', 'नारी रहस्य का सिन्धु है।' मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करने के साथ-साथ इन्होंने बीच-बीच में उसमें संस्कृत के उद्धरण भी दिए हैं। इन कारणों से इनके निबंधों में भाषा की अपूर्व शक्ति देखी जा सकती है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि कुबेरनाथ राय हिन्दी के ऐसे निबंधकार हैं जिन्होंने ललित निबंधकार के रूप में हिन्दी निबंध साहित्य की पर्याप्त अभिवृद्धि की है तथा हिन्दी निबंध साहित्य में उनका विशेष योगदान रहा है।

प्रश्न: शिल्प की दृष्टि से 'कुटज' निबंध का विवेचन कीजिए।

(300 शब्द)

उत्तर: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध 'कुटज' ललित निबंध का क्लासिक उदाहरण माना गया है। इसमें व्यक्तित्व-व्यंजकता के सभी तत्व-पांडित्य, सहृदयता, आत्मीयता, वैचारिक उन्मुक्तता, सहजता-सरलता, स्वच्छंदता, रागात्मकता, अनुभूतिशीलता मौजूद हैं। यथास्थान प्राकृतिक सौंदर्य का रसपूर्ण चित्रण वर्णन उपलब्ध है।

गूढ़ विवेचन के साथ-साथ नितांत आत्मीय बातचीत की शैली 'कुटज' निबंध के शिल्प की अन्यतम विशेषता है। इस निबंध में द्विवेदी जी ने एक वृक्ष के जीवन को एक मानवीय आख्यान में बदल दिया है। आत्मीयता उनकी एक विशिष्ट शैली बनकर सामने आती है। उदाहरण के लिए- "अजीब-सी अदा है, मुस्कराता जान पड़ता है, पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे नहीं पहचानते?"

संवाद शैली इस निबंध की शिल्प की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है। निबंध की विषयवस्तु वैचारिक एवं विवेचन विश्लेषण प्रधान होते हुए भी द्विवेदी जी ने बार-बार इसमें संवादों के लिए जगह निकाल ली है। कहीं ये संवाद स्वयं से हैं तो कहीं कुटज वृक्ष से, जैसे- "पहचानता हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ! नाम भूल रहा हूँ।"

द्विवेदी जी प्रश्नों के माध्यम से प्रसंग का विस्तार करते हैं। वे किसी विषय का विवेचन करते हुए स्वयं से छोटे-छोटे सवाल करते हैं और उन सवालों के उत्तर में संवादों का जन्म होता है। इस तरह निबंध क्रमशः विकसित होता है। कुछ प्रश्न हैं-

'इस गिरिकूट-बिहारी का नाम क्या है?'

'रूप मुख्य है या नाम?'

'नाम बड़ा है या रूप?'

द्विवेदी जी का गहन, व्यापक और बहुआयामी अध्ययन इस निबंध की अंतर्वस्तु की प्रकृति को निर्धारित करता है। किंतु, इससे भी महत्वपूर्ण है उनकी पर्यालोचन शक्ति और विश्लेषण क्षमता। उन्होंने संस्कृत साहित्य, लोक साहित्य, दर्शन, मानव-विज्ञान के साथ-साथ भाषाविज्ञान के अपने गहन अध्ययन का अत्यंत सृजनात्मक प्रयोग किया है।

द्विवेदी जी के यहाँ सूक्तिपरकता स्वयं अपने ही अनुभव एवं विश्लेषण के निचोड़ के रूप में आती है। इस निबंध में भी कई सूक्तिपरक वाक्य आए हैं किंतु वे बाहर से आरोपित न होकर स्वयं निबंध की अंतर्वस्तु से विकसित हुए हैं, जैसे- "रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज-सत्य है।"

इस निबंध की भाषा तत्सम प्रधान है किंतु उसका विन्यास बिल्कुल बोलचाल की भाषा जैसा है। कई बार तत्सम प्रधान वाक्यों के बीच बिल्कुल बातचीत वाले वाक्य रखे गए हैं, जैसे- "लगता तो ऐसा ही है, शिव की लटियाई जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है।" लोक प्रचलित प्रयोगों जैसे 'गाढ़े के साथी', 'उजाड़ के साथी' आदि का प्रयोग विषयवस्तु को रोचक और संप्रेष्य बनाता है।

यथास्थान अंग्रेजी शब्दों और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे- 'आस्ट्रो-एशियाटिक' और 'व्हाट्स देयर इन ए नेम'। समग्रतः यह निबंध हिन्दी साहित्य में अपनी संवेदना, शिल्प एवं शैली सभी दृष्टियों से एक प्रतिमान के रूप में समादृत रहा है।

प्रश्न: 'क्या आपको लगता है कि एक मार्क्सवादी आलोचक एवं निबंधकार होते हुए भी रामविलास शर्मा तुलसी-साहित्य का मूल्य-निर्धारण करते हुए सामान्य मार्क्सवादी अवधारणा का अतिक्रमण करते हैं।' पाठ्यक्रम में निर्धारित निबंध के आधार पर अपना मत प्रकट कीजिए। (300 शब्द)

उत्तर: रामविलास शर्मा हिन्दी में शुक्ल जी की परंपरा का विकास करने वाले मार्क्सवादी आलोचक व निबंधकार हैं। सामान्यतः मार्क्सवादी आलोचना ने गोस्वामी तुलसीदास पर सामंती जीवन-मूल्यों के पोषण का आरोप लगाया है, पर रामविलास शर्मा की दृष्टि इससे सहमत नहीं है। अपने निबंध 'तुलसी-साहित्य के सामंत विरोधी मूल्य' में उन्होंने तुलसी साहित्य व तुलसी पर लगाए गए आरोपों का विश्लेषण करते हुए तुलसी साहित्य के सामंत विरोधी मूल्यों को पूरी प्रामाणिकता से सिद्ध करने का प्रयास किया है। शर्मा जी के अनुसार जो साहित्य और साहित्यकार जातीय संस्कृति को मजबूत और विकसित करता है, वह प्रगतिशील होता है।

रामविलास शर्मा के अनुसार श्रद्धावादी और प्रतिक्रियावादी दोनों तरह के आलोचकों ने अब तब तुलसी के साहित्य का गलत मूल्यांकन किया है। एक के अनुसार वे हिन्दू समाज और संस्कृति के उद्धारक हैं तो दूसरे के अनुसार वे ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पोषक। शर्मा जी इन दोनों अतिवादी विचारों को खंडित करते हुए भक्तिकाव्य के सामाजिक-ऐतिहासिक आधारों को स्पष्ट करते हुए सिद्ध करते हैं कि तुलसी साहित्य में सामंतवाद विरोधी चेतना और मूल्य प्रमुख हैं।

गोस्वामी तुलसीदास पर एक बड़ा आरोप यह है कि वे वर्णाश्रम-व्यवस्था के समर्थक थे। तुलसी की जातिवाद को चुनौती देने वाली पंक्तियों को शर्मा जी उद्धृत करते हैं-

“धूत कहौ, अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ।
x x x x x x x
माँगि के खैबो, मसीत को सोइबो,
लेबै को एक न देबै को दोऊ।”

वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि कहीं-कहीं तुलसी वर्णधर्म के पतन पर क्षोभ व्यक्त करते हुए क्यों दिखते हैं, शूद्रों को ब्राह्मणों की बराबरी करते हुए देखकर क्यों नाराज हो जाते हैं? उनके अनुसार, ऐसे प्रसंग तुलसी द्वारा रचित होने की संभावना बहुत कम है। ज़्यादा संभावना इस बात की है कि ऐसे प्रसंग पुरोहित वर्ग द्वारा थोपे गए हों।

रामविलास जी यह सिद्ध करते हैं कि तुलसी का साहित्य समावेशी सामाजिक व्यवस्था का प्रस्तावक है। तुलसीदास ने राम के माध्यम से उपेक्षित निम्न एवं आदिम जातियों, जनजातियों के प्रति जिस तरह मानवीय सद्व्यवहार कराया है, वह एक समावेशी समाज का निर्माण करने वाला है। इसे शर्मा जी उनकी भक्ति का जनवादी तत्व कहते हैं। चित्रकूट-प्रसंग में तुलसीदास केवट, निषाद एवं कोल, किरातों को शामिल करते हैं। यहीं पर शर्मा जी लिखते हैं- “जब आप याद करेंगे कि मुगल बादशाहों के ज़माने में इन कोल किरातों का आखेट होता था और जो पकड़े जाते थे, वे काबुल में बेच दिए जाते थे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शासन में लाखों की तादाद में उन्हें जरायम पेशा करार दिया गया, तब तुलसीदास की प्रगतिशीलता समझ में आएगी।”

शर्मा जी सिद्ध करते हैं कि तुलसी का साहित्य नारी की पराधीनता की पहचान करने वाला साहित्य है। इस संदर्भ में उन्होंने 'अयोध्याकांड' से अनेक उदाहरण दिए हैं। तुलसीदास पुरुषों के लिए एकनारीव्रत निर्धारित करने वाले हिन्दी के एकमात्र कवि हैं। उनके मतानुसार नारी विरोधी जो भी बातें हैं, वे या तो किसी प्रसंग विशेष में किसी खल-पात्र द्वारा कही गई हैं या फिर प्रक्षिप्त हैं।

शर्मा जी सिद्ध करते हैं कि तुलसी इस जगत की प्रत्यक्षता को स्वीकार करने वाले कवि हैं। शंकर के मायावाद के प्रति उनका विरोध इस जगत की समस्याओं एवं सच्चाइयों की स्वीकृति का प्रतीक है। शर्मा जी इसे पूर्णतः वस्तुवादी जीवन दर्शन के निकट मानते हैं। तुलसीदास का बचपन घोर गरीबी में बीता था, इसीलिए उनका साहित्य भूख, गरीबी, दरिद्रता, दुख जैसी ठोस भौतिक समस्याओं को पहचानने वाला मानववादी साहित्य है।

तुलसी राजनीतिक प्रसंगों में भी सामंत विरोधी चेतना प्रस्तुत करते हैं। उनके 'राम' लोककल्याणकारी राज्य के प्रतीक हैं।

निष्कर्ष के रूप में रामविलास शर्मा तुलसी को भारतीय जनजागरण का सर्वश्रेष्ठ कवि कहते हैं। जातीय एकता व जातीय संगठन की दृष्टि से वे हिन्दी के सर्वाधिक प्रभावशाली कवि हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि एक मार्क्सवादी आलोचक एवं निबंधकार होते हुए भी रामविलास शर्मा तुलसी-साहित्य का मूल्य-निर्धारण करते हुए सामान्य मार्क्सवादी अवधारणा का अतिक्रमण करते हैं।

व्याख्या-भाग

1. तो क्या ये मेरे मोटे होने के दिन हैं? मोटे वह होते हैं जिन्हें न रिन का सोच होता है न इज्जत का। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख? सुख तो जब है कि सभी मोटे हों।

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश मुंशी प्रेमचंद द्वारा 1936 ई. में रचित हिन्दी के पहले महाकाव्यात्मक उपन्यास गोदान से लिया गया है। गोदान प्रेमचंद की लेखन यात्रा की सिद्धावस्था है जहाँ वे आदर्शवाद की छाया से निकलकर यथार्थवाद को पूरी तल्लीनी के साथ स्वीकार कर सके हैं। ये पंक्तियाँ उसी यथार्थवादी नज़रिये को सूचित करती हैं।

प्रसंग: ये पंक्तियाँ गोदान के अंतिम हिस्से से ली गई हैं जहाँ होरी का भाई हीरा लौट कर आ गया है। यह होरी और हीरा का पारस्परिक संवाद है। जब हीरा होरी से कहता है कि 'भैया तुम बहुत दुबले हो गये हो' तो होरी उसके उत्तर में ये पंक्तियाँ कहता है। वस्तुतः इन पंक्तियों के माध्यम से प्रेमचंद ने अपने विचारों का प्रक्षेपण किया है।

व्याख्या: होरी इन पंक्तियों में 'मोटेपन' का प्रतीक लेकर समाज की आर्थिक विषमताओं पर व्यंग्य करता है। वह कहता है कि हमारे समाज में वही व्यक्ति मोटा या स्वस्थ हो सकता है जिसने समाज के कुल आर्थिक संसाधनों में अपने नैतिक हिस्से से ज्यादा संसाधनों पर कब्जा कर लिया है। दरअसल, इस तरह का मोटेपन एक किस्म की बेशर्मी है क्योंकि दूसरों का खून चूसकर समृद्ध होना किसी भी आत्मसम्मान से युक्त व्यक्ति के लिए संभव नहीं। हमारे समाज में साहूकार, सूदखोर, जमींदार और पूंजीपति जैसे वर्गों के लोग ही समृद्ध हैं और सच देखा जाए तो इन सभी की समृद्धि गरीबों के शोषण पर टिकी है। ऐसी संपन्नता में कोई वास्तविक सुख नहीं है जो दूसरों को विपन्न बनाकर जन्म लेती है। असली संपन्नता तो वह होती है जिसमें सारा समाज समृद्ध हो, सभी की मानवीय ज़रूरतें पूरी होती हों।

विशेष

- इन पंक्तियों के माध्यम से समाजवादी दृष्टिकोण उभारा गया है।
- इन पंक्तियों में प्रतीकात्मक शैली का सुंदर प्रयोग किया गया है। 'मोटेपन' के प्रतीक के माध्यम से विषमतामूलक अर्थव्यवस्था में निहित शोषण और दमन को बखूबी उभारा गया है।
- सूत्रभाषा का भी प्रभावशाली उपयोग हुआ है—“सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है।”
- भाषा आम हिन्दुस्तानी है जिसमें तद्भव शब्दों के साथ 'इज्जत' और 'बेहयाई' जैसे फारसी परंपरा के वे शब्द भी शामिल हैं जो 'हिन्दुस्तानी' के भीतर रच बस गए हैं।
- ये पंक्तियाँ आज के भारत में और ज्यादा प्रासंगिक होकर उभरती हैं। एक ओर हर वर्ष अरबपतियों की संख्या बढ़ती जा रही है तो दूसरी ओर आंध्र प्रदेश, विदर्भ और पंजाब के किसानों को कर्ज जाल में फँसकर आत्महत्या करनी पड़ती है।

2. विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी। इन असंगत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर भी, मानों झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लेना चाहा, बल्कि यथार्थ के निकट होने के कारण ही उनमें इतनी वेदना-शक्ति आ गई थी। काना कहने से काने को जो दुःख होता है, वह क्या दो आँखों वाले आदमी को हो सकता है?"

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' से उद्धृत ये पंक्तियाँ उपन्यास में लेखकीय वक्तव्य के रूप में आई हैं। चालीस वर्ष से भी कम आयु के होरी द्वारा 'साठे पर पाठा' होने की उक्ति का सहारा लेकर अपनी मर्दानगी सिद्ध करने के प्रयास को धनिया अभाव का उल्लेख कर खारिज करती है। इस कटु सत्य के प्रहार से विचलित होकर होरी साठ के पहले ही अपने मरण की भविष्यवाणी करने का सहारा लेता है जो कहीं-न-कहीं अपने भीतर यथार्थ को भी समाहित किए हुए होता है। यह धनिया को भीतर तक बेध डालता है। प्रेमचंद ने यहाँ धनिया के मानस में प्रवेश करते हुए उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी हैं जो प्रेमचंद की संवेदना और कला का उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

व्याख्या: किसानों का समाज वैधव्य सिर्फ पति की मृत्यु नहीं होता बल्कि एक ऐसी त्रासदी होता है जिसमें नारी का समूचा भविष्य संकटों से विद्ध जाता है। अभाव और गरीबी में भी वह इस संबल के सहारे स्वयं को अर्थवान महसूस करती है। प्रेमचंद ने सुहाग को तिनका बताकर अभाव और गरीबी की अंतहीन भयावहता को मूर्तता प्रदान की है लेकिन साथ ही उन्होंने किसानों-जीवन में सुहाग के महत्व को भी धूमिल नहीं होने दिया है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- प्रेमचंद ने इन पंक्तियों में मनोविज्ञान का सहारा लिया है।
- गोदान में धनिया का व्यक्तित्व निर्भीक, प्रखर, जुझारू और स्पष्टवादी है। ये पंक्तियाँ उसके चरित्र में निहित गहन संवेदनशीलता को उजागर करती हैं।
- ये पंक्तियाँ यह दर्शाती हैं कि प्रेमचंद स्थितियों की सूचना देने वाले कथाकार नहीं हैं बल्कि उनके यहाँ परिस्थितियों में लिपटी हुई वास्तविकता कलात्मक रूप में आती है।
- ये पंक्तियाँ तत्सम एवं तद्भव शब्दावली के रचनात्मक मेल का भी उत्तम निदर्शन हैं।

3. सेवा ही वह सीमेंट है जो दम्पति को जीवन-पर्यन्त स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है, जिसपर बड़े-बड़े आघातों का कोई असर नहीं होता। जहाँ सेवा का अभाव है, वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है। और आपके ऊपर, पुरुष-जीवन की नौका का कर्णधार होने के कारण जिम्मेवारी ज्यादा है।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: व्याख्येय गद्यांश कथा साहित्य के शिखर रचनाकार प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' से उद्धृत है। 'गोदान' अपने यथार्थ चित्रण के कारण ही नहीं बल्कि प्रेमचंद के समूचे चिंतन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली कृति की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। उपर्युक्त चिंतन प्रेमचंद ने 'गोदान' के महत्वपूर्ण शहरी पात्र प्रो. मेहता के माध्यम से व्यक्त किया है। उपर्युक्त कथन यूरोपीय जीवन-संस्कृति से प्रभावित होती भारतीय संस्कृति के एक महत्वपूर्ण पक्ष - स्त्री-पुरुष के संबंधों पर बहस से संदर्भित है। उपन्यास के पंद्रहवें परिच्छेद में प्रेमचंद ने स्त्री-पुरुष के संबंधों का विश्लेषण किया है। उपर्युक्त कथन इसी बहस का एक हिस्सा है।

व्याख्या: प्रेमचंद मानते थे कि भारत का यूरोपीयकरण यहाँ की समस्याओं का निदान नहीं है। परिवार और समाज की मूल ईकाई दाम्पत्य का मजबूत होना आवश्यक है। प्रेमचंद सेवा को सीमेंट का दर्जा देते हैं। 'सेवा' एक ऐसा भाव है जिसमें अपने अहं और अपनी सुविधाओं का लोप हो जाता है। इस भाव से सम्पन्न व्यक्ति में दूसरों की भावनाओं एवं आवश्यकताओं के प्रति सजगता एवं आत्मदान की प्रवृत्ति सक्रिय रहती है। प्रेमचंद को लगता है कि आधुनिक दाम्पत्य जीवन में आ रहे तनावों का मूल कारण अहं केन्द्रिकता के साथ दूसरे की उपेक्षा और अपमान भी है। लेखक इस सेवा-भाव को स्त्री-पुरुष दोनों के लिए आवश्यक मानता है। सेवा एकतरफा व्यापार नहीं है। एकांगी हो जाने पर सेवा दासता की अनिवार्य नियति में बदल सकती है।

यद्यपि प्रेमचंद सेवा को स्त्री-पुरुष दोनों के लिए आवश्यक मानते हैं लेकिन वे स्त्री को अधिक दायित्वशील मानने के कारण सेवा का अधिक उत्तरदायित्व उसी के कंधों पर डालते हैं। स्त्री वैवाहिक जीवन के समुद्र में नौका की कर्णधार है।

4. विवाह का आधार है संपत्ति और कुलीनता; प्रेम करने के लिए प्रेयसी अलग होती है बच्चे पैदा करने के लिए पत्नी अलग। सामंती बंधनों के खत्म होने पर सौंदर्य और प्रेम की भावनाएँ अपने सहज रूप में पल्लवित होंगी और नारी कवियों की नायिका मात्र न रह जाएगी। वह श्रम करने वाली, समान अधिकार वाली नागरिक भी होंगी।

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश हिन्दी साहित्य के शिखर आलोचकों में से एक डॉ. रामविलास शर्मा के डॉ. सत्येन्द्र द्वारा संपादित 'निबंध निलय' में संग्रहित निबंध 'तुलसी-साहित्य के सामंत विरोधी मूल्य' से लिया गया है। लेखक ने ये पंक्तियाँ 'तुलसी के काव्य में नारी' विषय पर विवेचन करते हुए लिखी हैं।

व्याख्या: लेखक का कहना है कि सामंती समाज में विवाह एक शोषक व्यवस्था है जो संपत्ति और कुलीनता के आधार पर किया जाता है। इसका परिणाम यह निकलता है पुरुष प्रेम किसी और से करता है और बच्चे पैदा करने के लिए विवाह करके किसी और को लाता है। ऐसा सामंती समाज के बंधनों के कारण है जिसमें प्रेम जैसी भावनाओं पर अनेक बंधन हैं और इन भावनाओं को विकसित ही नहीं होने दिया जाता। सामंती बंधन समाप्त होने पर प्रेम व सौंदर्य जैसी भावनाओं का सहज विकास होगा और स्त्री कवियों की कल्पना की नायिका नहीं बल्कि एक 'व्यक्ति' के रूप में उभरेगी जो पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर काम करेगी।

रचनात्मक सौंदर्य:

- ये पंक्तियाँ तुलसी के काव्य के संदर्भ में आई हैं। रामचरितमानस में विवाह से पहले प्रेम होता है। वहाँ प्रेयसी व पत्नी एक ही है। अतः तुलसी इस स्तर पर सामंती अंधेरे को चीरते दिखते हैं।
- इन पंक्तियों पर फ्रेड्रिक एंजल्स के विवाह संबंधी विश्लेषण का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।
- नारी को श्रमिक के रूप में अधिक महत्व दिया गया है, यह भी मार्क्सवाद का प्रभाव है।
- भाषा तत्सम प्रधान है जो आलोचना के लिए उपयुक्त है। आलोचना की भाषा प्रायः तत्सम प्रधान ही होती है।

5. पंडित ने रस्सी निकाली। उसका फंदा बनाकर मुरदे के पैर में डाला और फंदे को खींचकर कस दिया। अभी कुछ-कुछ धुँधला-सा था। पंडित जी ने रस्सी पकड़कर लाश को घसीटना शुरू किया और गाँव के बाहर घसीट ले गए। वहाँ से आकर तुरंत स्नान किया, दुर्गापाठ पढ़ा और घर में गंगाजल छिड़का।

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश हिन्दी कहानी के शिखर रचनाकार प्रेमचंद की दलित-जीवन-चित्रण से संबद्ध प्रसिद्ध कहानी सद्गति से उद्धृत है।

प्रसंग: ये पंक्तियाँ तब की हैं जब गाँव का एक दलित दुखी चमार अपनी बेटी के अच्छे भविष्य की कामना से पंडित घासीराम के पास उसकी शादी की साइट निकलवाने जाता है और पंडित के कहने पर बेगार करता है। कड़ी धूप में अत्यन्त कठोर लकड़ी काटते दुखी की प्यास और भूख की परवाह पंडित परिवार नहीं करता और वह काम करते हुए मर जाता है। तब पंडित घासीराम उसकी लाश को ठिकाने लगाने का काम संपन्न करते हैं, जिसका वर्णन दी गई पंक्तियों में किया गया है।

व्याख्या: ये पंक्तियाँ ब्राह्मण वर्ग की क्रूरता और पाखंड को अनावृत्त कर देती हैं। प्रकारान्तर से ये धर्म के क्रूर सामंती ढाँचे पर चोट करती हैं। दुखी चमार की लाश को उसके पैरों में रस्सी का फंदा डालकर खींचता घासीराम दलितों पर सैकड़ों वर्षों से हो रहे अत्याचार के इतिहास को पाठकों के सामने ला खड़ा करता है। ये पंक्तियाँ यह व्यंजित करती हैं कि हिन्दू समाज-व्यवस्था में धर्म किस तरह साधारण एवं दलित वर्गों के शोषण का हथियार बना रहा है।

पंडित द्वारा पुलिस की चिंता न करके अपनी और अपने घर की पवित्रता की चिंता करना धार्मिक पाखंड और दलितों के प्रति उच्च जातियों की घोर अमानवीय दृष्टि को और तीक्ष्णता से व्यंजित कर देता है।

ये पंक्तियाँ प्रेमचंद की कथा-शिल्प-क्षमता को भी दर्शाती हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में पंडित की कई क्रियाओं के संयोजन द्वारा उन्होंने वर्णन में गजब की चित्रात्मकता एवं नाटकीयता का संयोजन कर दिया है।

6. जीवन की स्थिति समय में है और समय प्रवाह है। प्रवाह में साधु-असाधु, प्रिय-अप्रिय सभी कुछ आता है। प्रवाह का यह क्रम ही सृष्टि और प्रकृति की नित्यता है।

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यावतरण हिन्दी की प्रगतिवादी उपन्यासकार परंपरा के शिखर पुरुष यशपाल द्वारा रचित प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'दिव्या' से लिया गया है। 1945 ई. में रचित इस उपन्यास का केंद्रीय विषय नारी तथा अन्य वंचित वर्गों की समस्या का विश्लेषण है जो तत्कालीन स्वतंत्रता आंदोलन को सामाजिक स्वाधीनता की नयी राह दिखाता है।

प्रसंग: दी गयी पंक्तियाँ उपन्यास के अंशुमाला नामक खण्ड से उद्धृत हैं। जब दिव्या मथुरा में रत्नप्रभा के साथ रहकर अंशुमाला के नाम से प्रसिद्ध हो जाती है तब मारिश उसे जीवन को सहजतापूर्वक स्वीकार करने की प्रेरणा देता है। इन पंक्तियों में मारिश का दिव्या या अंशुमाला के प्रति ऐसा ही संवाद है।

व्याख्या: मारिश दिव्या की निराशा मनःस्थिति को दूर करने का प्रयास करते हुए कहता है कि हे देवी, जीवन में कोई भी घटना इतनी महत्वपूर्ण नहीं होती कि वह शेष सारे जीवन को निर्धारित कर सके। जीवन अनेक नई स्थितियों की निरंतरता है और यह निरंतरता मृत्यु आने तक हमेशा नई स्थितियों के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रक्रिया में कुछ अच्छे अनुभव होते हैं तो कुछ कठोर अनुभव भी होते हैं।

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों का मूल भाव यह है कि परिवर्तन ही सत्य है। यह बात दर्शन और साहित्य के अधिकांश विचारक कहते रहे हैं।
- ये पंक्तियाँ बताती हैं कि किसी भी व्यक्ति का जीवन सिर्फ सुख या सिर्फ दुख से नहीं भरा होता। मारिश चार्वाक दर्शन का प्रतिनिधि है। वह इन पंक्तियों के माध्यम से बौद्धों के इस निराशावादी विचार को खारिज करना चाहता है कि जीवन की हर घटना दुःखमय होती है (सर्वम् दुर्खं दुःखं)।
- इन पंक्तियों के माध्यम से पलायनवादी मानसिकता पर चोट की गई है और जीवन के संघर्षों को स्वीकार करने की प्रेरणा दी गई है।
- भाषा तत्समी होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से जानदार है।

7. "जन्म का अपराध? यदि वह अपराध है तो उसका मार्जन किस प्रकार सम्भव है? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति, कोई शक्ति जन्म को परिवर्तित नहीं कर सकती! कोई भी उपाय जन्म के अपराध का मार्जन नहीं कर सकता! जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले?..."

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत गद्यावतरण हिन्दी की प्रगतिवादी उपन्यास परंपरा के शिखर रचनाकार यशपाल द्वारा रचित प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'दिव्या' के प्रथम खण्ड 'मधुपर्व' से लिया गया है। 1945 ई. में रचित इस उपन्यास का केंद्रीय विषय नारी तथा अन्य वंचित वर्गों की समस्या का विश्लेषण है जो तत्कालीन स्वतंत्रता आंदोलन को सामाजिक स्वाधीनता की नयी राह दिखाता है। दी गई पंक्तियाँ उस समय की हैं जब दासपुत्र होने के कारण पृथुसेन को दिव्या के शिविका को उठाने से रोका जाता है।

व्याख्या: पृथुसेन सोचता है कि वह दासपुत्र है, निम्न कुल का है तो इसमें उसका क्या दोष है और इसका परिमार्जन क्या है। क्या इस अन्याय का प्रतिकार ईश्वर से लिया जाए?

रचनात्मक सौंदर्य:

- दिव्या में जो विषमताएँ दिखाई गई हैं, उनमें से एक वर्णगत या जातीय विषमता भी है। पृथुसेन 'दिव्या' उपन्यास का सर्वाधिक योग्य एवं सक्षम व्यक्ति है किन्तु उसका अवर्ण होना उसकी सारी योग्यताओं पर भारी पड़ता है। इस सामाजिक अन्याय को इन पंक्तियों के माध्यम से यशपाल ने प्रभावशाली रूप में रेखांकित किया है।
- इन पंक्तियों की भाषा तत्समी होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से जानदार है।
- इन पंक्तियों में विराम चिह्नों के प्रयोग की कुशलता द्रष्टव्य है।
- आज भी भारत में सामाजिक अन्याय मौजूद है। इस दृष्टि से ये पंक्तियाँ आज भी प्रासंगिक हैं।

8. मैं प्रेम को संदेह से ऊपर समझती हूँ। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है। संदेह का वहाँ जरा भी स्थान नहीं और हिंसा तो संदेह का ही परिणाम है। वह संपूर्ण आत्मसमर्पण है। उसके मंदिर में तुम परीक्षक बनकर नहीं, उपासक बनकर ही वरदान पा सकते हो।

संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की प्रौढ़तम कृति गोदान के उत्तरार्ध से लिया गया है। ये पंक्तियाँ मेहता व मालती के बीच नदी के निकट के वार्तालाप से ली गई हैं जिनमें मेहता की प्रेम दृष्टि से व्यथित मालती प्रत्युत्तर दे रही है।

व्याख्या: मालती कहती है कि उसकी दृष्टि में प्रेम में संशय का कोई स्थान नहीं है अर्थात् जब तक संशय है तब तक प्रेम हो ही नहीं सकता और एक बार प्रेम हो जाने के बाद सारे संशय स्वयम् ही समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए प्रेम संबंध में हिंसा का भी कोई स्थान नहीं है क्योंकि प्रतिहिंसा की भावना तो उत्पन्न ही संदेह के कारण होती है। प्रेम में तो सम्पूर्ण आत्मसमर्पण होता है अतः हिंसा या संदेह का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रेम में प्रेमी पर हावी होने का नहीं बल्कि उसके प्रति समर्पित होने का प्रयास किया जाता है। प्रेम में परीक्षा ली नहीं जाती बल्कि दी जाती है क्योंकि प्रेम तो आस्था के सहारे ही प्राप्त किया जा सकता है, संशय या तर्क के सहारे नहीं।

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में प्रेम का प्लेटोनिक नज़रिया अभिव्यक्त हुआ है। वस्तुतः यह छायावादी प्रेमदृष्टि है जो प्रसाद के यहाँ 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना व 'कामायनी' की श्रद्धा में दिखती है। श्रद्धा कहती है-

“दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ, खुला है आज तुम्हारे पास॥”

- सूत्र शैली का प्रयोग हुआ है जैसे- “प्रेम देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है।”
- 'संवाद शैली' के प्रयोग के कारण विश्लेषणात्मक अंतर्वस्तु भी बेहद सरल और प्रभावी ढंग से व्यक्त हुई है।

9. नारी के प्रति अनुराग से, उसके आश्रय की कामना से ही पुरुष उसे अधीन रख कर उसे आत्म-निर्भर नहीं रहने देता। नारी प्रकृति के विधान से नहीं, समाज के विधान से भोग्य है। प्रकृति में और समाज में भी स्त्री तथा पुरुष अन्योन्याश्रय हैं।

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश हिन्दी के प्रगतिवादी उपन्यासकार यशपाल के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास दिव्या के 'अंशुमाला' खण्ड में दिव्या-मारिश संवाद से लिया गया है। इन पंक्तियों में मारिश स्त्री-पुरुष संबंधों का विवेचन कर रहा है।

व्याख्या: मारिश कह रहा है कि स्त्री मूल रूप से भोग्य नहीं है। ऐसा कोई प्राकृतिक नियम नहीं है जिससे यह प्रतीत हो कि नारी भोग्य है। परंतु समाज के नियम कुछ इस तरह से बन गए हैं जिससे नारी का स्वतंत्र अस्तित्व लगभग समाप्त हो गया है और वह भोग्य वस्तु बन गई है। ऐसा होने का मूल कारण पुरुष का नारी से प्रेम है। वह उसे सदा अपने साथ रखना चाहता है। एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में नारी पुरुष के साथ रहे यह आवश्यक नहीं है। इसलिए पुरुष नारी को आत्मनिर्भर नहीं होने देता और उसे सदा अपने अधीन रखने का प्रयास करता है। वास्तव में तो प्रकृति में भी व समाज में भी स्त्री व पुरुष एक-दूसरे के आश्रय हैं अर्थात् अगर नारी पुरुष पर आश्रित है तो पुरुष भी नारी पर आश्रित है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में यशपाल की प्रखर नारी चेतना की स्पष्ट अभिव्यक्ति है।
- स्त्री पुरुष के बीच पूरकता का यह संबंध प्रसाद तथा प्रेमचंद के यहाँ भी दिखता है।
- भाषा तत्सम प्रधान होते हुए भी सहज व प्रभावोत्पादक है।
- पूरा प्रसंग संवाद शैली में है जिससे लेखन में गत्यात्मकता आ गई है।

10. “मैं फिर काम शुरू करूँगा-यहीं, इसी गाँव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएँगे। मैं साधना करूँगा, ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आँचल तले! कम-से-कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाए ओठों पर मुस्कराहट लौटा सकूँ, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ...।”

उत्तर: संदर्भ: व्याख्येय पंक्तियाँ हिन्दी की आंचलिक उपन्यास धारा की सर्वोत्कृष्ट कृति ‘मैला आँचल’ से उद्धृत हैं जिसकी रचना 1954 ई. में फणीश्वरनाथ रेणु ने की थी। मैला आँचल की ख्याति आज तक आंचलिक परंपरा में सबसे प्रयोगशील व सफल उपन्यास के रूप में है।

प्रसंग: ये पंक्तियाँ उपन्यास के अंतिम पृष्ठ से ली गई हैं जहाँ डॉ. प्रशांत और ममता के बीच संवाद चल रहा है। डॉ. प्रशांत आर्थिक स्वार्थों से मुक्त चिकित्सक है जो सामाजिक दायित्व-बोध के आधार पर मेरीगंज गाँव में रहकर समाज की सेवा करना चाहता है। इन पंक्तियों में उसने यही निश्चय व्यक्त किया है।

व्याख्या: डॉ. प्रशांत कहता है कि मैं फिर से इसी गाँव में अपने काम की शुरुआत करना चाहता हूँ। मेरी इच्छा अपनी शिक्षा और ज्ञान को विक्रय की वस्तु बनाकर अधिकाधिक धन कमाने की नहीं है, मैं तो समाज में प्रेम फैलाना चाहता हूँ। यह गाँव जो पिछड़ेपन और गरीबी जैसे दुखों में आकंठ डूबा है, मैं उसी के भीतर मनुष्यों को हँसते हुए देखना चाहता हूँ। मैं लोगों को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि आज़ादी के सपने टूटे नहीं हैं, अभी भी समाज के प्रति दायित्व निभाने की प्रेरणा लोगों में ज़िन्दा है। भारतमाता तो गाँवों में ही रहती है, उसी के आँचल की छाँव में काम करते हुए मैं यथासंभव देश की सेवा करना चाहता हूँ।

रचनात्मक सौंदर्य:

- आदर्शवादी भाव एवं हृदय-परिवर्तन जैसे तत्वों के कारण ये पंक्तियाँ आंचलिकता की दृष्टि से खासी विवादास्पद हैं। किन्तु, वर्तमान समय में भी कई शिक्षित व सफल लोग हैं जो ग्रामीण समाज के प्रति प्रतिबद्धता के साथ दायित्व निभा रहे हैं।
- इन पंक्तियों में निराशा के विरुद्ध आशा की विजय दिखती है।
- इन पंक्तियों की शिल्पगत सुंदरता का मूल आधार इसकी उपमा शैली या रूपक शैली है।
- एक अमूर्त सा भाव उपमाओं की भाषा से कैसे मूर्त तथा बिंबात्मक हो उठता है-यह इन पंक्तियों को पढ़कर सीखा जा सकता है।

11. यह तुम नहीं, तुम्हारा स्वार्थ बोल रहा है। स्वार्थ को इतनी छूट देना ठीक नहीं कि वह विवेक को ही खा जाए। अखबारों को तो आज़ाद रहना ही चाहिए। वे ही तो हमारे कामों का, हमारी बातों का असली दर्पण होते हैं। मेरा तो उसूल है कि दर्पण को धुंधला मत होने दो। हाँ, अपनी छवि देखने का साहस होना चाहिए आदमी में।”

उत्तर: संदर्भ: व्याख्येय पंक्तियाँ 1979 ई. में रचित मन्नू भंडारी के प्रसिद्ध राजनीतिक उपन्यास ‘महाभोज’ से उद्धृत हैं।

प्रसंग: बिसू की हत्या होने के कारण लखन सिंह के चुनाव जीतने की संभावना कम हो गई है और वह ‘मशाल’ अखबार की सक्रिय भूमिका से भी परेशान है। उसे समझाते हुए मुख्यमंत्री दा साहब ने उपरोक्त पंक्तियाँ कही हैं।

व्याख्या: दा साहब, लखन सिंह को डाँटते हुए कहते हैं कि अपने किसी भी हित को साधने के लिए व्यक्ति को इतना स्वार्थी नहीं हो जाना चाहिए कि वह समाज के व्यापक हित की कीमत पर लाभ उठाने की कोशिश करे। किंतु, समाज के व्यापक हित के लिए ज़रूरी है कि मीडिया को इतनी स्वाधीनता मिले कि वह हिम्मत के साथ गलत को गलत कह सके, चाहे वह ‘गलत’ कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो? राजनीतिज्ञों को तो विशेष रूप से मीडिया की स्वाधीनता के लिए तत्पर रहना चाहिए क्योंकि उनके कार्य पूरे समाज को प्रभावित करते हैं और मीडिया ही समाज की ओर से उनका मूल्यांकन करता है। इतना साहस हर राजनीतिज्ञ में होना चाहिए कि वह मीडिया के माध्यम से अपनी आलोचना झेल सके।

गौरतलब है कि दा साहब द्वारा की गई ये सभी बातें उनकी अंतरात्मा की आवाज़ें नहीं हैं, बल्कि उस मुखौटे की आवाज़ें हैं जो उन्होंने ओढ़ा है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में लोकतंत्र और मीडिया के पारस्परिक संबंध को गहराई से दर्शाया गया है।
- 'गोदान' में प्रेमचंद ने भी इस समस्या को उठाया है।
- ध्यातव्य है कि यह उपन्यास आपात्काल के तुरंत बाद लिखा गया था। उस समय मीडिया की स्वाधीनता एक बड़ा सामाजिक मुद्दा बनकर उभरी थी। वही तात्कालिक समस्या इन पंक्तियों में ध्वनित हुई है।
- इन पंक्तियों की भाषा बेहद सहज, सरल तथा प्रभावमयी है। लेखिका ने सिद्ध कर दिया है कि प्रभावशाली भाषा कठिन शब्दों से नहीं, बल्कि संवेदना की गहराई और वैचारिक तनाव से निर्मित होती है।
- लाक्षणिक शैली का प्रयोग करके लेखिका ने मनोभावों को मूर्त बना दिया है, जैसे- "यह तुम नहीं, तुम्हारा स्वार्थ बोल रहा है।"
- एक विशेष दृष्टि से यह व्यंग्य शैली है क्योंकि इस कथन में छिपे हुए व्यंग्य के माध्यम से दा साहब की कथनी और करनी का अंतराल उभारा गया है।
- सूत्र शैली का भी असंरदार प्रयोग है, जैसे- "स्वार्थ-को इतनी छूट देना ठीक नहीं कि वह विवेक को ही खा जाए।"

12. केवल नाराज़ ही नहीं, लड़ता था बाकायदा हमसे कि आप से पढ़े लिखे लोग खाली तमाशबीन ही बनकर बैठे रहेंगे तो इन गरीबों की लड़ाई कौन लड़ेगा? जहाँ दिन-दहाड़े इतना जुलुम होता हो, वहाँ कोई कैसे अलग-थलग बैठकर खाली कागज पोतता रह सकता है।

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी की विख्यात उपन्यासकार मन्नू भंडारी द्वारा 1979 ई. में रचित प्रसिद्ध राजनीतिक उपन्यास महाभोज से ली गई हैं। भारत की दलित समस्या, राजनीति की आंतरिक विद्रूपताओं, पत्रकारिता व अफसरशाही के भ्रष्टाचार तथा बुद्धिजीवियों की निसंगता आदि के स्पष्ट चित्रण की दृष्टि से महाभोज हिन्दी का अत्यंत प्रशंसित उपन्यास है।

प्रसंग: ये पंक्तियाँ महेश नामक पात्र द्वारा कही गई हैं। मुख्यमंत्री के इस वायदे पर कि बिसू की हत्या की जाँच पुनः की जाएगी, एस.पी. मि. सक्सेना को गाँव के सभी संबंधित व्यक्तियों से पूछताछ के लिए भेजा गया है। महेश, जो कि एक शोधकर्ता है और बिसू का अच्छा दोस्त रहा है, वह बिसू के संबंध में ये पंक्तियाँ मि. सक्सेना से कह रहा है।

व्याख्या: महेश कहता है कि बिसू मेरे जैसे बुद्धिजीवियों की तटस्थता की कठोर आलोचना करता था। वह इस तक से बेपरवाह था कि अनुसंधान कार्य के लिए शोधकर्ता का तटस्थ होना ज़रूरी है। उसे लगता था कि विश्वविद्यालयों में अनुसंधान करने वाले इतने पढ़े-लिखे लोग भी यदि समाज की विद्रूपताओं के तटस्थ दर्शक बने रहेंगे तो समाज के वंचित-शोषित तबके के लिए उम्मीद की किरण कौन बनेगा? वह मुझसे लड़ता था कि जिस गाँव में वंचितों के साथ सरेआम इतना अन्याय होता हो वहाँ कोई अपनी संवेदनाओं को मारकर सिर्फ शोध और लेखन तक सीमित कैसे रह सकता है?

विशेष:

- इन पंक्तियों में मन्नू भंडारी ने बुद्धिजीवियों की तटस्थता व असंगतता की समस्या को रेखांकित किया है। यह वही समस्या है जिसे मुक्तिबोध ने अपनी हर कविता में 'बुद्धिजीवियों द्वारा ऐतिहासिक उत्तरदायित्व न निभा पाने की त्रासदी' कहा है।
- ये पंक्तियाँ वस्तुतः लेखिका की अपनी अंतरात्मा की उपज हैं। 1970 के दशक में जब राजनीति भ्रष्टाचार के निम्नतम स्तर पर पहुँच चुकी थी और दलित व अन्य वंचित वर्गों के हक क्रूरतापूर्वक छीने जा रहे थे, तब उन्होंने यह उपन्यास उसी दायित्व बोध से भरकर रचा है जिनका उल्लेख इन पंक्तियों में किया गया है।
- शिल्प-सामर्थ्य की दृष्टि से भी ये पंक्तियाँ अत्यंत प्रभावशाली हैं। भाषा सरल किन्तु धारदार आवेगमयी है। व्यंग्य के पैनेपन की दृष्टि से ये पंक्तियाँ निष्क्रिय बुद्धिजीवियों में तिलमिलाहट पैदा करने में समर्थ हैं। 'खाली कागज पोतना' जैसे मुहावरे व्यंग्य को और धारदार बना रहे हैं। इसके अतिरिक्त, संवाद शैली की चुस्ती और गतिशीलता के कारण ये पंक्तियाँ नाटकीय तनाव को भी धारण करती हैं।

13. “ऐसा आतंक आपने कहीं देखा नहीं होगा, साहब! लोगों के घर, ज़मीन और गाय-बैल ही रेहन नहीं रखे हुए हैं जोरावर और सरपंच के यहाँ, उनकी आवाज़ और जबान तक बंधक रखी हुई है। कोई चूँ तक नहीं कर सकता है।”

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ मन्नू भंडारी के उपन्यास महाभोज से ली गई हैं? इस उपन्यास में भारतीय राजनीति के चरित्र का उद्घाटन करते हुए राजनीतिज्ञों द्वारा अपराधियों को संरक्षण दिए जाने तथा उनसे गठजोड़ कर अपना राजनीतिक हित साधने का भी चित्रण किया गया है। यह कथन सरोहा गाँव में बिसू की हत्या के पश्चात् एस.पी. सक्सेना को बिसू के दोस्त बिंदा के बयान के रूप में कहा गया है। इन पंक्तियों में गाँव के प्रभावशाली गुंडों, सरपंच एवं जोरावर के दहशत का प्रभावकारी चित्रण हुआ है।

व्याख्या: बिंदा कहता है कि स्थानीय शक्तिशाली एवं आपराधिक प्रवृत्ति के लोगों ने शोषण एवं दमन की हद पार कर दी है। ग्रामीणों पर उनका आतंक एवं भय इतना अधिक है कि कोई उनके विरुद्ध मुँह खोलने की हिम्मत नहीं करता। उन्होंने लोगों की संपत्ति के साथ-साथ एक तरह से उनकी आवाज़ को भी बंधक बना लिया है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में ग्रामीण जीवन में अमानवीय शक्तियों के वर्चस्व का प्रभावशाली चित्रण हुआ है।
- भाषा बहुत ही सटीक है और लेखिका के मंतव्य को वहन करने में पूरी तरह सक्षम है।
- शब्दावली के प्रयोग को लेकर लेखिका का दृष्टिकोण लचीला है। वे तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशज के निरर्थक विवाद में न पड़कर उन्हीं शब्दों का चयन करती हैं जो उनके भाव को मर्म के साथ व्यक्त कर सकें।
- जिस समस्या की ओर इन पंक्तियों में इशारा किया गया है वह आज के समय में भी मौजूद है।

14. “आज तक के वे भीतरी उबाल और बाहरी दबाव के बीच टुकड़े-टुकड़े होकर हमेशा घुटने ही टेकते आये हैं। हर बार दिनेश को लड़ाई के मैदान में ले तो ज़रूर गये हैं, पर जैसे ही गोलियाँ चली हैं, उसे वहीं छोड़कर भाग आये हैं- अकेला, निहत्था। वह गोलियों की बौछार से लहलुहान होता रहा है और ये खुद एक असह्य अपराध बोध से। नहीं, और नहीं; अब तो वे चाहें तो भी शायद ऐसा नहीं कर सकते।”

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ नवलखन के दौर की प्रसिद्ध उपन्यासकार मन्नू भंडारी द्वारा रचित हिन्दी के प्रतिनिधि राजनीतिक उपन्यास ‘महाभोज’ से ली गई हैं जिसकी रचना 1979 ई. में हुई। यह उपन्यास न सिर्फ राजनीतिक सत्यों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रशंसनीय रहा है बल्कि इसमें बुद्धिजीवियों का अंतर्द्वन्द्व भी बेहद खूबसूरती के साथ उभारा गया है।

प्रसंग: ये पंक्तियाँ उपन्यास के अंतिम हिस्से से ली गई हैं जहाँ मि. सक्सेना का गहरा अंतर्द्वन्द्व दिखाते हुए उपन्यास उनके व्यक्तित्वांतरण के बिन्दु तक पहुँचता है। इस दृष्टि से यह उपन्यास का बेहद नाटकीय मोड़ है।

व्याख्या: लेखिका मि. सक्सेना के आंतरिक संघर्ष की अभिव्यक्ति करते हुए कहती हैं कि वे पिछले कई वर्षों से अपने मन के दो हिस्सों के बीच निरंतर चलने वाले तनाव से जूझ रहे हैं। एक मन का संबंध भीतरी उबाल के साथ है जो उन्हें बार-बार प्रेरित करता है कि तमाम लालच और भय को टुकराते हुए नैतिक कर्तव्य के रास्ते पर दृढ़तापूर्वक चलें। किंतु, दूसरा मन बाहरी दबावों से प्रभावित है जो समझता है कि पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति, नौकरी और जीवन की सुरक्षा के लिए ज़रूरी है कि चुपचाप राजनीतिक आकाओं की बात मानते हुए नैतिक मन का दमन करें। दिनेश के प्रतीक के माध्यम से लेखिका बताती हैं कि हर बार उनका नैतिक मन बेहद आक्रामक हो जाता है पर अंततः व्यावहारिक मन के दबावों के सामने वे झुक जाते हैं, भीतर ही भीतर टूटते हैं, लहलुहान हो जाते हैं। किंतु, आज बिन्दा की गिरफ्तारी ने उन्हें यह निर्णय लेने में समर्थ बना दिया है कि चाहे नौकरी और जीवन की सुरक्षा दाँव पर लग जाएँ, वे अपने मानवीय व नैतिक कर्तव्य से मुँह नहीं मोड़ सकते।

रचनात्मक सौंदर्य:

- आधुनिक काल के साहित्य में 'मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का अंतर्द्वन्द्व' केंद्रीय विषय के रूप में मौजूद रहा है। जिसे वही मन्त्र भंडारी 'सक्सेना' के माध्यम से व्यक्त कर रही हैं।
- इन पंक्तियों की वास्तविक विशेषता द्वंद्व के गहरे चित्रण में नहीं बल्कि समाधान की संभावना में है।
- जिस समस्या की ओर इन पंक्तियों में इशारा किया गया है वह आज के समय में और खतरनाक रूप में हमारे सामने खड़ी है।
- शब्दावली के प्रयोग को लेकर लेखिका का दृष्टिकोण लचीला है। इसलिये भाषा सरल और सहज होकर भी प्रभावशाली है।
- प्रतीक शैली का बेहद असरदार उपयोग हुआ है। यहाँ 'दिनेश' एक व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है बल्कि हर उस व्यक्ति का प्रतीक है जो व्यवस्था के हाथों प्रताड़ित होता है पर किसी सहायता की उम्मीद करते-करते दम तोड़ देता है।
- लेखिका ने चरित्र के मनोविज्ञान का अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण किया है।
- चेतना-प्रवाह शैली का सुंदर प्रयोग अंतिम पंक्ति में सक्सेना की मनःस्थिति के परिवर्तन को प्रस्तुत करने के लिए किया गया है।
- भाषा मुहावरेदार होने के कारण बेहद प्रभाव-सक्षम है।

15. हा! भारतवर्ष को ऐसी मोह निद्रा ने घेरा है कि अब इस के उठने की आशा नहीं। सच है, जो जान-बूझकर सोता है उसे कौन जगा सकेगा? हा वैव! तेरे विचित्र चरित्र हैं, जो कल राज करता था वह आज जूते में टाँका उधार लगवाता है।

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यावतरण हिन्दी नाटक के पुरोधा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा 1875 ई. में रचित प्रसिद्ध नाटक 'भारत दुर्दशा' से लिया गया है। यह नाटक हिन्दी में त्रासद तत्व के प्रयोग की दृष्टि से नई परम्परा का सूत्रधार माना जाता है।

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ भारत दुर्दशा के छठे अंक में प्रयुक्त हुई हैं। भारत भाग्य, जो कि उपनायक है, वह भारत (नायक) को बार-बार उठाने का प्रयत्न कर रहा है किन्तु भारत दुर्देव से भयभीत और मूर्छित भारत उठ नहीं रहा है। इसी निराशा से ग्रस्त होकर भारत भाग्य यह कथन कहता है।

व्याख्या: भारत भाग्य कहता है कि अब भारत की दशा के सुधरने की संभावना नज़र नहीं आती है। इसका मूल कारण यह नहीं है कि भारत का भाग्य उसके साथ नहीं है, या यह नहीं है कि भारत के पास संघर्ष करने की क्षमता नहीं है। इसका कारण तो यह है कि आज भारत मोह में डूबा हुआ है। उसे अपने वर्तमान व भविष्य को सँवारने की चिन्ता नहीं है। उसे अपने अतीत की महानता पर गर्व है और उसी मिथ्या गर्व में चूर होकर वह वर्तमान समस्याओं से नज़रें चुरा रहा है। यह सत्य भी है कि यदि कोई व्यक्ति या देश आगे बढ़ने की मानसिकता से युक्त ही न हो, कर्मठ व ऊर्जस्वित ही न हो तो कोई अन्य उसकी सहायता कैसे कर सकता है। भारत के अतीत और वर्तमान के अन्तर्विरोध पर आश्चर्य करते हुए वह कहता है कि एक समय जो धन-बल-शिक्षा सभी दृष्टियों से विश्व में सर्वोच्च स्तर पर था, आज पतन के गर्त में है।

विशेष:

- इन पंक्तियों में नवजागरण की चेतना दिखाई पड़ती है। नवजागरण कालीन विचारक देश को यह संदेश देना चाहते थे कि भारत की दुर्दशा सिर्फ भारतीयों के जाग्रत होने से ही दूर हो सकती है।
- अतीत और वर्तमान के अन्तर्विरोध के माध्यम से यहाँ वर्तमान की त्रासदी को और गाढ़ा किया गया है।
- यहाँ स्पष्ट किया गया है कि भारत के पतन का कारण भाग्य नहीं, बल्कि हम स्वयं हैं।
- खड़ी बोली का प्रभावपूर्ण तथा प्रवाहयुक्त प्रयोग किया गया है। उस काल की दृष्टि से यह एक उपलब्धि है।
- 'जूते में टाँका उधार लगवाना' जैसे कथनों का प्रयोग कर भारतेन्दु ने नाटक को लोक जीवन से जोड़ा है।

- “जो जानबूझकर सोता है, उसे कौन जगा सकेगा”- में सूत्र शैली का सुन्दर प्रयोग दिखाई पड़ता है।
- विराम चिन्हों का सुन्दर प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

प्रासंगिकता: भारतेन्दु ने इस सार्वकालिक सत्य की व्यंजना की है कि भाग्य उसी को सहारा देता है जो खुद संघर्ष करने के लिए तत्पर होता है।

16. “अहंकारमूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धांत, मध्यमा प्रतिपदा के नाम से, संसार में प्रचारित हुआ। व्यक्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। वह एक सुधार था, उसके लिए रक्तपात क्यों?”

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश हिन्दी नाट्येतिहास के शिखर पुरुष जयशंकर प्रसाद द्वारा 1928 ई. में रचित प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक स्कंदगुप्त से लिया गया है। प्रसाद ने अपने इतिहास केंद्रित नाटकों के माध्यम से वस्तुतः अपने ही समय की सांस्कृतिक व राष्ट्रीय समस्याओं का मंथन किया है। यह गद्यांश भी ऐसा ही उदाहरण है।

प्रसंग: ये पंक्तियाँ स्कंदगुप्त नाटक के अंतिम अंश से ली गई हैं। प्रसंग बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष का है। श्रीलंका का राजकुमार धातुसेन इस सांप्रदायिक तनाव का शमन करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत कर रहा है।

व्याख्या: धातुसेन सिद्ध करना चाहता है कि बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म के ‘बहिष्कार’ की भावना से नहीं, ‘परिष्कार’ की भावना से विकसित हुआ है। बुद्ध ने आत्मा की धारणा का खंडन किया था जिसकी वजह से वैदिक व ब्राह्मण परंपरा बौद्ध धर्म को उपनिषद विरोधी मानती है। किंतु, धातुसेन का तर्क है कि बुद्ध ने आत्मा का खंडन सिर्फ इस अर्थ में किया था कि ‘अहं’ या ‘मैं’ नामक कोई स्थाई तत्व नहीं है, बल्कि चेतना का प्रवाह अखण्ड रूप में बहता है। इसके बावजूद, बुद्ध ने संपूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त चेतना का निषेध नहीं किया क्योंकि यदि ऐसा होता तो प्राणिमात्र पर करुणा करने की उनकी इच्छा क्यों होती? बुद्ध का अनात्मवाद (अर्थात् ‘आत्मा नहीं है’ संबंधी विचार) वस्तुतः उपनिषदों में वर्णित नेति-नेति (अर्थात् ऐसा भी नहीं है, वैसा भी नहीं है) का ही एक प्रक्षेपण है। इस दृष्टि से बुद्ध का मध्यम मार्ग (अर्थात् मध्यमा प्रतिपदा) उपनिषद दर्शन का विरोध नहीं, बल्कि उसी की एक नवीन व्याख्या है। अतः यदि दोनों धर्म अपनी बुनियादी मान्यताओं में इतने समान हैं तो फिर नफरत व हिंसा आदि के लिए गुंजाइश कहाँ बचती है?

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में सांप्रदायिक समन्वय की चेतना साफ तौर पर नज़र आती है।
- प्रसाद दर्शन के सूक्ष्म अध्येता रहे हैं जिसका प्रभाव इन पंक्तियों में साफ नज़र आता है।
- इन पंक्तियों में दर्शन सिर्फ आवरण के रूप में है। मूल समस्या न दार्शनिक है, न ऐतिहासिक; बल्कि 1928 के भारत में प्रचलित सांप्रदायिकता की समस्या है।
- प्रसाद की भाषा मूल प्रकृति में ‘तत्सम’ है जो दार्शनिक सिद्धांतों के निरूपण-विश्लेषण की दृष्टि से उपयुक्त चयन है।
- सूत्रभाषा का प्रयोग प्रसाद की निजी विशेषता है। जिन लेखकों में दार्शनिक सूक्ष्मता अधिक होती है व भाषा पर मजबूत पकड़ होती है, सूत्र वाक्य उन्हीं की भाषा में जन्म लेते हैं।

प्रासंगिकता: ये पंक्तियाँ 1928 ई. से ज्यादा आज प्रासंगिक हैं। शीतयुद्ध के पश्चात् जो ‘सभ्यताओं का संघर्ष’ (सैमुअल हंटिंग्टन) वैश्विक पटल पर उभरा है, उसने सांप्रदायिकता को विश्व की सबसे बड़ी समस्या बना दिया है।

17. “प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पांडित्य के मारे जब देखो, जहाँ देखो बेताल-बेसुरा बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी ‘चहचह’, ‘कल-कल’, ‘छलछल’ में, काकली में, रागिनि है।”

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यावतरण हिन्दी के पहले स्वच्छन्दतावादी नाटककार जयशंकर प्रसाद द्वारा 1928 में रचित प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक ‘स्कंदगुप्त’ से उद्धृत है।

प्रसंग: ये पंक्तियाँ 'स्कंदगुप्त' के आरंभिक अंश से ली गई हैं। मालव में राजा बंधुवर्मा की बहन देवसेना तथा श्रेष्ठि कन्या विजया के मध्य वार्तालाप चल रहा है। इन पंक्तियों में देवसेना विजया को बता रही है कि जीवन में संगीत का कितना महत्व है।

व्याख्या: देवसेना कहती है कि भौतिक वस्तुओं के भीतर जितने परमाणु हैं, वे सभी एक निश्चित व्यवस्था में हैं। जब कोई पत्ती हिलती है तो वह भी एक व्यवस्था के तहत हिलती है क्योंकि परमतत्त्व अपनी ही वायवीय अभिव्यक्ति से उसे थिरकने को मजबूर करता है। पक्षियों की चहचहाहट, उनका गायन, उनकी हर ध्वनि प्राकृतिक व्यवस्था के अनुकूल है क्योंकि वह परमतत्त्व के मूक-संगीत की ही अभिव्यक्ति है। किंतु, मनुष्य इस संगीत से वंचित है। वह अहंकार का पुतला होने के कारण स्वयं को सारी सृष्टि से ऊँचा समझता है। इसलिए वह इस संगीत का आनंद नहीं ले पाता, इसमें व्यवधान ही उपस्थित करता है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में 'नव्य वेदांत दर्शन' की स्पष्ट छाप है, जिसमें सृष्टि को परमतत्त्व की लीलामय व आह्लादमय अभिव्यक्ति बताया है।
- इन पंक्तियों में प्रसाद का वह स्थायी भाव भी व्यक्त हुआ है जिसमें मनुष्य का वास्तविक उद्देश्य भौतिक वस्तुओं का संग्रहण न होकर समरसता की खोज करना बताया गया है।
- प्रकृति से सीखने की उत्कण्ठा इन पंक्तियों में साफ नज़र आती है। प्रकृति किसी भी कृत्रिमता से मुक्त है।
- प्रसाद ने ज्ञान-विज्ञान को संश्लिष्ट बनाकर बेहद खूबसूरती से अपने दर्शन का हिस्सा बना दिया है।
- इन पंक्तियों की भाषा इनमें व्यक्त दर्शन की तरह ही लयात्मक और संगीतात्मक एवं नाद-सौंदर्य से मुक्त है।
- इन पंक्तियों की विशिष्टता यह भी है कि इनमें दर्शन की गूढ़ मान्यताएँ बेहद मूर्त और बिंबात्मक भाषा में व्यक्त हुई हैं।

प्रासंगिकता: प्रसाद का यह विचार 1970 ई. के बाद पर्यावरण संकट की दृष्टि से दार्शनिक जगत में अत्यंत महत्वपूर्ण हो उठा है।

18. बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिए। चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है- उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है।

संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश प्रख्यात नाटककार जयशंकर प्रसाद के नाटक स्कंदगुप्त के चौथे अंक के सातवें दृश्य से लिया गया है। इन पंक्तियों में स्कंदगुप्त के अर्तद्वन्द्व का सुंदर चित्रण हुआ है।

व्याख्या: प्रस्तुत पंक्तियों में अपनी समस्त सेना के कुभा में बह जाने के बाद स्कंदगुप्त निराशापूर्ण मनः स्थिति में विचार कर रहा है। वह अतीत की घटनाओं से क्षुब्ध है इसलिए उन्हें भूल जाना चाहता है। पलायन के रास्ते के रूप में वह निर्वाण, समाधि यहाँ तक कि 'पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति' को भी चाहता है। उसकी चेतना के अनुसार वह एक राजा है। परंतु राजा तो प्रायः परिस्थितियों का नियंता होता है जबकि स्कंदगुप्त अनुभव करता है कि वह नियंता नहीं बल्कि परमात्मा (वटपत्रशायी बालक = भगवान विष्णु) के हाथों का खिलौना भर है। जिस राजमुकुट को वह बड़े गर्व से सिर पर धारण करता है दरअसल उस मुकुट की हैसियत तो किसी मजदूर के सिर पर रखी टोकरी के समान भी नहीं है। कुल मिलाकर इन पंक्तियों में स्कंदगुप्त को विराट के समक्ष अपनी लघुता का अहसास हो रहा है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में स्कंदगुप्त की घोर निराशा का चित्रण हुआ है। ऐसी ही निराशा जल प्रलय के बाद के मनु में भी देखी जा सकती है जिन्हें 'जीवन रहस्य निरुपाय' सफलता का कल्पित गेह लगता है।
- प्रसाद मूल रूप से छायावादी कवि हैं अतः भाषा में काव्यात्मकता आ गई है और शब्दालंकारों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। स्कंदगुप्त के लिए वटपत्रशायी बालक के हाथ में खिलौने का प्रतीक अपने भीतर गहरे अर्थ समेटे हुए है।

19. “यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य-जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधु को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में! देश भर पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिस पर भी यह निर्लज्ज आमोद! जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का यह दृश्य-आह!”

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यावतरण हिन्दी साहित्य में भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को नाटकों में अभिव्यंजित करने वाले नाटककार जयशंकर प्रसाद के नाटक ‘स्कन्दगुप्त’ के तृतीय अंक से अवतरित है।

व्याख्या: भटार्क को एक सैनिक का यह कथन इंगित करता है कि देश पर विदेशी आक्रमण होने पर भी नागरिकों का आमोद-प्रमोद में लिप्त रहना शर्मनाक है। लेखक ने इशारा किया है कि विदेशी सभ्यता की चमक-दमक के पीछे आज हम इतने मोहासिक्त हैं कि हमें अपनी समृद्धशाली संस्कृति और सभ्यता का पतन तथा विदेशी आक्रांताओं द्वारा किया जा रहा शोषण भी दिखाई नहीं देता।

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में नवजागरण की अपनी प्राचीन संस्कृति पर गौरव करने की प्रवृत्ति तथा वर्तमान दशा के प्रति चिन्ता का भाव परिलक्षित होता है।
- प्रसाद ने पश्चिमी जीवन-मूल्यों के प्रति पनप रही आसक्ति के परिप्रेक्ष्य में उसका खंडन करने हुए भारतीय जातीय जीवन की सार्थकता एवं उपादेयता की प्रस्तावना की है।
- यह ऐतिहासिक प्रतीकों के माध्यम से वर्तमान की स्थिति को चित्रित करने का श्लाघ्य प्रयास है।
- इन पंक्तियों में तत्समी तथा संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया गया है।
- ये पंक्तियाँ नाटकीयता के गुण से युक्त हैं और इस स्तर पर बहुत प्रभावशाली हैं।

20. संभवतः पहचानती नहीं हो और न पहचानना ही स्वाभाविक है क्योंकि मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसे तुम पहचानती रही हो। दूसरा व्यक्ति हूँ, और सच कहूँ तो वह व्यक्ति हूँ जिसे मैं स्वयं नहीं पहचानता हूँ।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत गद्यांश मोहन राकेश के नाटक ‘आषाढ़ का एक दिन’ के तृतीय अंक से लिया गया है। उज्जयिनी से वापस आने पर कालिदास को देखकर जड़वत हुई मल्लिका से कालिदास ये पंक्तियाँ कहता है।

व्याख्या: कालिदास कहता है कि संभवतः वह उसे पहचान नहीं पा रही है और ऐसी स्थिति स्वाभाविक भी है क्योंकि वह चरित्रगत और मनोगत धरातल पर पूर्णतः परिवर्तित हो गया है और यह परिवर्तन ऐसा है कि उसका आत्म उससे विलुप्त हो गया है। वह स्वयं भी खुद को जानने-समझने की स्थिति में नहीं है।

अर्थगांभीर्य के साथ-साथ ये पंक्तियाँ रचनात्मक सौंदर्य से भी युक्त हैं।

इन पंक्तियों में आत्मनिर्वासन या अजनबीपन की समस्या अनुस्यूत है। जब व्यक्ति ऐसी स्थितियों में जीवन व्यतीत करता है जिनमें बने रहने के लिये उसे बार-बार अपने ‘स्व’ की हत्या करनी पड़ती है तो धीरे-धीरे उसके लिये अपने मूल व्यक्तित्व को पहचानना ही असंभव हो जाता है।

इस आत्मनिर्वासन बोध पर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव है।

व्यक्तित्व के अन्तर्विभाजन पर प्रसाद ने ‘कामायनी’ में और मुक्तिबोध ने ‘ब्रह्मराक्षस’ में अपने-अपने ढंग से बात की है। नाटकीय प्रभाव, भाषागत प्रवाह एवं शब्द-चयन कौशल्य की दृष्टि से ये पंक्तियाँ काफी सधी हुई हैं।

21. “जानता हूँ कि मैंने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह वहाँ का ही संचय था। ‘कुमारसंभव’ की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और तपस्विनी उमा तुम हो। ‘मेघदूत’ के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विमर्दिता यक्षिणी तुम हो- यद्यपि मैंने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें नगर में देखने की कल्पना की। ‘अभिज्ञान शाकुन्तल’ में शकुन्तला के रूप में तुम्हीं मेरे सामने थी। मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया। और जब उससे हटकर लिखना चाहा, तो रचना प्राणवान नहीं हुई।”

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ आधुनिक हिन्दी नाटक के शिखर पुरुष 'मोहन राकेश' द्वारा 1958 ई. में रचित उनके प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' से ली गई हैं। यह नाटक हिन्दी नाटक के इतिहास में मील का पत्थर माना जाता है क्योंकि यहीं से आधुनिक भाव बोध की स्पष्ट अभिव्यक्ति नाट्य साहित्य में दिखने लगी। ये पंक्तियाँ नाटक के प्रमुख चरित्र कालिदास ने नाटक की नायिका मल्लिका से कही हैं। तीसरे अंक में जब वह कश्मीर से लौटा है, तब मल्लिका को बता रहा है कि उसकी सारी रचनाएँ कैसे यहीं के जीवन से प्रभावित रही हैं।

व्याख्या: कालिदास मल्लिका को बता रहा है कि उसकी रचनाशीलता का वास्तविक आधार ग्रामीण जीवन का अनुभव और मल्लिका के साथ बिताए हुए सुंदर क्षण ही हैं। वह कहता है कि उज्जयिनी और कश्मीर प्रवास के दौरान उसने कुछ भी मौलिक नहीं लिखा। इस काल में उसकी कई प्रसिद्ध रचनाएँ आईं जैसे- 'कुमारसंभव', 'मेघदूत' और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', किन्तु ये सभी रचनाएँ उसके ग्राम्य जीवन के अनुभवों की ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियाँ थीं। वह बताता है कि मैं जब कभी भी कुछ लिखता था तो हम दोनों के प्रेम की ही अभिव्यक्ति होती थी और रचना महान हो जाती थी। कभी-कभी मैंने कोशिश की कि कल्पना के सहारे कुछ और लिखूँ जो यहाँ की पुनरावृत्ति न हो बल्कि मौलिक हो, किन्तु ऐसा प्रयास करते ही रचना प्रभावशून्य हो गई। वह ईमानदारी से स्वीकार करता है कि कुमारसंभव की तपस्विनी 'उमा', मेघदूत की 'यक्षिणी' और अभिज्ञान शाकुन्तलम् की 'शकुन्तला' के चरित्रों में मूलतः तुम्हारा ही व्यक्तित्व है। इसी प्रकार मेघदूत के यक्ष व रघुवंश के अज की सम्पूर्ण पीड़ाएँ मेरी ही पीड़ाएँ हैं, जो मैंने तुमसे और इस स्नेहिल वातावरण से वंचित होकर भोगी हैं।

रचनात्मक सौंदर्य:

- यहाँ 'भोगे हुए यथार्थ' की प्रामाणिकता को स्वीकारा गया है, न कि 'सोचे हुए' या 'कल्पित' यथार्थ को। नवलेखन के दौर में 'भोगा हुआ यथार्थ' साहित्यकारों की रचना-दृष्टि को व्यक्त करने वाला केंद्रीय शब्द था।
- प्रतीकात्मक रूप में यहाँ सत्ता व सृजनशीलता का द्वन्द्व भी वर्णित है। सत्ता की सुख-सुविधाएँ रचनात्मकता को उभारती नहीं बल्कि खण्डित कर देती हैं।
- भाषा में तत्समीपन होने के बावजूद बोधगम्यता बनी हुई है। इससे ऐतिहासिक वातावरण भी सुरक्षित रहा है और रचना की प्रभावशीलता भी।
- संवाद अत्यधिक लम्बा है किन्तु उसका आंतरिक तनाव पाठक को आस्वादन प्रक्रिया से वंचित नहीं होने देता।
- विराम चिन्हों के परिपक्व प्रयोग के कारण लिखित भाषा भी मौखिक भाषा के समान संप्रेषण कर पा रही है। यही क्षमता 'आर्ट ऑफ रीडिंग' कहलाती है।

22. मुझे बार-बार अनुभव होता कि मैंने प्रभुता और सुविधा के मोह में पड़कर उस क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश किया है, और जिस विशाल में मुझे रहना चाहिए था उससे दूर हट आया हूँ। जब भी मेरी आँखें दूर तक फैली क्षितिज रेखा पर पड़तीं, तभी यह अनुभूति मुझे सालती कि मैं उस विशाल से दूर हट आया हूँ।

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत गद्यांश मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' के तृतीय अंक से लिया गया है। यह कालिदास के लंबे कथन का हिस्सा है जिसमें वह मल्लिका के सम्मुख उसके द्वारा किए गए कार्यों का स्पष्टीकरण दे रहा है।

व्याख्या: कालिदास कहता है कि वह सुविधाएँ प्राप्त करने और महान कहलाने के लिए एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश कर गया जहाँ उसका अधिकार नहीं था। इस प्रकार अनिच्छित क्षेत्र में जाने के कारण वह अपने मूल क्षेत्र (रचना कर्म) से दूर हट गया और अब वह जब भी आत्मावलोकन करता है तो उसे अपने क्षेत्र में न होने की पीड़ा परेशान करती है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- कालिदास यहाँ रचनाकार का प्रतीक है। आधुनिक युग में भी रचनाकार अपना मूल रचनाकर्म छोड़कर महत्ता व सुविधाओं को स्वीकार कर लेते हैं। जो कई बार उनकी उस रचनाधर्मिता को ही नष्ट कर देता है जिसके कारण उसे वह पद व सम्मान प्राप्त हुआ था।

- इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि सत्ता का मोह सृजनशीलता को किस तरह पथभ्रष्ट कर देता है।
- संवाद अत्यधिक लम्बा है किन्तु उसका आंतरिक तनाव पाठक को आस्वादन प्रक्रिया से वंचित नहीं होने देता।
- तत्समी भाषा के कारण ऐतिहासिकता बनी हुई है परंतु बोधगम्यता में कोई कमी नहीं आई है।

23. पर मुझसे कुछ नहीं बोला जाता। बस मेरी बाँहों की जकड़ कसती जाती है, कसती जाती है। रजनीगन्धा की महक धीरे-धीरे तन-मन पर छा जाती है। तभी मैं अपने भाल पर संजय के अधरों का स्पर्श महसूस करती हूँ, और मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, वह सब झूठ था, मिथ्या था, भ्रम था।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत गद्यांश 'एक दुनिया समानांतर' कहानी-संग्रह की 'मनू भंडारी' कृत कहानी 'यही सच है' से अवतरित है। यह उस प्रसंग से संबंधित है जब नायिका 'प्रेम की दुनिया' में आने वाले सभी विचलनों से जूझने के बाद अपने यथार्थ को ही जीवन के सच के रूप में देखने में समर्थ हो पाती है।

व्याख्या: अपने कलकत्ता प्रवास के दौरान पुराने प्रथम प्रेमी निशांत से मिलकर नायिका विचलित होने लगती है। पर, जब उसे प्रत्युत्तर नहीं मिलता तो अपने वर्तमान प्रेमी संजय को अपने साथ खड़ा पाकर राहत व सुरक्षा महसूस करती है। संजय के आलिंगन में बंधकर भावुकता वश उसे बोल नहीं मिल पाते तथा वह उसे कस कर अपने से बाँध लेना चाहती है। उसके असुरक्षा बोध को राहत मिलती है। जब वह संजय के अधरों के स्पर्श को अपने माथे पर महसूस करती है तब वह समझ पाती है कि उसका यह वर्तमान ही उसका सच है, शेष अन्य, सब कुछ झूठा व कोरी भावुकताजन्य भ्रम था।

रचनात्मक सौंदर्य:

- उपर्युक्त गद्य अपनी बेबाकी व पारदर्शिता के कारण अत्यंत प्रभावशाली प्रतीत होता है। जीवन का वास्तविक दर्शन तथा रिश्तों की दुनिया का अत्यंत सामान्य व स्वाभाविक विचलन जो सामान्यतः साहित्य में भी अनेक तहों के पीछे छुपाकर रखा जाता है, लगता है मानो एक पर्दे को हल्के से खींच भर देने से सामने आ गया है।
- भाषागत दृष्टि से देखें तो सहज, सरल, स्वाभाविक भाषा के बीच 'भाल', 'अधरों', 'मिथ्या', 'भ्रम' का जो स्पर्श दिया गया है, वह अभिव्यक्ति में गहनता का पुट देता हुआ प्रतीत होता है।
- यशपाल के यहाँ 'दिव्या' भी इस विचलन से गुजरती है। पुरुषों की दुनिया में यह विचलन सामान्यतः स्वीकार्य रहा है, लेकिन स्त्री के लिए असामान्य समझे जाने वाले भाव की सहज अभिव्यक्ति स्वयं ही उसे स्वीकृति प्रदान कर देती है।

24. "कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।"

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यावतरण हिन्दी निबंध परंपरा के लब्ध प्रतिष्ठित रचनाकार पं. रामचन्द्र शुक्ल के प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय निबंध 'कविता क्या है' से उद्धृत है। यह निबंध आचार्य शुक्ल की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेज माना जाता है।

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ निबंध के एक विशिष्ट अंश 'मनुष्यता की उच्च भूमि' से ली गई हैं। इस अंश में शुक्ल जी बता रहे हैं कि कोई मनुष्य कविता के माध्यम से कैसे अपने मनुष्यत्व की उच्च स्थिति को उपलब्ध करता है।

व्याख्या: आचार्य शुक्ल के अनुसार कविता मनुष्य के हृदय को पृच्छत्रताओं से मुक्त करके उसकी प्रकृत अवस्था तक ले जाती है। जैसे-जैसे मनुष्य ने सभ्यता का विकास किया, वैसे-वैसे उसके मूल भावों पर कई आवरण चढ़ते गए तथा वह अपने मूल भावों से अजनबी होता गया। कविता इन आवरणों को चीरकर उसके हृदय को मूल व सहज रूप में लाती है और प्रकृति के विभिन्न रूपों से साहचर्य स्थापित करते हुए उसमें छिपे मनुष्यत्व को चरम स्तर तक पहुँचा देती है। शुक्ल

जी के अनुसार 'मनुष्यता की उच्च भूमि' पर पहुँचने का अर्थ अत्यंत विवेकवान होना नहीं है अपितु संवेदनशीलता या भाव प्रसार की क्षमता का अधिक होना है। जो व्यक्ति भाव प्रसार की उच्चतम अवस्था में पहुँचता है, वह अपने पृथक्त्व को पूर्णतः भूलकर जगत की समग्रता में अपने स्व का विलोपन कर देता है। तब वह पृथक् व्यक्ति अहंकार-ममकार की क्षुद्रताओं से युक्त व्यक्ति नहीं रहता अपितु अपने हृदय में सम्पूर्ण विश्व को महसूस करता है। यही स्थिति रस दशा कहलाती है और यहाँ तक पहुँचाने में कविता की विशिष्ट भूमिका के कारण शुक्ल जी ने कविता को 'भावयोग' की संज्ञा भी दी है।

विशेष:

- कविता के महत्त्व की स्थापना आध्यात्मिक तत्व से जोड़कर की गई है। रसवादी चिंतक रस को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' तथा 'लोकोत्तर आनन्द' जिस अर्थ में कहते हैं, यहाँ वही धारणा कुछ नए रूप में आई है। आचार्य शुक्ल ने पारम्परिक रसवाद को लोकमंगलवाद से मिला दिया है।
- अहंकार से युक्त व्यक्ति सम्पूर्ण सृष्टि से किस प्रकार एकाकार होता है यह विचार भारतीय वेदांत दर्शन के कुछ सूत्र वाक्यों जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वम् खलु इदं ब्रह्म' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' में स्पष्ट किया गया है। यही विचार नव्यवेदांत दार्शनिकों जैसे विवेकानन्द और गांधी ने स्वीकारा है।
- प्रसाद ने कामायनी में समरसता की जो कल्पना की है, वह मनुष्य को इसी अद्वैतभूमि पर पहुँचाने वाली स्थिति है- "अपना ही अणु-अणु कण-कण, द्वयता ही तो विस्मृति है।"
- भाषा तत्समी सूक्ष्मताओं से युक्त होने के बावजूद न प्रसाद गुण से वंचित है और न ही प्रभाव क्षमता से।
- भाषा के प्रयोग में जो "गूढ़-गुंफित विचार परम्परा" गुंथी हुई दिखती है, वह शुक्ल जी की वैज्ञानिक शैली का प्रमाण है जिसमें एक-एक शब्द का सटीक चयन तथा शब्दों का पूर्णतः निश्चित क्रम दिखाई पड़ता है।

25. संसार से तटस्थ रह कर शांति-सुखपूर्वक लोक-व्यवहार-संबंधी उपदेश देने वालों का उतना अधिक महत्त्व हिन्दू धर्म में नहीं है जितना संसार के भीतर घुस कर उसके व्यवहारों के बीच सात्विक विभूति की ज्योति जगाने वालों का है। हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म-सौंदर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गए हैं।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी निबंध-परंपरा के युग-प्रवर्तक आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध संकलन 'चिंतामणि' में संकलित निबंध 'श्रद्धा-भक्ति' से ली गई हैं। 'श्रद्धा-भक्ति' आचार्य शुक्ल के मनोविकारपरक निबंधों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है। श्रद्धा और प्रेम के अंतर को रेखांकित करने के क्रम में शुक्लजी ने अपने कर्मों द्वारा श्रद्धा के पात्र बन जाने वाले व्यक्तियों (कर्त्ता) के महत्त्व को बतलाते हुए उपर्युक्त बातें लिखी हैं।

व्याख्या: शुक्लजी लिखते हैं कि हिन्दू धर्म में जीवन से विरक्त होकर उपदेश देने वालों को उतना महत्त्व प्राप्त नहीं है जितना अपने कर्मों द्वारा सात्विकता का प्रसार करने वालों का। वे ही अवतार भी माने गए हैं।

नवजागरणकालीन अपेक्षाओं के अनुरूप आचार्य शुक्ल भारतीय संस्कृति और धर्म की समुचित व्याख्या करते हैं।

इन पंक्तियों की भाषा तत्समी है। ऐसी ही भाषा में सैद्धांतिक विवेचन किया जा सकता है। तत्समी होकर भी भाषा प्रवाहयुक्त एवं बोधगम्य बनी हुई है।

आचार्य शुक्ल अपने मतव्य की व्यंजक शब्दावली के निर्माण के लिए भी प्रसिद्ध हैं। कर्म-सौंदर्य ऐसा ही पद है।

26. कर्त्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार कर्त्ता ही की ओर आँख उठती है। कर्मों से कर्त्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उस पर मुग्ध होकर बहुत से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते हैं। कर्त्ता अपने सत्कर्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति केन्द्र हो जाता है।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी निबंध-परंपरा के युग-प्रवर्तक आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध संकलन 'चिंतामणि' में संकलित निबंध 'श्रद्धा-भक्ति' से ली गई हैं। 'श्रद्धा-भक्ति' आचार्य शुक्ल के मनोविकात्परक निबंधों का

सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है। श्रद्धा और प्रेम के अंतर को रेखांकित करने के क्रम में शुक्लजी ने अपने कर्मों द्वारा श्रद्धा के पात्र बन जाने वाले व्यक्तियों (कर्त्ता) के महत्त्व को बतलाते हुए उपर्युक्त बातें लिखी हैं।

व्याख्या: शुक्लजी लिखते हैं कि संपादित कर्म का सबसे बड़ा स्मारक कर्त्ता ही होता है। अपने जिन कर्मों के द्वारा समाज में कोई व्यक्ति श्रद्धा का पात्र हो जाता है, उन कर्मों की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार उसकी ओर ही आँख जाती है। अपने सत्कर्मों द्वारा कर्त्ता जब समाज में लोकप्रिय हो जाता है तो उस पर मुग्ध होकर बहुत से लोग उन कर्मों को करने के इच्छुक हो जाते हैं। अपने सत्कर्मों के द्वारा कर्त्ता बहुत व्यापक स्तर पर मनुष्य की अच्छी वृत्तियों के आकर्षण का शक्तिशाली धुरी बन जाता है।

इन पंक्तियों की भाषा तत्समी है। ऐसी ही भाषा में सैद्धांतिक विवेचन किया जा सकता है। तत्समी होकर भी भाषा प्रवाहयुक्त एवं बोध गम्य बनी हुई है।

पहला कथन 'सूत्र-भाषा' का सुंदर उदाहरण है।

वैज्ञानिक शैली का प्रयोग किया गया है। पहले कथन में एक सिद्धांत देकर आगे उसे पुष्ट किया गया है।

आचार्य शुक्ल अपने मंतव्य की व्यंजक शब्दावली के निर्माण के लिए भी प्रसिद्ध हैं। 'शक्ति-केन्द्र' ऐसा ही पद है।

27. जब आप याद करेंगे कि मुगल बादशाहों के ज़माने में इन कोल किरातों का आखेट होता था और जो पकड़े जाते थे, वे काबुल में बेच दिए जाते थे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शासन में लाखों की तादाद में उन्हें जरायम पेशा करार दिया गया, तब तुलसीदास की प्रगतिशीलता समझ में आएगी।

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक एवं निबंधकार डॉ. रामविलास शर्मा के निबंध- 'तुलसी-साहित्य के सामंत विरोधी मूल्य' से ली गई हैं।

व्याख्या: इन पंक्तियों में गोस्वामी तुलसीदास की सामंत-विरोधी चेतना एवं उनके महत्त्व की प्रतिष्ठा करते हुए रामविलास शर्मा कह रहे हैं कि तुलसीदास को रूढ़िवादी सिद्ध करने का प्रयत्न करने वाले विचारकों को उस समय के इतिहास को देखना चाहिए। मुगलकाल में निम्न जाति के लोगों एवं आदिवासियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। यहाँ तक कि उनकी खरीद-बिक्री होती थी। इसी तरह अंग्रेजों के जमाने में कोल-किरातों को लाखों की संख्या में जरायम पेशा करार दिया गया था। इन स्थितियों से तुलसीदास के विचारों की तुलना करने पर वे बहुत प्रगतिशील प्रतीत होते हैं।

सामान्यतः मार्क्सवादी आलोचकों ने तुलसीदास को सामंती मूल्यों का पोषक सिद्ध करने का प्रयास किया है। इन पंक्तियों में रामविलास शर्मा मार्क्सवादी विचारक होते हुए भी उसका अतिक्रमण करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

रामविलास शर्मा भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के गंभीर अध्येता रहे हैं, जिसे इन पंक्तियों में भी लक्षित किया जा सकता है। इन पंक्तियों की भाषा सरल तथा सुबोध है। लेकिन अपने प्रवाह एवं उचित शब्दों के चयन के कारण रचनात्मक बन पड़ी है।

28. सचमुच कुछ प्रश्नों की सफलता इसी बात में होती है कि हम उस प्रश्न तक पहुँच गये हैं। उस प्रश्न का उत्तर भी हो, इसकी अपेक्षा वहीं नहीं रहती। दूसरे शब्दों में, ऐसे प्रश्न का सही उत्तर यही होता है कि यह जिज्ञासु भाव लेकर हम जीवन की ओर लौट आये और उसे जिज्ञासुवत् हो जियें।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ आधुनिक हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य रचनाकार अज्ञेय के निबंध संवत्सर से उद्धृत हैं। 'संवत्सर' निबंध में अज्ञेय ने साहित्य के संदर्भ में अपने काल-संबंधी चिंतन को प्रस्तुत किया है। इन पंक्तियों में अज्ञेय चिंतन की सार्थकता की कसौटी की बात कर रहे हैं।

व्याख्या: अज्ञेय कह रहे हैं कि प्रत्येक प्रश्न का उत्तर खोज लेना ज़रूरी नहीं है, और यह संभव भी नहीं है। कुछ प्रश्नों की सार्थकता उन प्रश्नों को ज्ञात कर लेने में ही होती है। जिज्ञासा ही जीवन का सारतत्त्व है और जो गहन जिज्ञासा की उपलब्धि कर लेता है, वह जीवन के सही अर्थ को समझने की स्थिति में आ जाता है।

अज्ञेय आधुनिक काल के बड़े चिंतक रहे हैं। उनकी चिंतनशीलता को इन पंक्तियों में लक्षित किया जा सकता है।

शिल्प की दृष्टि से ये पंक्तियाँ अत्यंत कसी हुई हैं। भाषा-प्रवाह अत्यंत उत्कृष्ट है। शब्दावली सहज, किंतु रचनात्मकता का गुण लिए हुए है।

29. जब समस्त हिन्दू जाति की एक वैदिक सम्प्रदाय न रही तो वही मसल चरितार्थ हुई कि “एक नारि जब दो से फँसी जैसे सत्तर वैसे अस्सी”। हमारी एक हिन्दू जाति के असंख्य टुकड़े होते-होते यहाँ तक खण्ड हुए कि अब तक नये-नये धर्म और मत-प्रवचक होते ही जाते हैं।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ भारतेन्दुयुगीन हिन्दी निबंधकार बालकृष्ण भट्ट के निबंध ‘साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है’ से उद्धृत की गई हैं। बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु युग के ऐसे निबंधकार हैं जिन्होंने हिन्दी निबंध को उसके प्रारंभिक युग में जहाँ एक ओर गहन चिंतन से संपृक्त किया, वहीं दूसरी ओर मानकता की ओर अग्रसर होती हिन्दी भाषा से।

व्याख्या: इन पंक्तियों में बालकृष्ण भट्ट हिन्दू जाति के कमजोर पड़ने के कारणों को रेखांकित करते हुए उसका एक प्रमुख कारण हिन्दू धर्म के भीतर अनेक मत-मतान्तरों एवं संप्रदायों के उदय को मानते हैं। वे लिखते हैं कि पहले एक ही मत वैदिक मत प्रचलित था, किन्तु धीरे-धीरे कई मत अस्तित्व में आते गए और हिन्दू जाति कई टुकड़ों में बंटती गई और यह क्रम लगातार जारी है।

इन पंक्तियों में भारतेन्दुयुगीन नवजागरण के अंतर्विरोधों को देखा जा सकता है। बालकृष्ण भट्ट बार-बार भारत को ‘आर्यों का देश’ एवं ‘हिन्दू जाति’ जैसे पदों से पहचानते हैं जो कि आगे चलकर हिन्दी नवजागरण की एक बड़ी सीमा बन जाती है।

‘हमारी एक हिन्दू जाति’ इस शब्दावली के प्रयोग से उनकी भारतीयता की अवधारणा कुछ संकीर्ण नज़र आती है।

इन पंक्तियों के माध्यम से यह देखा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग के अंतिम चरण में हिन्दी गद्य ब्रजभाषा के प्रभाव से लगभग मुक्त हो गई थी।

इन पंक्तियों में तत्सम शब्दों की अधिकता है, लेकिन साथ ही मसल जैसे उर्दू शब्द का भी प्रयोग हुआ है। लोकोक्ति के प्रयोग द्वारा भट्ट जी ने भाषा में जीवितता का संचार करते हुए कथ्य की प्रभावशाली अभिव्यक्ति की है।

30. भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है। अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुन्धरा का हृदय-भारत-किस मूर्ख को प्यारा नहीं है?

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत नाट्यांश प्रसाद द्वारा रचित नाटक ‘स्कंदगुप्त’ के चतुर्थ अंक से लिया गया है। इसमें प्रख्यातकीर्ति धातुसेन से पूछती है कि तुम्हें सिंहल राज्य की तुलना में भारत का भ्रमण करना क्यों अच्छा लगता है? इसके उत्तर में धातुसेन भारत की महानता का उद्घोष करता है।

व्याख्या: धातुसेन कहता है कि भारत पृथ्वी का हृदय है और सारी पृथ्वी के लोग इसके प्रति लगाव रखते हैं। यह प्राचीन काल से ही ज्ञान और मानवता की भूमि रही है और इन्हें पूरे विश्व में फैलाती रही है।

प्रसाद की इन पंक्तियों में राष्ट्रीय चेतना व्यंजित होती हुई दिखायी देती है। जिसे देश के निवासियों में हीनता की भावना भर गई हो वहाँ विदेशी पात्रों द्वारा प्रशंसा करवाना मनोवैज्ञानिक स्तर पर राष्ट्रीय स्वाभिमान को विकसित करने का एक श्रेष्ठ प्रयत्न है।

इन पंक्तियों में तत्समी भाषा का कुशल एवं प्रभावशाली प्रयोग हुआ है। यह भाषा नाटक के ऐतिहासिक कथावस्तु के अनुरूप है।

31. कल से मत आना मेरे साथ, नहीं तो ठंडे हो जाओगे... यह खेती का मजा है। और एक-एक भागवान ऐसे पड़े हैं जिनके पास जाड़ा जाए तो गर्मी से घबरा कर भागे! मोटे-मोटे गद्दे, लिहाफ-कम्मल। मजाल है कि जाड़े का गुजर हो जाय। तकदीर की खूबी है। मजुरी हम करें, मजा दूसरे लूटें।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ कथा-सम्राट प्रेमचंद की यथार्थवादी कहानी ‘पूस की रात’ से अवतरित हैं। ‘पूस की रात’ का मुख्य चरित्र हल्कू पशुओं से अपने खेत को बचाने के लिए जाड़े की ठिठुरती रात में अपने कुत्ते के साथ खेत की रखवाली करते हुए कुत्ते से ये बातें कहता है।

व्याख्या: हल्कू छोटे किसानों की विडम्बनापूर्ण स्थितियों को उपर्युक्त पंक्तियों में व्यंजित करता है।

ये पंक्तियाँ अभावग्रस्त निम्नवर्ग और सुविधा संपन्न उच्च वर्ग की जीवन-परिस्थितियों के बीच पसरी खाई को व्यंजित कर रही हैं। ये उच्च वर्गों के उस व्यवस्थागत षड्यंत्र को बेनकाब करती हैं जिसके माध्यम से वे निम्नवर्गों के श्रम के बल पर सुविधापरक जीवन जीते हैं।

प्रेमचंद वर्णन में व्यंग्य और विचार को अनुस्यूत करने की कला में माहिर हैं जो इन पंक्तियों में बखूबी दिखाई देती है। प्रेमचंद इसके लिए खुद आगे नहीं आते, बल्कि अपने पात्रों के माध्यम से यह काम संपन्न कराते हैं।

गोदान में भी यह सवाल उठाया गया है कि- 'क्या हमारा जन्म इसीलिए हुआ है कि हम अपना रक्त बहायें और दूसरों का घर भरें।

32. गाँव की भीड़ बड़ी हुलसकर देख रही है यह सब दृश्य। दा साहब के इस बड़प्पन के आगे सभी नतमस्तक हो आए हैं। बड़े-बूढ़ों को तो शबरी और निषाद की कथाएँ याद हो आईं। किसी-किसी को ईर्ष्या भी हो रही है हीरा से। बेटे तो जाने कितनों के मरते हैं—पर ऐसा मान?

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ मन्नू भंडारी द्वारा विरचित हिन्दी के महत्वपूर्ण राजनीतिक उपन्यास 'महाभोज' से उद्धृत हैं। ये बिसू की मौत के बाद दा साहब के सरोहा दौरे से जुड़ी हैं। दा साहब सरोहा घरेलू-उद्योग योजना के उद्घाटन के लिए आते हैं तो सबसे पहले बिसू के घर जाते हैं और बिसू के पिता हीरा को अपनी गाड़ी में बिठा लेते हैं इससे एक ओर दा साहब का बड़प्पन झलकता है वहीं दूसरी ओर लोगों में हीरा से ईर्ष्या होने लगती है।

व्याख्या: दा साहब की इस महानता को लक्षित कर गाँव के बुजुर्ग लोगों को राम-शबरी और निषाद की कथाएँ स्मृत हो आती हैं। कई ग्रामीण ईर्ष्या से भी वशीभूत हो उठते हैं। वे सोचते हैं कि बेटे तो जाने कितने लोगों के मरते हैं, पर ऐसा सम्मान भला किसको मिलता है?

रचनात्मक सौंदर्य:

- प्रस्तुत पंक्तियों के माध्यम से मन्नू भंडारी ने दा साहब की प्रदर्शन-वृत्ति के पीछे छिपे घाघपन और अवसरवादिता को व्यंजना के धरातल पर अनावृत्त किया है।
- मौत को भी राजनीतिक अवसर के रूप में तब्दील कर देने वाली भारतीय राजनीति पर ये पंक्तियाँ करारा व्यंग्य हैं।
- ग्रामीण लोगों की सहजता और भोलापन भी इन पंक्तियों में झलकता है जिसका फायदा अक्सर उठाया जाता है।
- भाषा सरल, सहज और प्रभावशाली है।

33. कौन कहता है, जीवन-संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं? इन्हीं हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय-पताकाएं हैं। उसकी छाती फूल उठी है, मुख पर तेज आ गया है।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचंद के महाकाव्यात्मक उपन्यास 'गोदान' से ली गई हैं। ये पंक्तियाँ उपन्यास के तब आती हैं जब होरी का छोटा भाई हीरा वापस आकर उससे अपने कर्मों हेतु माफी मांगता है और उसके प्रति कृतज्ञता जाहिर करता है।

व्याख्या: हीरा के कृतज्ञता प्रकट करने से होरी का मन प्रफुल्लित हो उठता है और उसका वह संतोष से भर उठता है। उसे अपने तमाम आर्थिक अभावों और समस्याओं के बावजूद अपना जीवन सार्थक महसूस होने लगता है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- प्रेमचंद ने इन पंक्तियों में साधारण भारतीय किसान के चरित्र के एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू की ओर संकेत किया है। भारतीय किसान संबंधों के प्रति अत्यंत संवेदनशील होता है तथा स्वयं से छोटे से सम्मान प्राप्ति की भी चाहत रखता है। इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से होरी अर्थ की जगह संबंध को वरीयता देता दिखाई देता है।
- इन पंक्तियों की भाषा अत्यंत सहज और संप्रेषणीय है।

- ये पंक्तियाँ तत्सम एवं तद्भव शब्दावली के रचनात्मक मेल का उत्तम निदर्शन है।
- इन पंक्तियों में अभिव्यक्त होरी की पुलक का विस्तार पाठक तक भी होता है, जो लेखक की रचनात्मक सफलता है।

34. भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वासों और इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े हैं, उठने का नाम ही नहीं लेते, वह सामर्थ्य ही नहीं रही। जो शक्ति, जो स्फूर्ति, मानव-धर्म को पूरा करने में लगनी चाहिये थी, सहयोग में, भाई-चारे में, वह पुरानी अदावतों का बदला लेने और बाप-दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है और यह जो ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इस पर तो मुझे हंसी आती है।

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत गद्यांश हिंदी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचंद के कालजयी उपन्यास 'गोदान' से अवतरित है। उपन्यास में गोविंदी ने जब प्रो. मेहता को यह बताया कि मालती उसके पति को उससे विमुख कर रही है अतः आप मालती से मेरे पति को बचाकर मेरे सौभाग्य की रक्षा करें तब मेहता बातचीत के क्रम में गोविंदी से उपर्युक्त बातें कहता है।

व्याख्या: प्रो. मेहता गोविंदी से कहते हैं कि वे तो वर्तमान पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखते हैं क्योंकि भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है और अतीत की बातों का बोझ अपने ऊपर लादे रहने से हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है। हमारी जीवनी शक्ति सीमित है, यदि हम उसे भूत और भविष्य में फैला देंगे तो वह इतनी क्षीण हो जायेगी कि हमारा वर्तमान भी बिगड़ जायेगा। हम लोग प्राचीन रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के नीचे ऐसे दबे रहते हैं कि उसमें से निकल पाने का हमें अवसर ही नहीं मिल पाता।

हमारी जो शक्ति मानव जाति के उत्थान में लगनी चाहिये, परस्पर सहयोग एवं भाईचारे की भावना में लगनी चाहिये, उसका दुरुपयोग करते हुए हम पुराने बैर एवं दुश्मनी का बदला लेते हैं या बाप-दादों के द्वारा लिये गए ऋण को चुकाने में अपनी शक्ति को लगा देते हैं। कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि लोग इस जन्म की चिन्ता छोड़कर परलोक सुधारने या मोक्ष पाने के प्रयास में लगे रहते हैं। ऐसे लोगों को देखकर मुझे हंसी आती है कि इनका वर्तमान तो बिगड़ ही रहा है, भविष्य भी चौपट हो जायेगा।

रचनात्मक सौंदर्य:

- मेहता जी के माध्यम से प्रेमचंद ने अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है।
- प्रेमचंद जी का विचार है कि व्यक्ति को वर्तमान पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये, भूत एवं भविष्य की चिन्ता नहीं करनी चाहिये।
- परलोक, ईश्वर, मोक्ष जैसे विषयों का उपहास किया गया है।
- वर्तमान पर दृष्टि केन्द्रित करने की बात जयशंकर प्रसाद जी ने भी अपने चन्द्रगुप्त नाटक में कही है।
- भाषा सरल सहज एवं महत्वपूर्ण है।
- कमर तोड़ देना मुहावरा है; अर्थ है— शक्ति क्षीण हो जाना।
- ध्यातव्य है कि उस युग में प्रसाद जैसे रचनाकार इतिहास और पौराणिक कथाओं पर आधारित रचनाएँ लिख रहे थे, जिसे प्रेमचंद ने 'गढ़े मुर्दे उखाड़ने' की संज्ञा दी थी।

35. धनिया यन्न की भांति उठी, आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली-महाराज! घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ भारतीय किसान जीवन की त्रासदी को अभिव्यक्ति देने वाले महाकाव्यात्मक उपन्यास गोदान की आखिरी पंक्तियाँ हैं। प्रेमचंद ने इन पंक्तियों के माध्यम से होरी की मृत्यु के बाद अपने रचना-लक्ष्य को पूर्णता प्रदान करते हुए भारतीय किसान के जीवन-संघर्ष को पूर्ण यथार्थता के साथ व्यंजित कर दिया है।

व्याख्या: होरी की मृत्यु के बाद गरीबी के चरम छोर पर खड़े होरी के परिवार से होरी की आत्मा की मुक्ति हेतु गाय का दान करने को कहा जाता है। ऐसे में होरी की विधवा धनिया जो कि होरी की मृत्यु की व्यथा के कारण सुन्न-सी हो चुकी है, यंत्र की भाँति उठती है और उसी दिन सुतली बेचकर कमाए गए कमाए गए बीस आने पैसे को पंडित दातादीन को देते हुए कहती है कि घर में न तो गाय है, न बछिया, न और पैसा, यही इनका गोदान है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- ये पंक्तियाँ प्रेमचंद के रचना-कौशल की प्रतिमान हैं। प्रेमचंद का लक्ष्य भारतीय किसान के पराभव की गाथा कहना था जो आर्थिक बदहाली के दौर से गुजर रहा था। ये पंक्तियाँ उस बदहाली को चरम स्तर पर व्यंजित कर देती हैं।
- सामंतवादी व्यवस्था में धर्म एवं कर्मकांड का दुष्चक्र जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त किस स्तर तक व्यक्ति का आर्थिक शोषण कर सकता है, ये पंक्तियाँ इसे भी अनावृत्त कर देती हैं।
- ये पंक्तियाँ उपन्यास के शीर्षक 'गोदान' की सार्थकता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। गोदान का कथानक गाय की आकांक्षा से शुरू होकर इन पंक्तियों के माध्यम से गो-दान की विडंबनापूर्ण मांग पर समाप्त होता है।
- ये पंक्तियाँ आज के भारत में भी प्रासंगिक हैं जहाँ आर्थिक बदहाली के कारण हर वर्ष हजारों किसान आत्महत्या कर रहे हैं।
- इन पंक्तियों में प्रेमचंद का भाषा-कौशल भी देखते ही बनता है। सामान्य शब्दावली को गहरी अर्थव्यंजकता से युक्त करने की कला में प्रेमचंद माहिर थे, जिसकी ये पंक्तियाँ प्रमाण हैं।

36. विद्यापति की चर्चा होते ही कविवर 'दिनकर' का एक प्रश्न बरबस सामने आकर खड़ा हो जाता था— "विद्यापति कवि के गान कहाँ?" बहुत दिनों बाद मन में उलझे हुए उस प्रश्न का जवाब दिया— ज़िंदगी-भर बेगारी खटनेवाले, अपढ़ गँवार और अधनग्नो में, कवि! तुम्हारे विद्यापति के गान हमारी टूटी झोपड़ियों में ज़िंदगी के मधुरस बरसा रहे हैं।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासकार फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास मैला आंचल से उद्धृत हैं। डॉ. प्रशांत ग्रामीण जीवन के संबंध में सोचता रहा है।

व्याख्या: डॉ. प्रशांत सोचता है कि कवि विद्यापति की चर्चा होते ही कवि दिनकर की पंक्तियाँ स्मृत हो उठती हैं कि 'विद्यापति कवि के गान कहाँ'? किंतु उसे इस प्रश्न का उत्तर मिल गया है कि विद्यापति के गान अशिक्षा और गरीबी से जूझ रहे अत्यंत सामान्य लोगों में उपस्थित हैं और उनके जीवन में उल्लास और मधुरस बरसा रहे हैं।

रचनात्मक-सौंदर्य:

- मैला आंचल में मिथिलांचल क्षेत्र का अंकन किया गया है। विद्यापति सर्वश्रेष्ठ मैथिल कवि रहे हैं।
- ये पंक्तियाँ सामान्य लोक में आर्थिक विपन्नता के बावजूद सांस्कृतिक समृद्धि को व्यंजित कर रही हैं।
- ये पंक्तियाँ आज भी प्रासंगिक हैं, विशेषकर इस अर्थ में कि शहरी जीवन में आर्थिक संपन्नता के साथ लोग सांस्कृतिक विपन्नता का शिकार होते जा रहे हैं।
- ये पंक्तियाँ अपने प्रवाह और गद्य में निहित काव्यात्मक लय के कारण रेणु के शिल्प-कौशल का भी निदर्शन करा रही हैं।

37. युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का तांडव-नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। ध्वंसमयी महामाया-प्रकृति का वह निरंतर संगीत है।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी नाट्य-परंपरा के श्रेष्ठ नाटककार जयशंकर प्रसाद के नाटक 'स्कंदगुप्त' से ली गई हैं। ये पंक्तियाँ जयमाला द्वारा कही गई हैं।

व्याख्या: इन पंक्तियों में जयमाला युद्ध को भी संगीत की तरह काम्य बताते हुए कर रही है कि युद्ध भी गान के समान है। वह शिव के संगीत की तरह है और प्रकृति का सनातन हिस्सा है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों के माध्यम से जयशंकर प्रसाद प्रकारान्तर से महात्मा गांधी के अहिंसा मार्ग की जगह आवश्यकता पड़ने पर हिंसा मार्ग को भी स्वीकृति प्रदान कर रहे हैं।
- इन पंक्तियों पर गांधीवादी नीतियों से मोहभंग तथा क्रांतिकारी आंदोलन का प्रभाव लक्षित होता है।
- भारतीय मिथकों का रचनात्मक उपयोग प्रसाद द्वारा किया गया है।
- भाषा नितान्त तत्समी और प्रवाहयुक्त है।
- इसमें प्रसाद की नाट्यभाषा की सामान्य प्रकृति के विपरीत नाटकीय तनाव है और यह नाट्य-संवाद के अनुकूल है।

38. कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट! यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अंत न हो, इसलिये सुख करना ही न चाहिये। मेरे जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा।

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश हिंदी नाट्येतिहास के शिखर-पुरुष जयशंकर प्रसाद द्वारा 1928 ई. में रचित प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक स्कंदगुप्त से लिया गया है।

प्रसंग: नाटक के अंतिम अंश से ली गई इन पंक्तियों में देवसेना स्कंदगुप्त से संवाद करते हुए विरह और वेदना को वास्तविक प्रेम की पहचान और उपलब्धि के रूप में प्रतिष्ठित कर रही है।

भावार्थ: देवसेना कह रही है कि प्रेम की वास्तविक पहचान की कसौटी विरह-वेदना है और प्रेमी से दूर रहते हुए उसके प्रति तीव्र अनुभूति से भरा हृदय ही अग्नि के समान प्रेम को प्रज्ज्वलित रखता है। वह स्कंदगुप्त से कहती है कि उन्हें भी प्रेम को इसी रूप में जीवित रखना चाहिये। वह सुखों को क्षणिक और नष्टवान बताते हुए उन्हें निरर्थक कहती है। वह स्कंदगुप्त से कहती है कि उनके प्रति उसका प्रेम शाश्वत है जो इस जन्म में भी है और अगले जन्मों में भी बना रहेगा।

विशेष:

- प्रस्तुत पंक्तियों में प्रसाद ने अपने आनंदवादी जीवन-दृष्टि को बहुत खूबसूरती से घुला दिया है जहाँ आनंद जीवन का लक्ष्य है और जो सुख और दुख दोनों से परे वह अवस्था है जहाँ जीवन के क्षणिक सुख और उत्तेजनाएँ शामिल हो जाती हैं और व्यक्ति आनंदमूलक शांति की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।
- इन पंक्तियों में अभिव्यक्त देवसेना का प्रेम छायावादी संस्कारों से निर्मित आध्यात्मिक और त्यागमूलक प्रेम है। इसी कारण वह मिलन के सुख को क्षणिक और निम्नस्तरीय मानकर अस्वीकार कर देती है और मानसिक वेदना में ही प्रेम और जीवन की सार्थकता मानती है। छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा भी कहती हैं- 'मिलन का मत नाम लो, मैं विरह में चिर हूँ'
- 'मेरे जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य!' संवाद संकेतित करता है कि प्रेम की अनुपलब्धि मात्र भोगमूलक भौतिकता के स्तर पर हुई है, आध्यात्मिक स्तर पर तो प्रेम उपलब्ध हुआ है।
- इन पंक्तियों की भाषिक प्रकृति तत्समी है
- प्रथम पंक्ति सूत्र भाषा के प्रयोग का उत्कृष्ट नमूना है।
- छोटे वाक्यों और विराम चिह्नों का उपयुक्त प्रयोग इन पंक्तियों को रंगमंचीय दृष्टि से प्राणवान बनाता है।
- वर्तमान जीवन-स्थितियों में ये पंक्तियाँ प्रासंगिक हैं जहाँ उपभोक्तावादी मानसिकता में प्रेम देह-केंद्रित और भौतिकतावादी होता जा रहा है और अपना वास्तविक मानवीय अर्थ खोता जा रहा है।

39. अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है। उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी- अधिकार लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं? उंह। जो कुछ हो, हम साम्राज्य के एक सैनिक हैं।

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश हिन्दी नाट्येतिहास के शिखर पुरुष जयशंकर प्रसाद द्वारा 1928 ई. में रचित प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक स्कंदगुप्त से लिया गया है।

प्रसंग: ये पंक्तियाँ 'स्कंदगुप्त' नाटक की आरंभिक पंक्तियाँ हैं जो स्कंदगुप्त द्वारा एकालाप के रूप में कही गई हैं।

भावार्थ: इन पंक्तियों में स्कंदगुप्त सत्ता में निहित अधिकार भाव को अत्यधिक मादक बता रहा है। मादकता व्यक्ति को विवेकहीन बना देती है। उसके अनुसार इसी कारण व्यक्ति अधिकार-सत्ता की वास्तविकता को नहीं पहचान पाता। स्कंदगुप्त के अनुसार वास्तव में अधिकार-सुख निरर्थक होता है। किंतु, इसी निरर्थक सुख के लिये व्यक्ति लगातार प्रयत्नशील रहता है क्योंकि अधिकार एवं सत्ता के उन्माद में वह स्वयं को नियामक और कर्ता समझने लगता है। फिर स्कंदगुप्त अपने इस भाव को विराम देते हुए कहता है कि लेकिन साम्राज्य के एक सैनिक के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वहण उसका दायित्व है।

विशेष:

- ये पंक्तियाँ प्रसाद की उस जीवन-दृष्टि की ओर संकेत कर रही हैं जो केवल भौतिक सुखों की उपलब्धि में मानवीय जीवन को सार्थक नहीं मानता बल्कि अपनी सार्थकता की खोज अपने मूल व्यक्तित्व की उपलब्धि और समरसता की स्थिति में करता है।
- इन पंक्तियों में नायक स्कंदगुप्त का अंतर्द्वन्द्व दिखाई देता है जिस पर स्वच्छंदतावादी नाट्यपरंपरा का प्रभाव लक्षित होता है।
- 'अधिकार-सुख को मादक और सारहीन मानना' स्कंदगुप्त पर ट्रेजिक हीरो का प्रभाव दिखलाता है।
- इन पंक्तियों में लक्षित किया जा सकता है कि राष्ट्रभक्ति स्कंदगुप्त दायित्व समझ कर निभाता है न कि वैयक्तिक प्रेरणा से।
- इन पंक्तियों की भाषा की मूल प्रकृति तत्समी है।
- प्रथम पंक्ति सूत्रभाषा के प्रयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है जो प्रसाद की भाषा की महत्वपूर्ण विशेषता है।
- ये पंक्तियाँ वर्तमान जीवन-संदर्भों में भी प्रासंगिक हैं जहाँ अधिकार और सत्ता की लिप्सा बढ़ती जा रही है। यह व्यक्ति में सुख का भ्रम तो पैदा करती है किंतु अपनी परिणति में अर्थहीन होती है।

40. राजनीति साहित्य नहीं है, उसमें एक-एक क्षण का महत्त्व है। कभी एक क्षण के लिये भी चूक जाएँ तो बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। राजनीतिक जीवन की धुरी में बने रहने के लिये व्यक्ति को बहुत जागरूक रहना पड़ता है।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत गद्यांश हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ स्वातंत्र्योत्तर नाटककार मोहन राकेश के प्रसिद्ध नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' से अवतरित है। ये पंक्तियाँ प्रियंगुमंजरी व मल्लिका के बीच हो रही बातचीत के दौरान प्रियंगुमंजरी द्वारा कही गई हैं।

व्याख्या: प्रियंगुमंजरी राजनीति के प्रति कालिदास की उदासीनता के संदर्भ में मल्लिका से कहती है कि राजनीति और साहित्य नितांत भिन्न चीजें हैं। राजनीति प्रत्येक क्षण सावधानी और जागरूकता की मांग करती है। इनमें जरा-सी भी चूक राजनीतिक पतन की ओर ले जा सकता है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के माध्यम से मोहन राकेश के रचना-लक्ष्य का एक महत्वपूर्ण अनुषंग सत्ता एवं राजनीति के संवेदनहीन चरित्र का भी उद्घाटन करना था जिसे सत्ता की प्रतिनिधि चरित्र प्रियंगुमंजरी द्वारा कहे गए इन पंक्तियों के माध्यम से वे सूक्ष्मता के साथ प्रकट कर रहे हैं।
- साहित्य संवेदना को प्रश्रय देता है। साहित्य से राजनीति की तुलना राजनीति के मानवीय संबंधों के प्रति यांत्रिक और अनुभूतिविहीन दृष्टिकोण को तीक्ष्ण रूप में उजागर कर देता है।
- ये पंक्तियाँ समकालीन समय में भी अत्यधिक प्रासंगिक हैं। राजनीति की जटिलताओं की मात्रा आज के समय में कहीं अधिक है।
- मोहन राकेश की रंगदृष्टि के अनुरूप ये पंक्तियाँ नाट्य-संवाद की दृष्टि से उपयुक्त हैं।
- राजनीति के संबंध में ऐसा ही दृष्टिकोण 'स्कंदगुप्त' नाटक में भी दिखाई देता है।

41. दिन के उजाले में वह गवाह थी, मुजरिम थी, हर चीज का उससे तकाजा था; अब इस अकेलेपन में कोई गिला नहीं, उलाहना नहीं, सब खींचतान खत्म हो गयी है; जो अपना है, वह बिलकुल अपना-सा हो गया है, जो पराया है, उसका दुःख नहीं, अपनाने की फुरसत नहीं.....

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ राजेन्द्र यादव द्वारा संपादित 'नई कहानी' आंदोलन की कहानियों के संग्रह 'एक दुनिया समानांतर' की कहानी 'परिन्दे' कहानी से ली गई हैं। परिन्दे निर्मल वर्मा द्वारा रचित प्रथम 'नई कहानी' मानी जाती है।

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियों में लतिका के अन्तर्मन में उत्पन्न भावों को व्यक्त किया गया है।

व्याख्या: मिस लतिका सोनती है कि दिन के उजाले में अर्थात् सामाजिक सांसारिक जीवन में हर चीज के प्रति उसका उत्तरदायित्व था, सही-गलत हर काम के लिये वह जिम्मेदार थी। परंतु इस अकेलेपन में सब उत्तरदायित्व, खींचतान खत्म हो गयी है। ना किसी से गिला है, न शिकवा, न शिकायत। यह उसके अकेलेपन की दुनिया है जहाँ पराये दुःखों से उसे न मतलब है न उन्हें अपनाने की फुरसत। उस अकेलेपन में उसका दायरा स्वयं तक ही सीमित हो गया है तथा जो उसका अपना है वह और करीब हो गया है।

मिस लतिका अकेलेपन में बाहरी दुनिया से कटकर स्वयं तक सीमित हो जाती है।

विशेष:

- प्रस्तुत पंक्तियाँ आजादी उपरांत मोहभंग, तीव्र शहरीकरण व आधुनिक भावबोध से उत्पन्न अकेलेपन को चित्रित करती हैं।
- पंक्तियों में अस्तित्ववादी दर्शन से उत्पन्न निरर्थकता बोध का भाव व्यक्त होता है।
- यहाँ अकेलापन केवल लतिका का नहीं, 'आधुनिक मानव' का अकेलापन है।
- भाषा भावसिक्त, अर्थगर्भित है।
- प्रतीकात्मक व काव्यात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है।
- "दिन के उजाले में गवाह थी"
- ये अकेलापन केवल 'लतिका का नहीं, बल्कि नई कहानियों में 'दीपा' (यही सच है), किशोर-बीना (टूटना), चन्दर (खोई हुई दिशाएँ) सभी का है।

42. एकाएक ही एक विचार मन में आता है, क्या जो-कुछ मैं सोच गयी, वह निराश्रम ही था, मात्र मेरी कल्पना, मेरा अनुमान! नहीं-नहीं! उस स्पर्श को मैं भ्रम कैसे मान लूँ, जिसने मेरे तन-मन को डुबो दिया था? जिसके द्वारा उसके हृदय की एक-एक परत मेरे सामने खुल गयी थी?

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ राजेन्द्र यादव द्वारा संपादित कहानी संग्रह में संकलित मन्नु भंडारी की कहानी 'यही सच है' से उद्धृत हैं।

प्रसंग: ये पंक्तियाँ कहानी के अंतिम पृष्ठों से हैं। इनमें दीपा सोचती है कि वह अपने पूर्व प्रेमी निशीथ को लेकर रोमानियत में खो रही थी, कहीं वह भ्रम तो नहीं है।

व्याख्या: दीपा के कलकत्ता में अपने पूर्व प्रेमी निशीथ से मिलने पर पुनः उसके प्रति प्रेम उपजता है। और वह सोचती है कि निशीथ में भी पुनः प्रेमभाव उत्पन्न हुआ है परंतु जब चार दिन बाद भी उसका कोई पत्र प्राप्त नहीं होता है तब उसके मन में विचार आता है कि कहीं उसने निशीथ को लेकर जो भाव सोचे हैं वे कहीं भ्रम तो नहीं। हो सकता है कि निशीथ ने मेरे बारे में ऐसा न सोचा हो। यह मेरी कल्पना या अनुमान भी तो हो सकता है। परंतु यह केवल भ्रम कैसे हो सकता है? क्योंकि निशीथ का प्रेममय स्पर्श जिसने उसके रोम रोम को, तनमन को प्रेम में डूबा दिया था, झूठ नहीं हो सकता है आत्मीयता के वे अनकहे क्षण, लेक पर बिताये मधुर क्षण भ्रम नहीं हो सकते हैं।

विशेष:

- प्रस्तुत पंक्तियों में लेखिका ने दीपा के माध्यम से प्रेम में पुरुष नारी के मनोविज्ञान के अंतर को स्पष्ट किया है। तीन वर्षों के अलगाव के बाद भी मात्र स्पर्श दीपा के जीवन में भावानात्मक तूफान ला देता है जबकि निशीय तटस्थ रहता है।
- प्रस्तुत पंक्तियों में 'डायरी शैली' में 'चेतना प्रवाह शैली' का सुंदर प्रयोग है।
- इसमें अल्पविरामों, विस्मयादिबोधक चिह्नों का सटीक प्रयोग दीपा के भावों की सटीक अनुभूति पाठक तक सम्प्रेषित करता है।
- भाषा में गहन अनुभूति के कारण लयात्मकता है।

43. कभी-कभी इन थापों की रेखाओं में मनुष्यता का पूरा भविष्य पढ़ा गया है, और कभी आग की बेतरतीब लहरें किसी अनहोने-से वस्तु-सत्य के विरान अँधेरे से दौड़-दौड़कर मेरे सीने से सटती चली आती है.... चौकड़ी भरते हिरनों की लम्बी कतारें और पीछे लोलुप, अन्धा दुष्यन्त....

उत्तर: संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ नई कहानी के प्रमुख स्तंभ राजेन्द्र यादव द्वारा संकलित एक दुनिया समानांतर की कहानी 'दूध और दवा' से ली गयी है। इस कहानी को मार्कण्डेय द्वारा लिखा गया है। यह नई कहानी की विशेषताओं जैसे कथानक का टूटना, घटना विहीन होना इत्यादि को बेहतरीन तरीके से धारण करती है।

प्रसंग: ये पंक्तियाँ कहानी का नायक जो कि एक लेखक (साहित्यकार) है, को चेतना प्रवाह से ली गयी है। जब लेखक की बेटी मुन्नी उसकी टेबल पर हथेली की छाप छोड़ जाती है तो लेखक सोचता है।

व्याख्या: यहाँ लेखक के जीवन में अन्तर्संघर्ष है। जहाँ वह महान लेखक बनना चाहता है परंतु पारिवारिक समस्याएँ व गरीबी उसको परेशान करती है जो लेखन कार्य से भी ध्यान हटाती है। वह सोचता है कि कभी-कभी हथेलियों की लकीरों से मनुष्यता सुंदर भविष्य पढ़ जाता है, परंतु मुन्नी की ये हथेलियों की थाप किसी अनहोने से सत्य की तरह उसको कचोटती हैं। क्योंकि वह आर्थिक मजबूरियों के कारण मुन्नी की दवा व दूध नहीं खरीद पा रहा था।

एक तरफ उसकी महान लेखक बनने की हिरण की छलांग सी आशाएँ लेकिन इस आशा, उम्मीद के पीछे गरीबी, लोलुप दुष्यन्त राजा की तरह पड़ी है जो उसकी हिरण आशाओं का शिकार करना चाहती है। अर्थात् कार्यों के कारण उसका ध्यान साहित्य कर्म से हट जाता है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- मार्कण्डेय ने आर्थिक उत्पाद कार्य, व साहित्य कर्म के विरोधामास को दिखाया है। यही समान संघर्ष 'आषाढ का एक दिन' में कालिदास में है।
- कहानी में कथानक टूटा है तथा अमूर्त कथानक है।
- ये पंक्तियाँ चेतना प्रवाहशैली का श्रेष्ठ उदाहरण है।
- गद्यावतरण की भाषा में गहन कठिन प्रतीकात्मकता है जहाँ साहित्यकार की आशाओं को हिरण की चौकड़ी त आर्थिक गरीबी को लोलुप राजा दुष्यन्त का प्रतीक दिया है।
- पंक्तियाँ विश्लेषणात्मक व अन्तर्मुखी अर्थों को धारण करती हैं।

44. बच्चों की शक्लें और शरारतें तो बहुत पहचानी सी लगती हैं पर गोलगप्पे खाती हुई उनकी मम्मी अजनबी है, क्योंकि उसकी आँखों में मासूमियत और गरिमा से भरा प्यार नहीं है। उसके शरीर में मातृत्व का सौंदर्य और दर्प भी नहीं है। उसमें सिर्फ एक खुमार है और एक बहुत बेमानी और पिटी हुई ललकार है; जिसे न तो नकारा जा सकता है और न स्वीकार किया जा सकता है।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ 'नई कहानी' आंदोलन के प्रस्तावक कहानीकार कमलेश्वर की कहानी 'खोई हुई दिखाएँ' से उद्धृत की गई हैं। यह कहानी शहरी मध्यवर्गीय जीवन में 'पहचान का संकट', 'अकेलापन', 'अजनबीपन', 'आत्मनिर्वासन', 'संवेदनहीनता' जैसी समस्याओं को उठाती है। (प्रस्तुत पंक्तियों में कहानी का मुख्य चरित्र चन्दर बाजार में गोलगप्पे खा रहे बच्चों और उनकी माँ को देखकर सोच रहा है।)

व्याख्या: चन्दर सोचता है कि बच्चों में अभी शहरी जीवन का प्रभाव नहीं आया है इसलिये उनकी शक्तें और शरारतें स्वाभाविक हैं, किंतु उनकी माँ पर इसका प्रभाव पड़ा है जिसके कारण मातृत्व के स्वाभाविक गुण उसके भीतर नहीं दिखाई दे रहे हैं। एक मातृहृदय की सहज संवेदनशीलता और व्यवहार उसके भीतर से गायब हो गया है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- इन पंक्तियों में लेखक ने शहरी जीवन में कम होती संवेदनाओं और भावनाओं को बहुत खूबसूरती से अनुस्यूत किया है।
- माँ और बच्चों के संबंधों में सर्वाधिक स्वाभाविकता और अनुभूतिशीलता होती है। इनके माध्यम से कहानीकार ने अपने मंतव्य को अधिक घनीभूत और तीक्ष्ण बनाकर प्रस्तुत करने में सफलता पाई है।
- ये पंक्तियाँ यह व्यंजित करती हैं कि शहरी जीवन में किस प्रकार व्यक्ति अपनी सहजता और स्वाभाविकता से वंचित होकर कृत्रिम और आरोपित जीवन की ओर अग्रसर होता जाता है।
- नई कहानी पर अस्तित्ववाद और मनोविश्लेषणवाद जैसी विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा था जो इन पंक्तियों में भी दिखाई देता है।
- भाषा और शब्दग्रहण के स्तर पर खुलापन इन पंक्तियों में देखा जा सकता है।
- अंतिम पंक्ति में प्रतीकात्मकता की उपस्थिति है जो नई कहानी की काव्यभाषा की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

45. मगर कोठरी में बैठने की देर थी कि आँखों से छल-छल आँसू बहने लगे। वह दुपट्टे से बार-बार उन्हें पोंछती, पर वे बार-बार उमड़ आते, जैसे बरसों का बाँध तोड़कर उमड़ आये हों। माँ ने बहुतेरा दिल को समझाया, हाथ जोड़े, भगवान का नाम लिया, बेटे के चिरायु होने की प्रार्थना की, बार-बार आँखें बन्द की, मगर आँसू बरसात के पानी की तरह जैसे थमने में ही न आते थे।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ प्रसिद्ध स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' से उद्धृत हैं। इस कहानी में ये पंक्तियाँ तब आती हैं जब मि. शामनाथ अपने चीफ को प्रोन्नति के लोभ से अपने घर दावत पर बुलाता है और इस अवसर पर अपनी अनपढ़, ग्रामीण, सौंदर्यहीन एवं वृद्ध माँ को अप्रस्तुतियोग्य मानकर एक कमरे में, बाहर न आने तथा खरटे भरने के कारण न सोने की भी हिदायत देकर, रहने के लिये कह देता है। इन पंक्तियों में पुत्र के इस व्यवहार से माँ के व्यथित हृदय की पीड़ा की अभिव्यक्ति हुई है।

व्याख्या: माँ की आँखें आँसुओं से भर आती हैं और बहुत प्रयत्न के बावजूद उमड़ आने से नहीं रूकती। वह अपने मन को समझाने का प्रयत्न करती है, भगवान का नाम लेती है, पुत्र के दीर्घ जीवन की कामना करती है, बार-बार आँखें बंद करती है, फिर भी अश्रु नहीं रूकते।

रचनात्मक सौंदर्य:

- ये पंक्तियाँ नई कहानी की प्रमुख विशेषता 'संबंधों के टूटन' को मार्मिकता के साथ व्यंजित कर रही हैं जिसकी व्याप्ति स्त्री-पुरुष संबंधों तक सीमित नहीं थी, अपितु अन्य संबंधों तक भी थी।
- भारतीय जीवन-परंपरा में माँ और पुत्र का संबंध सर्वाधिक आत्मीय संबंध माना जाता है किंतु इस संबंध की भी त्रासदी यह है कि समय के साथ पुत्र के बड़े होते ही इस संबंध की प्रकृति कई बार उपयोगितावादी हो जाती है और परिणामतः वह उपेक्षा एवं अपमान का शिकार होने लगती है। ऐसे में वे गहरी मानसिक पीड़ा एवं दुख से गुजरती है, जिसकी कुशल अभिव्यंजना उपर्युक्त पंक्तियों में भीष्म साहनी ने की है।
- नई कहानी में भीष्म साहनी समाजोन्मुखी धारा के कहानीकार माने जाते हैं जो हिन्दी कहानी में प्रेमचंदीय परंपरा को आगे ले जाते हैं। व्याख्येय पंक्तियाँ भी इसका प्रमाण हैं। प्रेमचंद की 'बूढ़ी काकी' कहानी की 'काकी' की उपेक्षा एवं उसकी पीड़ा इन पंक्तियों में चित्रित माँ की उपेक्षा एवं पीड़ा से साम्य रखती हैं।
- ये पंक्तियाँ भीष्म साहनी की भाषिक एवं रचनात्मक क्षमता का ठोस परिचय देती हैं। भावों एवं स्थितियों की सटीक व्यंजना हेतु शब्दों का सही चयन, भाषिक लय और प्रवाहमयता विराम चिह्नों का कुशल प्रयोग इन पंक्तियों में देखते ही बनता है।

46. जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो; वायुमंडल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो; आकाश को चूमकर, अवकाश की लहरों में झूमकर, उल्लास खींच लो।

उत्तर: संदर्भ व प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियाँ ललित निबंध को ऊँचाइयों तक ले जाने वाले अत्यंत प्रतिभावान एवं समर्थ निबंधकार हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध 'कुटज' से उद्धृत की गई हैं। यहाँ लेखक 'कुटज' के माध्यम से जीवन को जीने का प्राणमय तरीका बता रहा है। इसकी शैली आत्मव्यंजक, भावोन्मेषी, प्रेरणादायक, हृदयस्पर्शी एवं अत्यंत मार्गिक है।

व्याख्या: द्विवेदी जी कुटज के माध्यम से जीने की कला का प्रस्तुतीकरण करते हैं। कुटज पर्वतों पर उगता है और अकेला होकर भी फूलों से परिपूर्ण आच्छादित रहता है। लेखक कहता है कि कुटज जिन परिस्थितियों में जिस प्रकार फल फूल रहा है मानों वह मानव को संबोधित करके जीने का संदेश देता है कि जीना चाहते हो तो कठोर संघर्ष करना होगा। परिश्रम एवं संघर्ष के माध्यम से ही जीवन में प्राण उत्पन्न हो सकते हैं। हमें ऊँचाइयों से प्रेरणा लेकर जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाना चाहिए तथा इस जीवन संघर्ष में सदैव प्रसन्नचित्त, उत्साहित एवं प्रेरणा से अनुप्राणित रहना चाहिए। जिस प्रकार यह कुटज वृक्ष भी पर्वतों पर पत्थरों को चीर कर न केवल जीवित खड़ा है बल्कि फूलों सहित लहलहा रहा है।

रचनात्मक सौंदर्य:

- अत्यंत काव्यात्मक और आत्मपरक शैली में जीवन के संघर्ष जैसे कठोर संदेश को प्रस्तुत किया गया है।
- पंक्तियों में संबोधन शैली ने जीवंतता उत्पन्न कर दी है। यह द्विवेदी जी के लालित्य का चमत्कार है।
- पंक्तियों की लय और प्रवाहमयता देखते ही बनती है। अपनी लायात्मकता में ये काव्यात्मकता का संस्पर्श कर रही है।

[illegible]